

५७

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh



सरिता मुक्ता रिप्रिंट

सेट
2

5366

दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली-55

प्राचीन काल में बच्चों की शिक्षादीक्षा

रामसरूप 'रसिकेश'

प्राचीन भारत में हमारे पूर्वज बच्चों को कैसी शिक्षा देते थे?

संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1979 की बाल वर्ष के रूप में मनाने का निश्चय किया है ताकि दुनिया के सभी राष्ट्र अपने बच्चों के पालनपोषण एवं शिक्षादीक्षा पर विशेष ध्यान दें। इस संदर्भ में यह विचार करना उचित ही होगा कि प्राचीन भारत में हमारे पूर्वज बच्चों को कैसी शिक्षादीक्षा देते थे। उन के अनुभवों से हम भी कुछ लाभ उठा सकते हैं या नहीं।

मध्यकालीन संत कवि शरीर को मलमूत्र का आगार मान कर उस की उपेक्षा करते रहे। पर वैदिक ऋषियों ने उस के रक्षणपोषण पर उचित बल दिया। यथा—

(क) मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया।
(सूरदास)

(ख) कौल कामबस कृपन विमूढ़ा,
अति दरिद्र आजसी अति बूढ़ा।
सदा रोग-बस संतत क्रोधी,
विष्णु विमुख श्रुति-संत विरोधी।
तनु पोषक निंदक अघ खानी,
जीवत सब सम चौदह प्रानी।
(तुलसीदास)

(ग) वयं त्वेन्धानास्तत्त्वं पुष्टेम्।
(अथर्व वेद 19/55/3)

अर्थात् 'हे अग्निदेवता, तुम्हें प्रदीप्त करते हुए हम शरीर को पुष्ट करें'।

(घ) ओम अश्माभव परषुर्भव।
(मंत्र ब्राह्मण 1/5/18)

अर्थात् (हे बच्चे!) तू पत्थर बन, कुल्हाड़ा बन।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सूरदास काया को मिथ्या मान कर उसे उपेक्षणीय बताते थे तथा तुलसीदास तन को पुष्ट करने वाले जीवित को भी मृतकों में गिनते थे। जब कि वैदिक युग के विद्यार्थी हवन करते समय अग्नि देवता से तनुपोषण की प्रार्थनाएं करते थे। माता-पिता अपनी संतान को शिलासम सुदृढ़ तथा कुल्हाड़े के समान तीक्ष्ण बनाना चाहते थे।

यह तो सर्वथा सत्य ही है कि शरीर भोगविलास व सुखसुविधाओं से नहीं बल्कि संयम, सादगी आदि से स्वस्थ व पुष्ट बनता है। यही कारण है कि प्राचीन भारत में बच्चों को पांचसात वर्ष की आयु में ही गुरुकुलों में भेज देते थे। जहां उन्हें अपनी आयु के पचीस वर्ष तक गुरुजनों की देखरेख में तप व संयमपूर्वक रहना पड़ता था। वहां उन्हें जूता, छाता, प्रसाधन सामग्री आदि पदार्थों के प्रयोग की मनाही होती थी। पर अध्ययन काल की समाप्ति पर आचार्य स्वयं उपर्युक्त निषिद्ध पदार्थ उन्हें प्रदान करता था। भले ही अबोध बच्चों को उपर्युक्त तपोमय जीवन भला न लगता हो, तो भी गुरुजन व मातापिता जानते थे कि बच्चों की भलाई व भावी जीवन की सफलता इस तपस्या पर ही निर्भर है।

संतोष का विषय है कि सहस्रों वर्ष पूर्व भी हमारे पूर्वज बौद्धिक विकास का महत्त्व भलीभांति अनुभव करते थे। यही कारण है कि वेदों में सरस्वती देवी से सुंदर प्रार्थनाएं की गई हैं। यथा—

शिवा नः शंतभा भव सुमृडीका सरस्वति.
मा ते युयोम सद्दृशः. (अथर्व. 7/68/3)

अर्थात् “हे सरस्वती देवी, आप हमारे लिए कल्याणकारी, मंगलदायिनी व सुख-प्रदात्री बनें। हम आप का सदा दर्शन करते रहें।”

बौद्धिक विकास

सरस्वती के अतिरिक्त सविता देवता (उदीयमान सूर्य) भी बुद्धि की स्फूर्ति के प्रेरक माने जाते थे। इसी कारण सावित्री (गायत्री) मंत्र का विशेष महत्त्व था और उस का खूब जप किया जाता था। यहां पर सावित्रीगायत्री का तात्पर्य भी समझ लेना चाहिए। “तत्सवितुर्वरेण्यम्...” मंत्र को गायत्री इसलिए कहते हैं कि वह गायत्री छंद में है, जिस में आठआठ अक्षरों के तीन चरण अर्थात् 24 अक्षर होते हैं। उसे सावित्री इसलिए कहा जाता है कि उस में सविता देवता से बौद्धिक प्रेरणा की प्रार्थना की गई है। उपर्युक्त मंत्र को वेदों का सार माना जाता है और इस तथ्य से स्पष्ट है कि आर्य लोग बौद्धिक विकास को सर्वोत्तम गुण मानते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि पहले तो उपर्युक्त गायत्री मंत्र को ही तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए उपयुक्त माना जाता था, पर पीछे वर्णव्यवस्था में कट्टरता आ जाने पर क्षत्रियों व वैश्यों की गायत्रियां अलग कर दी गईं। मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि के अनुसार क्षत्रियों की गायत्री व उस का अर्थ निम्न-लिखित है :

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं
मर्त्यं च.
हिरण्ययेन सविता रथेना देवा याति

भुवनानि पश्यन्.

(ऋग्वेद 1/35/2)

अर्थात् “नालि आकाश में घूमती हुआ, मरणशीलों व अमरों को व्यवस्था में रखता हुआ, सब लोकों को देखता हुआ सविता देवता सुनहले रथ पर आता है।”

ध्यान देने की बात है कि इस मंत्र में बुद्धि के लिए प्रार्थना तो नहीं है, किंतु सुनहले रथ पर आरूढ़ सविता देव का उल्लेख है और क्षत्रिय लोग भी सुनहले रथों पर चढ़ कर ही सावधानीपूर्वक संग्रामों में सम्मिलित होते थे। कुछ ग्रंथों में इसी सूक्त (ऋग. 1/35) के नवें मंत्र को क्षत्रियों की गायत्री बताया गया है, उस में भी बुद्धि के लिए याचना नहीं है।

वैश्यों के लिए तीन गायत्री मंत्रों का उल्लेख मिलता है। पर स्थानाभाव के कारण हम एक ही देंगे :

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्च ते कविः

प्र असावीत् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे.

वि नाकभरव्यत् सविता वरेण्यः

अनु प्र यानं उषसः विराजति.

—(ऋग्वेद 5/81/2)

अर्थात् “मेधावी सविता देवता अनेक रूप धारण करता है। उस ने दोपायों व चौपायों के कल्याण की प्रेरणा की है। श्रेष्ठ सविता देवता ने स्वर्ग लोक को देखा है। ऊषा के बोझिल हो जाने पर वह खूब चमकता है।”

इस मंत्र में भी बुद्धि के लिए तो नहीं किंतु मनुष्यों व पशुपक्षियों की कल्याण-कामना स्पष्ट है और पशुपालन वैश्यों का कर्त्तव्य माना जाता था।

यह भी ध्यान रहे कि ब्राह्मणों की गायत्री 24 अक्षरों की, क्षत्रियों की 44 अक्षरों (त्रिष्टुप् छंद) की तथा वैश्यों की 48 अक्षरों (जगती छंद) की है।

शूद्रों को वेदपाठ का अधिकार नहीं था, इसलिए उन को गायत्री का उल्लेख नहीं मिलता। गत शताब्दी में स्वामी दयानंद सरस्वती ने मनुष्यमात्र को वेदज्ञान का अधिकारी घोषित कर प्रशंसनीय कार्य

किया किंतु स्वमत के समर्थन में जो अधूरा वेदमंत्र (यजुर्वेद 26/2) उन्होंने प्रस्तुत किया, उस का अर्थ दूसरा ही है, जिस की चर्चा हम सरिता के मई (प्रथम) 1978 के अंक में कर चुके हैं।

बच्चों का यथेष्ट बौद्धिक विकास तब तक असंभव है, जब तक गुरुशिष्य में पितापुत्र की सी आत्मीयता न हो। धर्मशास्त्र तो गुरु की पदवी जनकों से भी ऊँची मानते हैं। उदाहरणार्थ—

स हि विधाता तं जयति, तच्छ्रेष्ठं
जन्म, शरीरमेव माता-पितरौ जनयतः
(आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/15/13)

उपनयन

अर्थात् “वह गुरु ही उसे (बालक को) वास्तविक जन्म देता है। वही श्रेष्ठ जन्म है। मातापिता तो शरीर को ही जन्म देते हैं।”

इस ‘उपनयन’ (गुरु के समीप ले जाना) से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य का दूसरा जन्म माना जाता था और इसी कारण वे ‘द्विज’ अर्थात् दो जन्मों वाले कहे जाते थे। शूद्र का न उपनयन होता था, न उसे वेद पढ़ाए जाते थे। हां, यज्ञोपवीत के बिना अन्य विषयों व कलाओं का ज्ञान वह प्राप्त कर सकता था। वौधायन धर्म सूत्र (1/9/16) में वैश्य से शूद्रों में उत्पन्न रथकार को यज्ञोपवीत का अधिकार दिया गया है।

जैसे गायत्री मंत्र अलगअलग कर दिए गए थे, वैसे ही विभिन्न वर्णों में अन्य विषयों में भी भेदभाव कर दिया गया। उदाहरणार्थ ब्राह्मण का उपनयन बसंत में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में, वैश्य का शरद में और रथकार का वर्षा ऋतु में किया जाता था। कभीकभी सभी का ही बसंत में ही कर दिया जाता था। (वौधायन गृह्यसूत्र 2/5/8/9)। ब्राह्मण की मेखला (पेट्टी) मुंज की, क्षत्रिय की धनुष की डोरी की तथा वैश्य की सन की बनाई जाती थी (वसिष्ठ धर्मसूत्र 11/47)।

ब्राह्मण विद्यार्थी शरीर के ऊपरी भाग पर काले मृग की, क्षत्रिय धब्बेदार हिरन की और वैश्य बेल या बकर की खाल ओढ़ा करते थे। नीचे के वस्त्र सन, कपास आदि के होते थे और वर्णानुसार उन के रंग भी भिन्नभिन्न होते थे (गौतम धर्मसूत्र 1/18-23)। ब्राह्मण का दंड बिल्व व ढाक का, क्षत्रिय का पीपल का और वैश्य का पीलू के पेड़ का होता था। ब्राह्मण का दंड सिर की चोटी तक, क्षत्रिय का माथे तक व वैश्य का नाक तक ऊँचा होता था। अलबत्ता, बालों के विषय में कोई बंधन न था—रंडमुंड, जटा व चोटी जो भी चाहते थे रख लेते।

संभवतया यह सब भेदभाव वर्णों की पहचान के लिए किया जाता था। जैसे आजकल कई बार पृथक्पृथक् विद्यालयों के पृथक्पृथक् परिधान (यूनिफॉर्म) नियत कर दिए जाते हैं।

विद्यार्थियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। वे भिक्षा मांग कर लाते थे और जो कुछ भी मिलता, गुरु चरणों में अर्पित कर देते थे। धनी व निर्धन साथसाथ पढ़ते थे और सभी को भिक्षा के लिए जाना पड़ता था। इस प्रकार उन के मन पर यह प्रभाव डाला जाता था कि बच्चों का पालनपोषण समाज द्वारा होता है और बड़े हो कर उन्हें भी समाजसेवा करनी होगी। कभीकभी कोई राजा या साहूकार अध्यापकों व विद्यार्थियों की आवश्यकताएँ पूर्ण कर देते थे। भिक्षा के लिए भले घर ही चुने जाते थे। निंदित व पतित लोगों के घरों से भिक्षा नहीं ली जाती थी। विद्यार्थियों को भिक्षा न देना पाप घोषित कर दिया गया था। गोपथ ब्राह्मण (2/5/7) तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र (1/1/3/26) का कथन है कि जो गृहस्थ, ब्रह्मचारी को भिक्षा न देते थे उन के यज्ञ, दान, पशु, अस्त्रादि नष्ट हो जाते थे।

यह जान कर किसे प्रसन्नता न होगी कि सहस्रों वर्ष पूर्व जब संसार के अनेक देश अंधकार में मग्न थे, भारत में चौबह

विद्यार्थों तथा अठारह कलाओं की विधिपूर्वक शिक्षा दी जाती थी, जिन का यहां तो नामोल्लेख मात्र ही संभव है।

(क) चौदह विद्याएं : चार वेद, छः ग्रंथ (व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष, शिक्षा (वर्णोच्चारण), कल्प (कर्मकांड), धर्मशास्त्र, मोमांसा, पुराण व तर्क।

(ख) अठारह शिल्प : गान, वादन, नृत्य, चित्रकला, गणित, लेखाजोखा, यंत्र-विद्या, मूर्तिकला, कृषिशिल्प, पशुपालन, व्यापार, चिकित्सा, विधि (कानून), प्रशासन, धनुर्विद्या, जादू, सर्पविद्या और रत्नों की खोज।

गुरुशिष्य स्नेह

परीक्षाओं में उत्तीर्ण व अनुत्तीर्ण होने का प्रश्न ही न था, क्योंकि आज के समान वार्षिक परीक्षाएं होती ही न थीं। जब तक विषय विशेष में विशेष दक्षता प्राप्त नहीं हो जाती थी, तब तक विद्यार्थी पढ़ते ही जाते थे। जिस की बुद्धि जितनी ही चलती थी वहीं तक वह पढ़ता था। अन्यथा घर की राह ले कर कामधंधे में लग जाता था।

तब छात्र ऊंचे दंड रखते हुए भी उड़्ड न थे। वे दंड तो जंगली जीवजंतुओं से आत्मरक्षा के लिए तथा भिक्षार्थु जाने पर भौंकने वाले कुत्तों को भगाने के लिए होते थे।

जैसे गुरुजन शिष्यों से संतानवत् स्नेह करते थे, वैसे ही शिष्यजन भी गुरुओं का आदरसम्मान करते थे। पर अपवाद तो प्रत्येक बात में पाए ही जाते हैं। जो विद्यार्थी प्यार व फटकार से भी आत्मसुधार न करते थे, उन्हें अनशन व्रत व कोई कड़ा परिश्रम करवाया जाता था।

इस पर भी जो न सुधरे उस की पीठ पर ही छड़ी से प्रहार किए जाते थे। मूसल उठाने की आवश्यकता न पड़ती थी। इस से उग्र दंड देने वाले अध्यापक को राजा चोर के समान दंड देता था। भूलना न

चाहिए कि अध्यापक राजकुमार को भी दंड दे सकता था। बौद्ध जातक में वर्णित है कि चारणसी के एक छोटे राजकुमार को एक अध्यापक ने पीट डाला था। पर, ऐसी नौदत्त कभीकभार ही आती थी, क्योंकि उपनयन के अवसर पर आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय को सस्नेह स्पर्श कर कहता था—“बृहस्पति देवता ने ही तुम्हें मेरा शिष्य बनाया है। तुम अपने चित्त को मेरे चित्त के अनुकूल बनाते हुए मेरी वाणी को ध्यानपूर्वक सेवन करो।” (पारस्कर गृह्य सूत्र 2/2/16)

विद्यार्थी को ‘अंतेवासी’ (समीप रहने वाला) इसी कारण कहते थे कि वह सदा आचार्य के समीप रहता था और आचार्य के आचार पर निरंतर कड़ी निगाह रखता था। विद्यार्थी भी अपने आचार्य व उस के परिवार का उचित आदरसम्मान करना अपना कर्तव्य समझता था। वह गुरु से पहले जागता तथा बाद में सोता था। गुरु के स्नानार्थ जल तथा यज्ञार्थ समिधाएं लाना भी उस का कर्तव्य था। उस का आसन व बिछौना गुरु से नीचे होता था और वह गुरु के पीछेपीछे ही चलता था। सत्य भाषण, विनम्रता तथा संयम का उसे विशेष ध्यान रखना पड़ता था। उसे सम्यक समझा दिया जाता था कि—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिः ऋणैर्वद्धो जायते (बौधायन धर्मसूत्र 2/6/41)

अर्थात् ऋषिऋण, पितृऋण तथा देवऋण उतारना प्रत्येक द्विज का प्रधान कर्तव्य है। गुरुसेवा तथा विद्याप्राप्ति से ऋषिऋण, जनकों की सेवा से पितृऋण तथा यज्ञादि से ही देवऋण उतारा जा सकता है।

अपने शिष्यों में इन गुणों का संचार गुरुजन अपने आचरण द्वारा करते थे। प्रश्न उपनिषद में भारद्वाज ऋषि का कथन है : “कोशल देश के राजकुमार ने मुझ से सोलह कला वाले पुरुषों के विषय में प्रश्न किया। मैं ने अपना अज्ञान प्रकट करते हुए कहा कि यदि जानता तो अवश्य

बता देता, क्योंकि निथ्याभाषी तो समूल
सूख जाता है—*अनन्त काल के लिए*

संभवतया आप पूछेंगे द्विजबालकों का
वृत्त तो विदित हुआ, बालिकाओं और शूद्रों
पर कितना ध्यान दिया जाता था. अथर्व
वेद में कहा गया है :

ब्रह्मचर्यपूर्वक कन्या युवानं विन्दते
पतिम् (अथर्व 11/3/18)

गुणों का संचार

अर्थात् कन्या ब्रह्मचर्यपूर्वक युवा पति
पाती हैं. यदि कन्याएं विद्याविहीन रहतीं
तो अनेक वेदमंत्रों की रचना कैसे करतीं?
पर, प्राकृतिक नियमों से शीघ्र युवती होने
के कारण कदाचित वे विद्याध्ययन के
लिए बालकों जितना समय न दे पाती
थीं. संभवतया यही कारण है कि साहित्य-
सर्जन में स्त्रियां उतना सहयोग न दे सकीं,
जितना पुरुषों ने दिया. खेद है कि शूद्रों के
प्रति हमारे पूर्वजों का दृष्टिकोण संकुचित
ही रहा. संभवतया स्वार्थवश ही उन्होंने
शूद्रों को ज्ञानहीन रखने में अपना हित
समझा. इस विषय में मनुस्मृति (4/80,-
10/126) हमारे मत का समर्थन करती
है. इन श्लोकों में शूद्रों को ज्ञान, व्रत,
संस्कार आदि का अपात्र बताया गया है.

उपर्युक्त दिवरण पढ़ कर संभव है
कि आज हम उक्त सभी बातों से सहमत
न हो सकें और कुछ एक को जी भर
निंदा भी करने लगे. पर, हमें यह न भूलना
चाहिए कि विभिन्न धर्मग्रंथ विभिन्न
आचार्यों द्वारा विभिन्न प्रदेशों व समयों में
लिखे गए थे.

जैसे समयसमय पर आवश्यकतानुसार
उन में सुधार किए गए, वैसे ही परिस्थिति-
वश हमें भी उन में परिवर्तन करने में
संकोच न करना चाहिए. हर्ष की बात है
कि अनेक परिवर्तन हो भी रहे हैं.

सब मिला कर मानना ही पड़ेगा कि
प्राचीन शिक्षापद्धति की नई बातें प्रशंनीय
थीं. यह उसी शिक्षा का सुप्रभाव था कि
भारतवासी ऐसे सत्यप्रिय, अतिथिसेवी,
परोपकारी व संयमी बन गए कि समय-
समय पर भारत में आने वाले मेगास्थनीज,
ह्वेनसांग आदि अनेक यात्रियों ने उन के
गुणों व चरित्र की मुक्तकंठ से प्रशंसा की.
बया ही अच्छा हो कि प्राचीन व नवीन
शिक्षा पद्धतियों के सम्मिश्रण से हम ऐसा
वातावरण बना सकें, जिस से हमारे
विद्यार्थियों में विद्याप्रेम, संयम, अनुशासन-
प्रियता आदि गुणों का अधिकाधिक संचार
हो.

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी हो या किसी समाज की भर्त्सना करनी हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए, मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी यानी धन की बुराई की है, पर किसी धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो। क्यों? भगवान खुश होंगे। तो क्या धन कमाने वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता है तो घृणायोग्य बन जाता है।” पर क्या बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए। बिना पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है? आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को रोजगार में लगाने के लिए कम से कम 10,000 रुपए की पूँजी चाहिए। बिना पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह सकता है। रोजगार बिना पूँजी के नहीं हो सकता। बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती। मानसिक व शारीरिक सुख बिना पूँजी नहीं मिल सकता।

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती। धन बिना मेहनत किए नहीं आता। और आसदनी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी नहीं बन सकता। व्यक्ति ही पूँजी बनाता है, वह ऊपर से नहीं टपकती। सरकार (यानी राजनीतिबाज) उसे जन्त व सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना नहीं सकती।

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है। जब तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में रोजगार बढ़ेगा, न बेकारी कम होगी और न ही समृद्धि आएगी।

जिस देश में करोड़ों लोगों को भरेपेट भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और पूँजीपतियों को गालियां दे कर राजनीतिबाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन का पेट नहीं भर सकते। उन का पेट तो तभी भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने और उद्योगधंधे होंगे। और वे तब होंगे जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी। याद रखिए, पूँजी और गरीबी का आपस में बंद है। पर राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजीपति का बंद बना दिया है।

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए। पूँजी व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में लीजिए। दूसरों को रोजगार दीजिए। यदि व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग सर्टिफिकेट खरीद कर। वैसे समाजवाद यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध नहीं बन सकता। इस से केवल राजनीतिबाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है।●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए।

वेदों में विज्ञान

सुरेंद्रकुमार शर्मा 'अज्ञात'

दावा करने वालों ने कभी वैदिक मंत्रों को पढ़ कर
समझने की कोशिश भी की है?

वेदों पर हिंदुओं की गहरी ग्रंथ श्रद्धा है। इसी ग्रंथ श्रद्धा के कारण इन्हें ईश्वररचित और सारे ज्ञान के असीम भंडार कह दिया जाता है। पिछली दोएक शताब्दियों से, जब से पश्चिम ने विज्ञान के क्षेत्र में अमूल्य अविष्कार कर के संसार का नक्शा ही बदलना शुरू कर दिया तो भारत में एक अजीब किस्म की प्रतिक्रिया शुरू हुई।

दुनिया के बाकी हिस्सों में कहीं विज्ञान का विरोध हुआ तो कहीं उस का समर्थन, कहीं प्रतिस्पर्धा शुरू हुई तो कहीं उत्तरोत्तर जिज्ञासा, पर भारत में विचित्र प्रतिक्रिया हुई। ग्रंथ श्रद्धालु हर वैज्ञानिक अविष्कार को पुराने शास्त्रों से सिद्ध करने लगे और अपने विस्मित मन को तसल्ली देते हुए कहने लगे कि, "यह तो हमारे पूर्वजों को पहले से ही ज्ञात था।"

हिंदू हीन भावना का शिकार

विज्ञान की उन्नति के प्रकाश में विदेशी और पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित और अंगरेजी पढ़ेलेखे खुद हिंदू ही हिंदू धर्म में प्रचलित मूर्खतापूर्ण और अज्ञान-मूलक विश्वासों और रिवाजों की हंसी उड़ाने लगे। इस से आम हिंदू हीनभावना का शिकार हुआ। इस से बच निकलने का एक ही रास्ता था कि हिंदुओं में किसी प्रकार आत्मविश्वास पैदा किया जाए।

इस के लिए हिंदू धर्मगुरुओं और अंगरेजी पढ़ेलेखे लोगों ने, जो धर्म के मामले में आम हिंदू की तरह ही रुढ़िवादी थे, हर वाहि्यात और वृथा हिंदू रिवाज व विश्वास को 'वैज्ञानिक' व्याख्या देने की कोशिश की ताकि उन से लोग चिपटे भी रहें और उन में आत्मविश्वास भी पैदा हो जाए। यह सब ऊपर से आरोपित विज्ञान था, न कि असलियत।

चोटी की विद्युत चुंबकीय कौशल बताया जाने लगा और गंगा में नहाने के समर्थन में कहा जाने लगा कि अमृत यूरोपीय विद्वान ने सिद्ध किया है कि इस के पानी में ऐसे पदार्थ हैं जिन से रोग के कीटाणु एकदम मर जाते हैं। पूर्णिमा के दिन रखे जाने वाले सत्यनारायण के व्रत के बारे में कहा जाने लगा कि यह सूर्य और चंद्र की गुस्साकर्षण शक्ति का मुकाबला करने के लिए है और दीवाली के दिन बेमतलब दीए जलाने के विषय में कहा जाने लगा कि यह प्रकाश इसलिए किया जाता है कि उस शाम को धरती से निकलने वाली विषैली गैसों को जलाया जा सके।

इसी प्रक्रिया में स्वामी दयानंद ने वेदों के मंत्रों के अपने ही ढंग से अर्थ कर के वेदों से सारा विज्ञान निकालने का प्रयास किया। इस के बाद लोगों के एक बहुत बड़े भाग ने यह विश्वास व्यक्त करना शुरू कर दिया कि हमारे वेदों में सारा

विज्ञान है। इसे ज्यादा प्रभावजनक बनाने के लिए उन्होंने यहां तक कहा, और यह बात कई विद्वानों की पुस्तकों में भी मिलती है कि पश्चिम का सारा विज्ञान वेदों से निकला है। जर्मनी वाले हमारे वेद ले गए थे, उन्होंने से उन्होंने विज्ञान सीखा।

विज्ञान विरुद्ध बातें

इस से न केवल विज्ञान के प्रति उत्तरोत्तर जिज्ञासा बढ़ने में बाधा पड़ी, बल्कि लोगों में मिथ्या आत्मसंतोष भी पैदा हुआ और परिणामस्वरूप वे भविष्य की ओर देखने की अपेक्षा अतीतमुखापेक्षी बन गए।

लेकिन इस संदर्भ में जो कुछ एक प्रश्न पैदा होते हैं, उन का उत्तर स्वामी दयानंद के पहले से ले कर आज तक किसी ने नहीं दिया।

सब से पहला प्रश्न तो यह उठता है कि वेदों में वास्तव में ही विज्ञान था तो हजारों सालों से उन्हें पढ़ने, कंठस्थ करने और उन पर उपदेश देने वाले हिंदुओं ने कोई भी आविष्कार विदेशों से पहले क्यों न किया?

दूसरे, यदि वेदों में विज्ञान था तो प्राचीन काल के बड़ेबड़े वेदज्ञ विद्वानों में से किसी ने भी इस का उल्लेख क्यों नहीं किया? वेदों के जो प्राचीन भाष्य मिलते हैं, जिन में एकएक शब्द की व्याख्या की गई है, उन में वेद मंत्रों के जो अर्थ किए गए हैं, उन से किसी वैज्ञानिक सत्य का परिचय क्यों नहीं मिलता?

क्या उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक सभी वेदज्ञ विद्वान मूर्ख थे जो उन्हें वेदों के मंत्रों के ठीक अर्थ न सूझ सके और वे उन से विज्ञान न निकाल सके? जब हजारों वर्षों से वेद पढ़ने वाले हिंदुओं को कोई विज्ञान वेदों में नहीं सूझ सका तो यहां से वेद ले जा कर पढ़ने वाले जर्मनों को विज्ञान कैसे मिल गया? क्या जर्मनों के वेद पढ़ने से संसार भर के वैज्ञानिकों

पर उस का अद्भुत प्रभाव पड़ गया जो उन्होंने नए नए वैज्ञानिक आविष्कार किए? इन प्रश्नों का सतीतपंजिका उत्तर आज तक न मिल पाने के कारण हर वह व्यक्ति जो वेदों को पढ़ सकता है, उन की ओर झुंझता है ताकि देख सके कि क्या वास्तव में उन में विज्ञान है या सिर्फ अर्थ बदल कर पोचापाची की गई है।

इसी उद्देश्य से किए गए अध्ययन के परिणामस्वरूप व्यक्ति इस निश्चय पर पहुंचता है कि वेदों में तो छोटीछोटी बातें भी विज्ञान विरुद्ध हैं। बड़ेबड़े जटिल आविष्कारों की तो उन से आशा ही क्या की जाए। उन के नाम तक की गंध वेदों में नहीं मिलती। क्या कोई बता सकता है कि वेद के किस शब्द का अर्थ टेलीफोन, टेलीविजन, राकेट, टैपरिकार्डर, ग्रामोफोन, फ्रिज, विजली का पंखा, सिलाई मशीन, रेलगाड़ी, रेडियो, प्रिंटिंग प्रेस, मोटरसाइकिल, स्कूटर, परमाणु बम, हाइड्रोजन बम और टेलीप्रिटर है?

वेदों में पृथ्वी खड़ी है

यह बात आज चौथी कक्षा का विद्यार्थी भी जानता है कि पृथ्वी घूमती है। उस की दो गतियां हैं : दैनिक गति और वार्षिक गति। लेकिन वेदों में पृथ्वी के बारे में लिखा है कि वह खड़ी है। यह बात एक जगह नहीं, कई जगह कही गई है। उदाहरण के लिए देखिए कुछ उद्धरण :

यः पृथिवीं व्यथमानामद्भुतं यः...

जना स इंद्रः. (ऋ. 2/12/2)

अर्थात् हे मनुष्यो, जिस ने कांपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, वह इंद्र है।

पृथ्वी च दृढा येन. (यजु. 32/6)

अर्थात् जिस देवता ने पृथ्वी को स्थिर किया।

विश्वरूपां ध्रुवां भूमि पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्.

(अथर्व. 12/1/11)

अर्थात् अनेक रूपों वाली विस्तृत और अचल भूमि की इंद्र रक्षा करता है।

अर्थात् हम सदा विस्तृत और अचल भूमि पर विचरण करें.

वेदों में पृथ्वी के लिए निश्चिन्ति शब्द का प्रयोग भी हुआ है. वेदों के कोश निघंटु (1/1) में निश्चिन्ति शब्द पृथ्वी के पर्याय-वाचियों में लिखा है. इस का अर्थ है: निर+श्चिन्ति (श्चिन्ती) गतिहीन. इसी लिए आज तक संस्कृत और हिंदी के शब्दकोशों में पृथ्वी का एक नाम 'अचला' (गतिहीन) है. ऐसे में वेदों से विज्ञान की क्या आशा की जा सकती है?

पृथ्वी को घूमती सिद्ध करने के लिए वेद के प्रायः दो मंत्र पेश किए जाते हैं. उन दोनों पर यहां विचार करना अप्रासंगिक न होगा. उस से स्पष्ट हो जाएगा कि असलियत क्या है और तोड़मरोड़ कितनी है.

पृथ्वी अन्नरस से पूर्ण करती है

पहला मंत्र यह है :
या गौर्वर्तनि पर्येति निष्कृतं
पयो दुहाना व्रतनीरवारतः,
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय देवेभ्यो

बाशद्वविषा विवस्वते.
(ऋ. 8, 2, 10, 1)

वेदों में विज्ञान निकालने वालों ने इस का अर्थ यह किया है:

पृथ्वी निरंतर अन्नरस आदि से प्राणियों को पूर्ण करती हुई तथा अपने नियम का पालन करती, ईश्वरीय महिमा का उपदेश करती, दानी, श्रेष्ठजन और विद्वानों को सुख देती हुई, अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है.

वरअसल यह मंत्र पृथ्वी विषयक है ही नहीं. मूल पाठ में एक वाक्य खंड है: 'पयो दुहाना' इस का अर्थ है: 'दूध दुहाती हुई' अर्थात् दूध देती हुई. एक दूसरा वाक्य खंड है: "वरुणाय बाशुष देवेभ्यो बाशद्वविषा" इस का अर्थ है: "वरुण और अन्य देवों

क्या पृथ्वी दूध देती है?

यहां विचारणीय यह है कि क्या पृथ्वी दूध देती है? क्या देवताओं के लिए आहुतियां (ये प्रायः घी, दूध, या मांस की होती हैं) पृथ्वी दे सकती है? पृथ्वी पर ये बातें चरितार्थ नहीं होतीं.

एक और बात यहां ध्यान देने योग्य है. इस अर्थ में लिखा है: "अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है." मूलपाठ में एक भी ऐसा शब्द नहीं, जिस का यह अर्थ बनता हो.

प्रस्तुत मंत्र में दूध देने और आहुतियों की सामग्री जुटाने वाली गाय है. अतः विद्वानों ने इस मंत्र का अर्थ ठीक तौर पर ऐसे किया है: 'जो गाय स्वयं पवित्र स्थान यज्ञ में आती है, वह दूध देते हुए यज्ञ कर्म को संपन्न करती है. मेरी इच्छा है कि वह गाय दाता वरुण और अन्यान्य देवों को होमीय द्रव्य (दूध व घी आदि) दे और मुझ देवसेवक की रक्षा करे.

(देखें: हिंदी ऋग्वेद, पृष्ठ 1313-14)

दूसरा मंत्र है:

आयं गोः पृश्निरक्रीदसदन

मातररपुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः.
(यजु. अ. 3, मं. 6)

वेदों में विज्ञान निकालने वालों ने इस का अर्थ इस प्रकार किया है:

यह पृथ्वी जल को प्राप्त हो कर अर्थात् जल सहित अंतरिक्ष में आक्रमण करती है अर्थात् अपनी धुरी पर घूमती है और सूर्य के भी चारों ओर घूमती है.

इस मंत्र के विषय में सब से पहले यह बताना जरूरी है कि इस अर्थ में 'आक्रमण' का अर्थ किया गया है: 'अपनी धुरी पर घूमती है' जब कि आक्रमण का अर्थ है 'हमला'. वैसे आक्रमण के अन्य भी कई अर्थ संस्कृत शब्दकोशों में मिलते हैं (देखें: आप्टे कृत स्टूडेंट्स प्रैक्टिकल संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृ. 75 तथा चतुर्वेदी

कृत संस्कृत शब्दार्थ कोस्तुभ, प. 172)
पर 'अपनी धुरी पर घूमती है' अर्थ नहीं मिलता। दूसरे, वेदमंत्र में वे शब्द नहीं मिलते जिन का अर्थ "सूर्य के चारों ओर घूमती है" किया गया है।

इन दोषों के कारण यह अर्थ सर्वथा त्याज्य एवं हेय है। इस मंत्र के सही अर्थ का पृथ्वी या सूर्य के घूमने व स्थिर होने से दूर का भी संबंध नहीं। इस मंत्र का देवता अग्नि है। अतः इस में अग्नि का वर्णन किया गया है : 'निश्चित में कहा है कि मंत्र रचियता ऋषि ने जिस देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए स्तुति की, वह उस मंत्र का देवता है—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुक्ते तद्देवतः स मंत्रो भवितः।' (7/1)

इस मंत्र का देवता अग्नि होने के कारण इस में अग्नि की स्तुति की गई है। ऊपर लिखे अर्थ में भूल से भी अग्नि का नाम नहीं आया। अतः वह अर्थ किसी प्रकार भी मान्य नहीं हो सकता। जब स्वयं वेदों में इस मंत्र को अग्नि विषयक कहा है, तब इस ऊटपटांग अर्थ को कोई सही कैसे माने?

एक पुराने भाष्यकार आचार्य उवट ने लिखा है : "यहां अग्नि की पर और अपर रूप से स्तुति की गई है।" इसी प्रकार एक दूसरे आचार्य महीधर ने लिखा है : "यहां अग्नि की पर और अपर रूप से स्तुति की गई है।"

उक्त दोनों वेद भाष्यकर्ताओं ने इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है :

"इस यज्ञसिद्धि के अर्थ यजमान के घर आनेजाने वाले श्वेतरा आदि बहु-प्रकार की ज्वालाओं से युक्त अग्नि ने सब ओर से आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के स्थानों में अतिक्रमण किया। पूर्व दिशा में पृथ्वी को प्राप्त किया और सूर्य रूप हो कर स्वर्ग में चले अग्नि ने स्वर्ग लोक को प्राप्त किया।"

(देखें : यजुर्वेद पर उवट और महीधर के भाष्य।)

इस में पृथ्वी के अपनी धुरी पर और सूर्य के चारों ओर घूमने का गंध तक नहीं। अतः इन दोनों बातों को सिद्ध करने के लिए इस मंत्र को प्रस्तुत करना सरासर गलत है।

वेदों का घूमता सूर्य

जिस तरह पृथ्वी को वेदों ने खड़ी बताया है, उसी प्रकार उन में सूर्य को रथ पर सवार हो कर चलने वाला कहा गया है, जब कि प्रारंभिक स्कूल का विद्यार्थी भी यह जानता है कि सूर्य वहीं खड़ा है, सिर्फ पृथ्वी घूमती है। सूर्य विषयक कुछ वेद मंत्र देखिए :

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः,

दृशे विश्वाय सूर्यम्. (ऋ. 1/50/1)

अर्थात् सूर्य प्रकाशमान है और सारे प्राणियों को जानता है। सूर्य के छोड़े उसे सारे संसार के दर्शन के लिए ऊपर ले जाते हैं।

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्यः.

(ऋ. 1/50/8)

अर्थात् दीप्तिमान और सर्वप्रकाशक सूर्य, हरित नाम के सात घोड़े रथ में तुरहें ले जाते हैं।

अयुक्त सप्त शुंभ्युवः सूरो रथस्य नप्यः.

ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः. (ऋ. 1/50/9)

अर्थात् सूर्य ने रथवाहिका सात घोड़ियों को रथ में लगाया। उन घोड़ियों के द्वारा सूर्य गमन करता है।

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः.

नमस्यंतो दिवं आ पृष्ठमस्युः परिद्यावा-पृथिरी यंति सद्यः. (ऋ. 1/115/3)

अर्थात् सूर्य के कल्याणकारी हरि नाम के बिचित्र घोड़े इस पथ से जाते हैं। वे सब के स्तुतिभाजन हैं। हम उन को नमस्कार करते हैं। वे आकाश के पृष्ठ देश में उपस्थित हुए हैं। वे घोड़े तुरंत ही आकाश और पृथ्वी के चारों ओर परिभ्रमण कर डालते हैं अर्थात् वे पृथ्वी के चारों ओर

जल्दी ही वेकिल लाने देते हैं।
तत्सूर्यस्य देवत्वं... यदेदयुक्तं हरितः
सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै.

(ऋ. 1/115/4)

अर्थात् जिस समय सूर्य अपने रथ से
हरित नामक घोड़ों को खोलता है, उस
समय सारे संसार में रात्रि अंधकार फैला
देती है।

आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः

क्षेत्रं यदस्योविया दीर्घयाथे,
रघुः श्येनः पतयदंधो अश्वा

युवा कविर्दीदयद्गोषु गच्छन्.

(ऋ. 5/45/9)

अर्थात् सात अश्वों का अधिपति सूर्य
हम लोगों के सम्मुख उपस्थित हो, क्योंकि
उसे एक कठिन रास्ते से बहुत दूर जाना
होगा. वह श्येन (बाज) पक्षी की तरह
शीघ्रगामी हो कर हमारे द्वारा दी गई
आहुति को लेने आता है.

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः

पूर्वस्य योनिं पितुर विवेश,
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा

वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ.

(ऋ. 5/47/3)

अर्थात् पानी बरसाने वाले, देवों को
आनंद देने वाले, दीप्तिमान और द्रुतगामी
सूर्य के रथ ने पूर्व दिशा में प्रवेश किया.
तत्पश्चात् स्वर्ग के मध्य में निहित विभिन्न
वर्ण और सर्वव्यापी सूर्य अंतरिक्ष के दोनों
भागों की ओर बढ़ गया और जगत की
रक्षा की.

दश गर्भं चरसे धापयन्ते. (ऋ. 3/47/4)

अर्थात् दसों दिशाएं निज गर्भजात
आदिस्थ (सूर्य) को दैनिक गति के लिए
प्रेरित करती हैं. (हिंदी ऋ., पृ. 608)
न ते अदेवः प्रबिबो नि

वासते यदेतशेभिः पतरैरथयंसि,
प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज

उदन्त्येन ज्योतिषा यासि सूर्य.

(ऋ. 10/37/3)

अर्थात् सूर्यदेव, जिस समय तुम वेग-
शाली घोड़े को रथ में जोत कर आकाश-

भागी से जाते हो, तब कोई भी जीव तुम्हारे
पास नहीं आने पाता. तुम्हारी प्राचीन
ज्योति दूसरी है जो तुम्हारे साथ रहती है.
जब तुम जाते हो, तब तुम्हारी ज्योति
भिन्न होती है.

इस तरह के बेशुमार स्थल अकेले
ऋग्वेद से ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं, अन्य
वेदों की तो बात ही छोड़िए. इन मंत्रों में
वेदों का वैज्ञानिक ज्ञान (?) निहित है.
वे कभी सूर्य के घोड़ों की बात करते हैं,
कभी रथ की. कभी यह कहते हैं कि सूर्य
के अस्त हो जाने पर सारे लोकों में (अर्थात्
सारी दुनिया में) रात्रि हो जाती है और
कभी यह कहते हैं कि सूर्य की पुरानी
रोशनी भिन्न किस्म की है तथा जब वह
शाम की अस्त होता है तब उस के पास
और रोशनी होती है. कभी उसे सर्वव्यापी
कहते हैं.

ये सारी बचकानी बातें इस बात की
सूचक हैं कि वेदों में सूर्य के विषय में जरा
भी वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है. उन्होंने केवल
अनर्गल कल्पनाएं ही की हैं.

सूर्य की आकर्षण शक्ति?

ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी वेदों
में विज्ञान सिद्ध करने के दीवाने वेदों के
ऐसे मंत्र पेश करते हैं जिन में उन के मुता-
बिक न केवल सूर्य विषयक बल्कि उस की
आकर्षणशक्ति विषयक भी ज्ञान है जो
अद्यतन ज्ञान से पूरी तरह मेल खाता है.
इस उद्देश्य से यजुर्वेद का यह मंत्र दिया
जाता है :

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो

निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च,

हिरण्ययेन सविता रथेना

देवो याति भुवनानि पश्यन्.

(यजु. 33/43)

अर्थात् हे मनुष्यो, जो रमणीय स्वरूप
से, आकर्षण से परस्पर संबद्ध लोकमात्र के
साथ अपने भ्रमण की आवृत्ति करता हुआ
सब लोकों को दिखाता हुआ प्रकाशमान

सूर्यदेव जल व अग्नि की आकाशमय शक्ति को मरणधर्मा प्राणी मात्र को अपनेअपने प्रदेश में स्थापित करता हुआ 'उदयास्त समय में आताजाता है' सो ईश्वर का बनाया सूर्य लोक है. (स्वामी दयानंद कृत यजुर्वेद भाषाभाष्य, प्र. 33, मंत्र 43)

इस मंत्र का अर्थ करते हुए यद्यपि स्वामी दयानंद ने 'आ कृष्णेन' का अर्थ 'आकर्षण' किया तथापि शेष मंत्र का अर्थ करते हुए उन्होंने सूर्य के आनेजाने का स्पष्ट उल्लेख किया है, जो उन के वेदों की वैज्ञानिक सिद्ध करने का उपहास करता है.

दूसरे, इस अर्थ के विषय में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि स्वामी दयानंद ने प्रायः सब जगह सविता का अर्थ 'परमात्मा' किया है और वेदों में किसी भी देवता का अस्तित्व नहीं स्वीकारा है. लेकिन यहां सूर्य की आकर्षण शक्ति का वेदों में वर्णन दिखाने के उद्देश्य से उन्होंने यहां सविता का अर्थ न केवल सूर्य किया है बल्कि 'सूर्यदेव.'

ऐसे ही एक अन्य व्यक्ति ने इस मंत्र से आकर्षण शक्ति के साथसाथ सूर्य का अपनी धुरी के गिर्द घूमना सिद्ध किया है, क्योंकि स्वामी दयानंद कृत अर्थ से सूर्य का आनाजाना सिद्ध होता था जो ज्ञान से एकदम विपरीत था. उक्त महःशय ने अर्थ किया है :

'प्रकाश स्वरूप सूर्य आकर्षण के साथ लोकलोकान्तरों को अपनीअपनी कक्षा में स्थिर करता हुआ और सब में किरण द्वारा प्रवेश करता हुआ, पृथिव्यादि लोकों को प्रकाशित करता हुआ घूमता है.'

लेकिन यहाँ अर्थ परिवर्तन का प्रयास बिलकुल स्पष्ट दिखाई देता है. मूल में शब्द है—'याति.' इस का अर्थ होता है : 'जाता है.' इस का अर्थ 'धुरी पर घूमता है' कदापि नहीं बन सकता.

जहां तक इस मंत्र में 'आकर्षणशक्ति' की बात है उस का इस में संकेतमात्र भी नहीं है, क्योंकि 'कृष्ण' का अर्थ काला, अंधकार या रात्रि हो सकता है, आकर्षण नहीं.

इस मंत्र का सही अर्थ इस प्रकार होगा, "सविता देवता अर्थात् सूर्य स्वर्णमय रथ पर सवार हो कर अंधकारपूर्ण अंतरिक्ष के मार्ग में विचरण करने वाले देवताओं और प्राणियों को अपनेअपने कर्म में लगाते हुए संपूर्ण लोकों को देखता हुआ आता है." (देखें, आचार्य गोपालप्रसाद कौशिक कृत 'यजुर्वेद' का हिंदी अनुवाद, पृष्ठ 579. यजुर्वेद 33/43 पर उवट कृत संस्कृत भाष्य और महीधर कृत संस्कृत भाष्य.)

चंद्रमा

चंद्रमा अप्सवन्तरा सुपर्णा धावते दिवि.

चंद्रमा के विषय में वेदों में सिर्फ इतना वर्णन आता है कि वह जलमय अंतरिक्ष में दौड़ता है (ऋ. 1/105/1) यह सर्वविदित तथ्य है, क्योंकि हर एक को चांद आकाश में दौड़ता दिखाई देता है. इस में क्या वैज्ञानिकता है? लेकिन वेदों में विज्ञान सिद्ध करने के दीवानों को इस से क्या? वे निम्नलिखित मंत्र प्रस्तुत करते हैं : त्वं सोम पितृभिः सविदानोऽनु

द्यावापृथिवी आ ततंथ, तस्मै त इंदो हविषा विधेम

वयं स्याम पतयो रयीणाम.
(ऋ. 8/48/13)

और कहते हैं : इस मंत्र में यह बात है कि चंद्रलोक पृथ्वी के चारों ओर घूमता है. कभीकभी वह सूर्य और पृथ्वी के बीच में भी आ जाता है.

इस मंत्र का सही अर्थ जानने के लिए जरूरी है कि इस के आगेपीछे के मंत्रों के प्रतिपाद्य विषयों का पता किया जाए. इस सूक्त के सारे के सारे मंत्र सोम नामक पौधे के गुणों का वर्णन करते हैं. इस मंत्र में भी सोम का जिक्र है : 'हे सोम, तुम पितरों के साथ मिल कर द्यावापृथ्वी को विस्तृत करते हो. सोम, हवि के द्वारा हम तुम्हारी सेवा करेंगे. हम धनपति होंगे.'

(हिंदी ऋग्वेद, पृ. 1003)

यदि इस मंत्र में सोम का अर्थ चंद्रमा

भी करें तो भी इसमें इस बात की आति सूक्ष्म संकेत तक नहीं है कि चंद्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है व कभीकभी सूर्य और पृथ्वी के बीच में आ जाता है।

स्पष्ट है, यहां फिर वेदों का गला दबा कर उन से वह कुछ कहलवाने की कोशिश की गई है जो व वास्तव में नहीं कहते।

ग्रहण

वेदों में सूर्य और चंद्रग्रहण का जिक्र भी मिलता है। ग्रहण संबंधी बातें स्कूल जाने वाला हर बच्चा समझता है। उसे पता है कि जब चांद सूर्य और धरती के बीचोंबीच आता है तो सूर्यग्रहण लगता है और जब धरती सूर्य और चांद के मध्य आ जाती है तो चंद्रग्रहण होता है।

लेकिन वेदों में इन ग्रहणों के संबंध में जो जानकारी भरी हुई है, उसे पढ़ लेने के बाद कोई जरा सी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी वेदों में विज्ञान ढूँढ़ने की बात न करेगा।

सूर्य ग्रहण के बारे में ऋग्वेद का कहना है कि सूर्य को स्वर्भानु नामक असुर आ दबोचता है और अत्रि व अत्रिपुत्र उसे उस असुर से मुक्त कराते हैं, तब ग्रहण समाप्त होता है।

(क) यत्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः,
अत्रेव विद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधायुः.
(ऋ. 5/40/5)

अर्थात् हे सूर्य, जब तुम्हें स्वर्भानु नामक असुर ने अंधकार से आच्छन्न किया था तब सारा संसार ऐसे दिखने लगा था जैसे मार्ग को न जानने वाला पथिक घबरा जाता है।

(ख) यं वै सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः,
अत्रयस्तमन्वाविदन्नहान्ये अशक्नुवन्.
(ऋ. 5/40/9)

अर्थात् असुर स्वर्भानु ने जिस सूर्य को अंधकार से ढका था, उसे अत्रिगण व अत्रिपुत्र ने मुक्त किया। अन्य कोई उसे मुक्त करवाने को समर्थ न था।

इसी प्रकार अथर्ववेद (19/9/10) में चंद्र ग्रहण करने वाला राहु असुर बताया गया है।

वेदभक्त वेदों से वायुयान भी निकालने की कोशिशें करते रहे हैं। लेकिन जिस मंत्र से एक ने वायुयान निकाला है, उसी से दूसरे ने कोई और चीज। इस से ही उन के झूठ की कलाई अपनेआप खुल जाती है।

आर्य समाज के एक बहुत बड़े विद्वान हुए हैं—पंडित शिवशंकर काव्यतीर्थ। उन्होंने बड़ेबड़े पोथे रचे। उन की एक पुस्तक है—वैदिक विज्ञान। इस के पृ. 39 पर उन्होंने यजुर्वेद (17/59) का एक मंत्र अर्थ सहित लिखा है, जो अप्रलिखित है :

विमान एष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान्
रोदसीऽअन्तरिक्षम्,
स विश्वाची रभिचष्टे घृताचीरन्तर
पूर्वमपरं च केतुम्।

अर्थात् “आकाश के मध्य में यह विमान के समान विद्यमान है। द्युलोक पृथिवी तथा अंतरिक्ष, मानो तीनों लोकों में भली प्रकार परिपूर्ण होता है अर्थात् तीनों लोकों में इस की अहत गति है। संपूर्ण विश्व में गमन करने हारा घृत—जल अर्थात् मेघ के ऊपर भी चलने हारा वह विमान अधिष्ठित पुरुष इस लोक, उस परलोक इन दोनों के मध्य में विद्यमान प्रकाश सब तरह से देखता है।”

यह अर्थ लिखने के बाद वह टिप्पणी करते हुए लिखते हैं :

“यहां मंत्र में विमान शब्द स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है। इस की गति का भी वर्णन है तथा इस पर चढ़ने हारे की दशा का भी निरूपण है। अतः प्रतीत होता है कि ऋषिगण अपने समय में विमान विद्या भी अच्छी प्रकार जानते थे।”

इस पर कोई टीकाटिप्पणी करने से पहले हम यहां यह सूचना देना चाहते हैं कि उक्त पंडितजी के गुप्त स्वामी दयानंद ने, जो वेदों में विज्ञान निकालने वालों में शायद अग्रणी थे, इस मंत्र का जो अर्थ

किया है, वह इससे-विलकुल अलग है। इस मंत्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय आदित्य (सूर्य) हैं। स्वामी दयानंद ने इस का अर्थ करते हुए लिखा है :

“विद्यमान पुरुष जो (एषः) यह सूर्यमंडल (दिवः) प्रकाश के (मध्ये) बीच में (विमानः) विमान अर्थात् जो आकाशादि मार्गों में आश्चर्य रूप चलने हारा है, उस के समान और (रोदसी) प्रकाश भूमि और (अन्तरिक्षम्) आकाश को (आपप्रिवान्) अपने तेज से व्याप्त करता हुआ (आस्ते) स्थिर हो रहा है,” इत्यादि। (यजुर्वेद, दयानंद पृ. भाष्य, 589)।

न केवल स्वामी दयानंद ने बल्कि दूसरे विद्वानों ने भी इस मंत्र का अर्थ सूर्य-परक लगाया है। उदाहरणार्थ, आचार्य गोपालप्रसाद कौशिक कृत अर्थ देखिए :

‘संसार की रचना में समर्थ यह सूर्य स्वर्ग के बीच में स्थित है। यह अपने तेज से स्वर्ग, पृथ्वी और अंतरिक्ष तीनों लोकों को परिपूर्ण करता है,’ इत्यादि।

(यजुर्वेद, पृ. 327)

असंबद्ध व्याख्या

हां, स्वामी दयानंद ने वेदों से वायु-यान निकालने के लिए कुछ अन्य मंत्रों को पेश किया है। एक मंत्र है (ऋग्वेद 1/116/3) का। उस के ‘न कश्चिन्ममूबां’ शब्दों का अर्थ करते हुए उन्होंने ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका (पृ. 200) में लिखा है :

“(न कश्चिन्ममूबां) पदार्थों की प्राप्ति और उन की रक्षा सहित हो कर दुख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी हो कर आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं? अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्र गमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं, वे ही यानों की धारणा और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान कर देते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किए हुए नाव, विमान और रथ

मंडल भूमि-में चलने लगे। समुद्रियों का (ऊह्युः) जानाआना जिन पदार्थों से देश-देशांतर में सुख से होता है।”

दो शब्दों का इतना लंबा व्याख्यान कर के स्वामी दयानंद ने सामान्य पाठक को प्रभावित करने की कोशिश की है। यहां वेद के शब्दों की व्याख्या के नाम पर वह कुछ लिख दिया है जिस का व्याख्यात शब्दों से कोई संबंध नहीं। इन शब्दों का सीधा अर्थ यह है : “जैसे कोई मियमाण ध्वित त्यागता है।” इस की इतनी लंबी और विलकुल असंबद्ध व्याख्या इस बात की सूचक है कि यह निरी खींचातानी और क्लिष्ट कल्पना है।

ऐसे ही उन्होंने ऋग्वेद (1/116/4) के एक दूसरे मंत्र के “समुद्रस्य धन्वन्नाद्रस्य पारे अति व्रजदिभः” का अर्थ करते हुए लिखा है : “(समुद्र) सागर (धन्वन्), आकाश और भूमि के पार नौका, विमान और रथ कर के (व्रजदिभः) सुखपूर्वक पार जाने में असमर्थ होते हैं।” (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ. 201, 1892 ई. संस्करण)।

इस मंत्रार्थ में भी ‘धन्वन्’ शब्द का अर्थ ‘आकाश’ किया गया है जो निराधार है। वैदिक कोष (पृ. 214) में स्पष्ट लिखा है कि धन्वन् शब्द वेदों में ‘धनुष’ और ‘मरुस्थल’ के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि समुद्र के धन्वन् (मरुस्थल) का भी वेदों में उल्लेख है। यहां उसी समुद्री मरुस्थल की बात कही गई है। उपरिलिखित पंक्ति का अर्थ यह बनेगा।

“अर्ध सागर के मरुस्थल में लाए थे।”

लेकिन स्वामी दयानंद ने यहां ‘धन्वन्’ का अर्थ अपने तौर पर आकाश कर के, विमान शब्द अपनी ओर से फालतू जोड़ दिया।

क्या कोई बता सकता है कि उक्त पंक्ति के किस शब्द का अर्थ ‘विमान’ बनता है?

ऋग्वेद के हिंदी रूपांतरकार पं.

रामगोविंद शिरोचरु कृत अष्टांगसंहिता (पेदेवे) at Chhatrapati Sastri Maharaj Sanshodhan Mandal, Varanasi
 होता है जब वह यह कहते हैं कि ऋग्वेद में विमान, वायुयान व आकाशयान का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

(हिंदी ऋग्वेद, भूमिका, पृ. 56)

तार विद्या

वेदों के विज्ञान संबंधी विमर्श को समाप्त करने से पहले एक विषय की और चर्चा करना चाहूंगा। यह विषय है—तार विद्या। तार विद्या के नाम से स्वामी दयानंद ने बिजली, बिजली के तार और टेलीग्राम (तार) सभी को वेदों से सिद्ध करना चाहा है। उन्होंने अपनी पुस्तक ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका (पृ. 209-210) में ऋग्वेद (1/119/10) का एक मंत्र अर्थ सहित लिखा है, जो इस प्रकार है :

युदं पेदेवे पुरुवारमश्विना

स्पृधां श्वेतं तस्तारं दुवस्यथः,

शयैरभिद्यु पृतनानु दुष्टरं

चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्.

(पेदेवे) अर्थात् वह अत्यंत शीघ्र गमनागमन का हेतु है। (पुरुवारम्) अर्थात् इस तार विद्या से बहुत उत्तर व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं। (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं, उन के लिए यह तार विद्या अत्यंत हितकारी है। (श्वेतम्) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिए। (अभिद्युम और विद्युत प्रकाश से युक्त करना चाहिए। (पृतनानु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिस का दुःसह प्रयोग होता है, और उल्लंघन करना अशक्य है। (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के बारबार चलाने के योग्य होता है। (शयैः) अनेक प्रकार की कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए विद्युत की उत्पत्ति कर के उस का ताड़न करना चाहिए। (तस्तारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य (तार नामक) यंत्र है, उस को सिद्ध कर के प्रीति से सेवन करो।

सिद्धि के लिए तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों की विजय के लिए तार विद्या सिद्ध करनी चाहिए। (इन्द्रमिव) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य करता है, वैसे ही तार यंत्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है।

सही अर्थ क्या है?

इतना लंबा अर्थ पढ़ना सामान्य पाठक को अशुचिकर लग सकता है, लेकिन इसे पढ़ कर यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाएगी कि यह मंत्रार्थ कितनी खोचातानी से किया गया है।

‘पेदेवे’ शब्द का दो बार अर्थ इस में लिखा गया है, लेकिन दोनों अर्थों का आपस में कोई संबंध नहीं। ‘श्वेतम्’ का सीधा अर्थ होता है—सफेद, पर यहां अर्थ किया गया है—“वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिए।”

ऐसे ही ‘तस्तार’ शब्द में ‘तार’ शब्द देख कर इस का अर्थ कर दिया—तार नामक यंत्र, जब कि संस्कृत में तार शब्द का अर्थ धातु का बनाया सूत्र या धागा है, टेलीग्राम न कभी था और न अब है।

स्वामी दयानंद ने वैसे तो वेदों के मंत्रों के शब्दों के उन अर्थों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार किया है जो परंपरा से प्रसिद्ध थे, लेकिन यहां वेदों से तार विद्या सिद्ध करने के स्वार्थवश उन्होंने शब्दों के वे अर्थ स्वीकार किए जो न उन के द्वारा स्वीकारे योगिक अर्थ हैं और न परंपरागत। तार शब्द का अर्थ धातु का सूत्र या टेलीग्राम तो एक देशी अर्थ है। इस तरह की कला-बाजियों से वेदों से विज्ञान नहीं निकल सकता।

इस टीकाटिप्पणी के बावजूद जिज्ञासा बनी रहती है कि इस मंत्र का सही अर्थ क्या है? इस का सही अर्थ है :

“अश्विद्वय, तुम ने पेदु राजा को बहु-

नीचे सूचियां दी जाती हैं। तीनों उन विद्वानों की पुस्तिकाओं से संगृहीत की गई हैं जो वेदों से विज्ञान निकालने के प्रबल उद्देश्य से प्रेरित हैं।

(यह सूची स्वामी दयानंद सरस्वती के यजुर्वेद भाष्य से संगृहीत है।)

इंद्र : अग्न्याय को दूर करने वाला सभापति, समस्त अविद्या को नाश करने वाला, अध्यापक, बिजली रूप अग्नि, सेनापति, अन्नदाता, सज्जन पुरुष, उत्तम ऐश्वर्य, परमात्मा।

वरुण : सब से उत्तम, उदान वायु के तुल्य विद्वान, शत्रुओं को मारने वाला विद्वान सेनापति।

सोम : शांतिगुण वाला पदार्थ व मनुष्य, संपूर्ण ऐश्वर्य को देने वाला, ऐश्वर्ययुक्त विद्वान।

मित्र : प्राण, प्राण के तुल्य प्रिय मित्र, हितकारी।

रुद्र : प्राण आदि वायु, दुष्टों को हलाने वाला वीर, युद्ध की सेना के अधिकारी विद्वान पुरुष, रोगनाशक बंध।

अश्विनी : प्राण अपान के तुल्य कार्य। साधक स्त्री पुरुष।

विष्णु : व्यापक ईश्वर, संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाला परमात्मा।

सूर्य : विद्या रूप ऐश्वर्य के उत्पादक, चराचर के अंतर्ग्रामी ईश्वर।

बृहस्पति : बड़े लोगों के रक्षक, सूर्य, राज्य का रक्षक राजपुरुष।

पूषा : पुष्टिकारक सूर्य, पृथ्वी।

अग्नि : प्रसिद्ध सूर्य रूप अग्नि, योगीजन, विद्वान, बिजली, विद्वान सभापति। मरुत : वायु।

वैश्वानर : सब मनुष्यों का हितकारी।

मित्रावरुण : प्राण और उदान के तुल्य राज प्रजाननों का।

(यह सूची श्री रैने द्वारा रचित 'वैदिक गाइड' पुस्तक से संगृहीत है।)

पूषा : छोटा दिमाग।

इंद्र : बड़ा दिमाग।

मरुत : दिमाग की गतिविधियां—तंतु।
पजन्य : बाह्य संस्कारों से प्रतिबिंबित प्रेरणा।

उषा : हृद् और श्वासप्रश्वास का केंद्र।

विष्णु : रीढ़ के अंदर की सुषुम्ना।

इंद्र : ज्ञान तंतुओं का एक समूह।

रुद्र : ज्ञान तंतुओं का एक समूह।

सूर्य : मुख्य प्रेरक ज्ञान तंतु।

अग्नि : अनुभव करने वाला मुख्य

ज्ञान तंतु समूह।

अदिति : मध्यवर्ती प्रेरक।

बृहस्पति : वाणी का केंद्र।

(यह सूची 'साइंस इन द वेदाज,' ले. हंसराज अग्रवाल से संगृहीत है।)

वरुण : हार्डडोजन।

अप्सरा : बिजली।

वसिष्ठ : पानी।

मित्र : आक्सीजन।

उर्वशी : बिजली।

मित्रावरुण : बिजली के दो भेद।

अश्विनी : बिजली के दो भेद।

इंद्र : बिजली के दो भेद।

वैश्वानर : वायुमंडल में विद्यमान आग।

अदिति : मूल प्रकृति।

नारद : बादल।

ऐरावत : बादल।

गंधर्व : बादल।

ब्रह्म : धनुध्रुव।

मित्र : धनुध्रुव।

अग्नि : धनुध्रुव।

क्षत्र : ऋषाध्रुव।

वरुण : ऋषाध्रुव।

सोम : ऋषाध्रुव।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वेदों में विज्ञान की वे बातें तक नहीं हैं जो चौथी कक्षा का विद्यार्थी भी जानता है, और जो कुछ आधुनिक आविष्कार वेदों में दर्शनी का प्रयास किया है।

उस में ईमानदारी की अपेक्षा आरोपित व्याख्याओं की प्रधानता है, जिन से सब समय के लिए सब लोगों को भ्रमसाया नहीं जा सकता।

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—
घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी
हो या किसी समाज की भर्त्सना करनी
हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए,
मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी
यानी धन की बुराई की है, पर किसी
धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा
नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर
प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-
जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां
भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या
करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो. क्यों?
भगवान खुश होंगे. तो क्या धन कमाने
वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज
होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले
को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले
उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों
एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या
अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन
तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता
है तो घृणायोग्य बन जाता है.” पर क्या
बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम
चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो
उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए. बिना
पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है?
आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को
रोजगार में लगाने के लिए कम से कम
10,000 रुपए की पूँजी चाहिए. बिना
पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह
सकता है. रोजगार बिना पूँजी के नहीं
हो सकता. बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती. मानसिक व शारीरिक सुख बिना
पूँजी नहीं मिल सकता.

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती.
धन बिना मेहनत किए नहीं आता. और
आपदनी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी
नहीं बन सकता. व्यक्ति ही पूँजी बनाता
है, वह ऊपर से नहीं टपकती. सरकार
(यानी राजनीतिबाज) उसे जबरन कर
सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना
नहीं सकती.

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है. जब
तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित
नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में
रोजगार बढ़ेगा, न बेकारी कम होगी और
न ही समृद्धि आएगी.

जिस देश में करोड़ों लोगों को भरणपेट
भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और
पूँजीपतियों को गलियां दे कर राजनीति-
बाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन
का पेट नहीं भर सकते. उन का पेट तो लम्बी
भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने
और उद्योगधंधे होंगे. और वे तब होंगे
जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी. याद रखिए,
पूँजी और गरीबी का आपस में बैर है. पर
राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजी-
पति का बैर बना दिया है.

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए. पूँजी
व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में
लगिए. दूसरों को रोजगार दीजिए. यदि
व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है
तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक
में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग
सर्टिफिकेट खरीद कर. वैसे समाजवाद
यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध
नहीं बन सकता. इस से केवल राजनीति-
बाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है.●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए.

राम कथा व सीता चरित्र

रामशरणसिंह

राम कथा अनैतिक और काल्पनिक होने पर भी इस के प्रभाव को झुठलाया नहीं जा सकता.

अकसर कुछ लोग पूछते हैं कि आज के पौराणिक और धार्मिक कथाओं के अनुसंधान से क्या लाभ है. ऐसे प्रश्न पूछने वाले दो वर्गों में बांटे जा सकते हैं. एक वर्ग में वे लोग आते हैं जो राम को ईश्वर का अवतार मानते हैं और उन के बारे में आलोचना करना घोर पाप समझते हैं. अगर आप उन की मान्यताओं के अनुकूल लिखेंगे तो वे आप को प्रशंसा के पात्र और स्वर्ग के अधिकारी मानेंगे तथा रामभक्ति के प्रचारक के रूप में आप का गुणगान करेंगे. अगर आप उन की मान्यताओं के प्रतिकूल सत्य के अनुसंधान के लिए कोई नई बात लिखेंगे तो वे लोग आप को नास्तिक और धर्म पर आक्षेप करने वाला कह कर आप के खिलाफ विरोध का झंडा खड़ा कर देंगे. उन का उद्देश्य यह होता है कि दूसरे लोग विरोध के कारण ऐसी आलोचना से कतराने लगें.

पौराणिक कथाएं 'आउट आफ डेट'

दूसरे वर्ग में प्रगतिशील विचारों के लोग आते हैं जो पौराणिक कथाओं की बात सुनना ही पसंद नहीं करते. पौराणिक कथाओं की बातें उन्हें 'आउट आफ डेट' लगती हैं और वे उन की व्याख्या को अंध-विश्वास फैलाने में सहायक मानते हैं. ये लोग यह भूल जाते हैं कि उन की उपेक्षा से जनता में फैला हुआ अंधविश्वास मिट नहीं

सकता. रामकथा कितनी ही अतिहासिक और काल्पनिक हो, जनता पर पड़े हुए उस के प्रभाव को झुठलाया नहीं जा सकता. इस प्रभाव की ओर ध्यान न देना ठीक नहीं होगा.

पुरोहित वर्ग धार्मिक अंधविश्वास से प्रभावित जनता से धन और आदर पाने के लिए सचाई की खोज करने वालों का हमेशा विरोध करता रहा है. इस में उस का स्वार्थ निहित है. पुरोहित लोग धार्मिक आवरण ओढ़ कर ही साधारण जनता का शोषण करते हैं और उस के परम हितचिंतक और उपास्य बने रहते हैं. इसलिए सत्य के खोजियों को उन के विरोध की चिंता छोड़ कर सामान्य जनता तथा मानवता की भलाई के लिए कार्य करना चाहिए.

प्रगतिशील विद्वानों द्वारा सत्य की खोज

सत्य को विरोध से दबाया नहीं जा सकता. सहज जिज्ञासा मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है. इसलिए सचेत लोगों के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वे सत्य खोजने की कोशिश करें. सत्य की खोज का भार प्रगतिशील विद्वानों के ऊपर आता है. इसलिए उन्हें इस ओर उपेक्षा नहीं बरतनी चाहिए. नहीं तो फिर सत्य तक कौन पहुंचेगा?

सामान्य जनता में पौराणिक और

है। पुरोहित वर्ग हर देश में उन कथाओं की नई नई व्याख्याएं कर के अपने स्वार्थ के लिए अंधविश्वास बनाए रखता है। इसे मिटाने के लिए प्रगतिशील बुद्धिवादी वर्ग को लगातार कोशिश करनी चाहिए। इस से सामान्य जनता को तर्कसंगत विचार मिलेंगे और उसकी बुद्धि का विकास होगा।

हिंदू समाज पर राम की कथा का गहरा प्रभाव है। बच्चे छोटी उमर से ही रामलीला देख कर प्रभावित होने लगते हैं। यह प्रभाव धार्मिक भावनाओं से युक्त रहता है। उस के लिए राम पूजनीय देवता के रूप में ही आते हैं। धार्मिक भावना से प्रभावित जनता युगों से रामकथा के पात्रों को पूजती आ रही है। अंधी श्रद्धा की थाली ले कर वह उन की आरती उतारती है। यद्यपि रामायण काल के सामाजिक जीवन की वरिष्ठा विद्वानों ने की है लेकिन जनता को उस से कोई मतलब नहीं। यही कारण है कि रामकथा के आदर्शों को अपने जीवन में उतारने के बजाए लोग उन्हें सतयुग की बातें कह कर उपेक्षित कर देते हैं।

भारत में रामराज्य हमेशा से आदर्श रहा है। आज भी देश में रामराज्य की व्यवस्था लाने की चर्चा चलती रहती है। लेकिन क्या आम जनता के लिए रामराज्य सुखद और वैभवशाली था? क्या आम जनता को न्याय और समानता के अश्वत्थर प्राप्त थे? क्या रामराज्य हमारे लिए अनुकरणीय है?

सारे अधिकार ब्राह्मणों के पास

वाल्मीकि रामायण में दी हुई घटनाओं को ध्यान में रखते हुए कोई ईमानदार आदमी, जो समानता और न्याय चाहता है, रामराज्य को पसंद नहीं करेगा। रामराज्य में सारे अधिकार ब्राह्मणों और क्षत्रियों को प्राप्त थे। इन लोगों को टेक्स नहीं देने पड़ते थे। उत्पादन और श्रम का

रामराज्य में आम जनता की हालत बहुत खराब थी। लेकिन इस में जितना दांव राम का था, उस से अधिक जनता का था। आम जनता अंधविश्वास और अज्ञान में थी। पढ़नेलिखने के लिए समान अधिकार नहीं थे। इस तरह के समाज में बौद्धिक चेतना भला कैसे हो सकती थी! स्वयं राम भी विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहित वर्ग का विरोध नहीं कर सकते थे। इसलिए जनता को समान अश्वत्थर और न्याय देने में राम सफल नहीं हुए।

वास्तव में राम निमित्तमात्र राजा थे। सत्ता तो ब्राह्मणों और पुरोहितों के हाथों में थी। राम उसी तरह का राजा थे जैसे यूरोप के मध्यकालीन राजा रोम के पोप की कठपुतली हुआ करते थे। आज इस प्रजातान्त्रिक युग में रामराज्य की बात करने में भी उसी स्वार्थी वर्ग का हाथ है जो शासन को अपनी कठपुतली बनाना चाहता है। आम जनता के लिए तो वर्तमान लोकतंत्र ही ठीक है। राम, सीता तथा भरत आदि का आदर्श हमारे लिए लाभदायक हो सकता है लेकिन आज की परिस्थिति में रामराज्य लाभकर नहीं है।

शंभूक की हत्या

यदि जनता की बौद्धिक चेतना न जगाई जाए, कर्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान न कराया जाए और अंधविश्वास का कोहरा न मिटाया जाए तो अच्छे से अच्छे राजा या राज्यप्रणाली का कोई लाभ नहीं। क्या हम ने रामकथा से कभी यह शिक्षा ग्रहण की है? हमें यह तो सीख हो लेना चाहिए कि जनजागरण के अभाव में कुछ स्वार्थी लोग शासन पर हवीं हो कर मनमाना शोषण करते हैं और राम जैसा राजा भी उन का विरोध नहीं कर पाता।

बंधन से मुक्त थे। उस समय उन्होंने मान-वीर्य प्रेम से प्रेरित हो कर निषादराज गुह को भाई भरत की तरह गले लगाया था। भीलनी शबरी के घर जा कर उस की लालसा पूरी की थी। दूसरी अनार्य जातियों के साथ मित्रता कर के उन्हें समानता का अधिकार दिया था। लेकिन वही राम जब राजगद्दी पर बैठे तो बेकसूर शूद्र शंबक को उन्होंने मार डाला! सीता को वनवास दे दिया! क्यों?

राम जैसा उदार और पवित्र भावनाओं का व्यक्ति इतना क्रूर नहीं हो सकता। लेकिन अपने राज्यकाल में राम को कुछ ऐसे काम अवश्य करने पड़े जिन से उन के नाम पर लांछन लग गया। यह सब उस पुरोहितवादी व्यवस्था के कारण हुआ था। इसी के कारण रामराज्य हर युग के लिए आदर्श नहीं बन सका।

राम के वनवास के समय और राज्यकाल के व्यवहार के अंतर का कारण कुछ लोग यह बताते हैं कि वनवास के समय राम मुसीबत में थे, इसलिए तब तो राम को दूसरी जातियों से सहायता लेनी ही थी। राज्य मिल जाने पर सत्ता के मद में आ कर राम ने ऐसे काम किए। लेकिन शंबक को मारने का फैसला तो नारद और दूसरे पुरोहितों ने ही दिया था। सीता को निकालने के लिए भी राम मजबूर थे, वरना वह सीता को निर्दोष और पवित्र मानते थे।

रुद्धिप्रस्त को उबारना बस के बाहर

राजा नृग लाखों गौएं प्रति दिन दान करते थे। भूल से एक ब्राह्मण की गाय दान कर देने पर ब्राह्मण ने उन्हें शाप दिया था। राजा निमि को वशिष्ठ ने शाप दिया था। स्वयं राम को दुर्वासा ऋषि ने तुरंत न मिलने पर शाप की धमकी दी थी। इसलिए राम समझते थे कि रुद्धिप्रस्त जनता को उबारना उन के बस की बात नहीं है।

तब राज्य से अलग कर दिया जाता। इन घटनाओं से भी हम ने कोई शिक्षा नहीं ली।

सीता के जीवन से हिंदू समाज ने यह आदर्श बड़ी गहराई से ग्रहण किया कि नारी को सीता के समान पतिव्रता और सच्ची होना चाहिए। इस के बल पर हिंदू समाज का प्रत्येक सदस्य युगों से अपनी स्त्रियों से इन गुणों की अपेक्षा करता रहा। इस आदर्श के लिए हजारों स्त्रियों ने अपनी कंचन काया को आग में झोंक दिया लेकिन राम के चरित्र से इसी गहराई के साथ एक पत्नीव्रत की शिक्षा हम ने नहीं ली। बल्कि इस के विपरीत हम पचाससाठ साल के होने पर भी अबोध बालिकाओं के साथ व्याहृ रचा कर उस बेजबान गाय के बधिक बनते रहते हैं। वाल्मीकि रामायण में नारी से पतिव्रता और पतिपरायणा होने की अपेक्षा कदम-कदम पर की गई है। लेकिन पुरुष से एक पत्नीव्रत पालन की अपेक्षा नहीं की गई है। उस युग में भयंकर रूप से बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी और सीतों के संघर्ष से भयंकर घटनाओं के होने का उल्लेख मिलता है।

रावण के स्पर्श से सीता को अग्निपरीक्षा

सीता की अग्निपरीक्षा का आदर्श तो हर हिंदू को याद रहा लेकिन उसी रामायण में वर्णित इंद्र से अहल्या के व्यभिचार करने और गौतम द्वारा फिर से अहल्या को अंगीकार किए जाने की घटना याद नहीं रही। सीता के आदर्श के नाम पर नारी की परम पावनता का ही विचार हर युग में प्रबल बना रहा। रावण के स्पर्श और उस के यहां बंदी होने के कारण राम ने सीता की अग्निपरीक्षा भी ली और बाद में घर से भी निकाल दिया। इस घटना को हिंदू समाज ने गांठ बांध लिया। उस का हर सदस्य नारी के साथ वही व्यवहार करने का अपने को उत्तराधिकारी समझता आ रहा है। लेकिन इस के प्रतिभूल

रामकथा से यह शिक्षा हम ने नहीं ली कि सीता के जन्म की विभिन्न कथाओं से राम ने उस सीता से विवाह किया जिस के ऐसा आभास मिलता है कि सीता का कुल का कोई पता नहीं था. उसे ऊंचे से संबंध शायद अनार्य रक्त से था. इस से ऊंचा सम्मान प्रदान किया. जीवनभर एक भी हम ने कोई शिक्षा नहीं ली. ●

पत्नीव्रत का पालन करते रहे.

सरिता और हिंदू समाज

- 2 -

‘सरिता और हिंदू समाज’ के अंतर्गत प्रकाशित एक टिप्पणी में आप के निम्नांकित विचारों से मैं सहमत नहीं हूँ :

“हमारा विश्वास है कि यह कमजोरी हिंदू समाज की चरित्रहीनता व अनैतिकता का परिणाम है और इस का सीधा संबंध हमारे धर्मशास्त्रों, सिद्धांतों, आदर्शों और आकांक्षाओं से है।”

किसी भी धर्म के धर्मग्रंथ व दर्शनशास्त्र किसी भी समाज को चरित्रहीनता एवं अनैतिकता की ओर अग्रसर नहीं करते, विशेषतया हिंदू धर्मग्रंथ व दर्शनशास्त्र विश्व में नैतिकता कायम रखने का दावा करते हैं। मेरे विचार में अनैतिकता व चरित्रहीनता का सीधा संबंध व्यक्तिगत है, इस का संबंध हिंदू समाज के धर्मग्रंथों से नहीं है।

—रमाकांत दुबे, कटनी

आप का यह कहना कि “किसी भी धर्म के धर्मग्रंथ व दर्शनशास्त्र किसी भी समाज को चरित्रहीनता व अनैतिकता की ओर अग्रसर नहीं करते,” तथ्यों पर आधारित नहीं है।

हम दूसरे धर्मों की बात नहीं करते, क्योंकि उन के संबंध में हमारा (और आप का) ज्ञान निश्चय ही काफी सीमित है। लेकिन जहां तक खुद हमारे हिंदू धर्म का संबंध है, हम पूरे विश्वास के साथ कह सकते हैं कि हमारे अधिकतर, धर्मग्रंथ—विशेषतः जिन की सब से अधिक मान्यता है—तथा दर्शनशास्त्र व सामाजिक आदर्श आदि हमें चारित्रिक पतन व नैतिक विनाश की ओर ही ले जाते हैं।

उदाहरण के लिए आप अपने धर्मग्रंथों को शुरू से देखते जाएं। सब से पहले तो ‘ऋग्वेद’ ही हमारा परम ग्रंथ है। लेकिन इस में आर्य जाति द्वारा भारत के मूल निवासियों (दास, वस्य आदि) के जातीय संहार का जैसा वर्णन किया गया है, तथा आर्यों के परम इष्ट देव (इंद्र) का जैसा चरित्रचित्रण हुआ है, क्या वह सब आज के युग में किसी सभ्य व समुन्नत राष्ट्र के आदर्श बन सकते हैं?

आर्यों की हिसाबतत्ति तथा उन के परम देव इंद्र के कारनामों का यह लेखा-जोखा देखिए :

“हमारे चारों ओर वस्य जाति है। यह यज्ञ नहीं करती, कुछ मानती नहीं। यह अन्धव्रत व अमानुष है। हे शत्रुहंता इंद्र, तुम इस का वध करने वाले हो, दास का भेदन करो।” (ऋ. 10-22, 8)

“इंद्र, तुम यज्ञाभिलाषी हो। जो तुम्हारी निंदा करता है उस का धन अपहृत कर के तुम प्रसन्न होते हो। प्रचुरधन इंद्र, तुम हमें (अपनी) दोनों जांघों के बीच छिपाओ। शत्रुओं को मारो। अस्त्र से दास को मार डालो।” (ऋ. 8-59, 10)

“हे इंद्र, तुम ने पचास हजार काले लोगों को मारा।” (ऋ. 4-16, 13)

“इंद्र, तुम समस्त अनाथों को समाप्त करो...” (1-133, 5)

“तुम ने पृथ्वी को दास की शैया बना दिया है।” (1-174, 7)

...“रक्षाशून्य दुर्गम स्थान से जाने वाले व्यक्ति को जैसे खोर मार डालता है, उसी तरह इन्द्र ने धनुष-बाण से वायु को धरती पर धकेल दिया है” (Purdum 1983) Chandigarh

“...इंद्र ने अशुरों (अनायों) के धन पर उसी तरह तुरंत अधिकार कर लिया, जिस तरह सोए हुए मनुष्यों के धन पर अधिकार जमाया जाता है。” (1-53, 1)

“इंद्र और अग्नि, तुम लोगों ने एक ही बार की चेष्टा से दासों के 90 नगरों को एक साथ कपित किया था。” (1-130-7)

(इंद्र कहते हैं) “मैं ने सोमपान में मत्त हो कर शंबर (दास राजा) के 99 नगरों को एक काल में ही ध्वस्त किया था。” (4-26, 3)

(इंद्र कहते हैं) “मेरे लिए इंद्राणी के द्वारा प्रेरित याज्ञिक लोग 15-20 सांड या बैल पकाते हैं उन्हें खा कर मैं मोटा होता हूं. मेरी दोनों कुक्षियों को याज्ञिक लोग सोम से भरते हैं. (10-86, 14)

ये सब हमें क्या सीख देते हैं? यही कि जो लोग हमारी जाति के न हों, अथवा हमारे धर्म को न मानते हों, उन का हमें संहार कर देना चाहिए. हमें दूसरे देशों पर आक्रमण करना चाहिए व अगर वहां के लोग नतमस्तक हो कर हमारी सत्ता स्वीकार न करें तो हमें उन के नगरों की ईंट से ईंट बजा देनी चाहिए, और उन की स्त्रियों तक के पेट फाड़ डालने चाहिए, ताकि उन की जाति का नामनिशान ही मिट जाए!

क्या आप इस बात को पसंद करेंगे कि यदि हम में अपेक्षित शक्ति हो, तो हमें आज भी इन्हीं आदर्शों का पालन करना चाहिए? हम जिस देश में जाएं, वहां के लोगों का धन हमें चोरों की तरह हड़प लेना चाहिए? हमें अपने एकएक आराध्य देव की खुश करने के लिए दर्जनों सांड या बैल मार कर पकाने चाहिए, और नशा करने के लिए भंग (सोम) के कईकई घड़े भर कर रखने चाहिए?

‘ऋग्वेद’ में सिर्फ यही कुछ नहीं है. वहां एकएक यज्ञ में सैंकड़ों घोड़ों, गाय-बैलों, भेड़-बकरियों व अन्य जानवरों की बलि चढ़ाने का विधान है, यहां तक कि नरबलि का संकेत भी मौजूद है. (देखिए ऋ. 10-91, 14, 15 व 1-24, 13-15) क्या आप के विचार में हमें आज भी ये सब कार्य करने चाहिए? और यदि हम करें अथवा कर सकें तो क्या हम आज के युग में ‘साधारण मनुष्य’ कहलाने के भी अधिकारी रह जाएंगे, चरित्रवान व नैतिकतासंपन्न होने की तो बात ही क्या?

चलिए, वेदों को छोड़िए, उन की तो आज उतनी मान्यता भी नहीं रही, न उन में बताए गए विधि-विधानों के अनुसार आचरण करने की आज कुछ अधिक गुंजा-इश ही है. बाद के दर्शनशास्त्रों और धर्मग्रंथों को ही ले लीजिए, जिन के द्वारा स्थापित प्रायः सभी मानदंड व आदर्श आज के हिंदू समाज के भी आदर्श बने हुए हैं. ये ही सब शास्त्र हमें क्या पाठ पढ़ाते हैं? और हमें हमारे निजी व पारिवारिक तथा सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में किस प्रकार के आचरण का उपदेश देते हैं?

उपनिषदों की अलग-अलग दार्शनिक दुकानों में हमें वेदों का हर देवता, और कुछ नए देवता, बारीबारी से परमात्मा बनते दिखाई देते हैं. हर देवता अपने-आप को अष्ट-बता कर शेष सब देवताओं को अपने में समाविष्ट घोषित करता है, और हिंदू जाति को सिर्फ अपनी ही पूजा का निर्देश देता है.

ये उपनिषद हमें ‘नेतिनेति’ व आत्मापरमात्मा के गोरखधंधों में उलझा कर पृथार्थ दुनिया से विमुख करते हैं. ये इस दुनिया को झूठ, प्रपंच, माया अथवा तुच्छ व त्याज्य घोषित कर के सिर्फ तथाकथित ब्रह्मज्ञान या परमात्मा के दर्शन तथा मोक्ष व निर्वाण को ही व्यक्ति के जीवन का ध्येय बताते हैं. ये एक तरफ तो साधारण लोगों को तप, त्याग और पुनर्जन्म की पट्टी पढ़ाते हैं, और दूसरी तरफ समर्थ लोगों के लिए ‘विषय-

धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर तीनों भाई विचित्रवीर्य की स्त्री से व्यासजी द्वारा पैदा होते हैं। अंधे धृतराष्ट्र को भी सुनील भास भी साक्षर नहीं है, लेकिन विदुर रानी गांधारी के पेट से एक पिंड के रूप में ऐसे ही निकल पड़ते हैं। फिर पांडु के पांचों पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—पांच अन्य व्यक्तियों के नाम पर पैदा होते हैं। कुंती का पुत्र कर्ण बलात्कार की यादगार है। यही बात दूसरे कई महापुरुषों पर भी लागू होती है, जो इस धार्मिक महाकाव्य में अपनी भूमिकाएं अदा करते हैं, जैसे द्रोणाचार्य के बारे में कहा गया है कि वह एक दोने में पैदा हुए, जिस में किसी का वीर्य पड़ा था।

क्या आज के जमाने में 'महाभारत' की इन प्रथाओं व मान्यताओं को आदर्श मान कर चलने से किसी समाज में कोई नैतिक मानदंड शेष रह सकता है? खेद तो इसी बात का है कि हिंदू समाज आज भी इस ग्रंथ में लिखी बातों को आदर्श मानता है। इस से पाखंडी साधु लोग ही अनुचित लाभ उठाते हैं। वे यज्ञ, होम द्वारा बांझ स्त्रियों के अथवा नपुंसकों की पत्नियों के बच्चे पैदा करने के नाम पर हर तरह का व्यभिचार करते हैं। लेकिन 'रामायण', 'महाभारत' आदि ग्रंथों पर विश्वास करने वाले हिंदू जब यह देखते हैं कि स्वयं भगवान राम और उन के तीनों भाई, पांडुपुत्र व अन्य महापुरुष सब अन्य व्यक्तियों द्वारा पैदा हुए हैं, तो वे आज भी अपनी स्त्रियों को साधुसंतों के पास भेजने में संकोच नहीं करते और करें भी क्यों? यह सब धर्म के बिलकुल अनुकूल जो है।

'रामायण' में श्री राम 'मर्यादा पुरुषोत्तम' हैं, अर्थात् उन के द्वारा स्थापित हर मानदंड हिंदुओं के लिए चिर सत्य व अनुकरणीय है। लेकिन श्री राम का आचरण वास्तव में है क्या? उन की अनुपस्थिति में रावण उन की पतिव्रता स्त्री सीता का अपहरण करता है और साल भर तक अपनी कैद में रखता है। लेकिन इस बीच न तो सीता ही उसे अपने शरीर का स्पर्श करने की अनुमति देती है और न खुद रावण ही (कारण चाहे कुछ भी बताया जाए) उस के साथ जोरजबरदस्ती करता है।

फिर भी सीता के उद्धार के बाद श्री राम सिर्फ लोगों की बकवास पर, अथवायों कह लीजिए कि अपना सिंहासन बनाए रखने के लिए, निर्दोष सीता का त्याग कर देते हैं, और वह भी उस अवस्था में जब कि उस काल की मान्यताओं के अनुसार सीता अग्निपरीक्षा में भी पूरी उतरती है।

ऐसी हालत में कोई हिंदू, जो श्री राम को आदर्श धर्म की स्थापना करने वाला अवतार मानता है, अपनी किसी बहूबेटी को, जो एक दिन के लिए भी किसी मजबूरी में किसी पराए के वश में रही हो, दोबारा अपने घर स्वीकार कर सकता है? लेकिन क्या यह हिंदू स्त्रियों के साथ एक घोर अन्याय व अत्याचार नहीं है? और क्या स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार करने वाला समाज किसी दृष्टि से भी अपनी महानता व न्यायप्रियता की डींग हांक सकता है?

'रामायण' में श्री राम जिस छलकपट से बालि का वध करते हैं तथा विद्रोही सुग्रीव की सहायता कर के उसे उस के मृत भाई का राज्य तथा पत्नी तक दिला देते हैं, फिर रावण के देशद्रोही भाई विभीषण को भी शरण देते हैं तथा उसे रावण का सिंहासन, और पत्नियां सौंपते हैं, वह सब यथार्थवादी कूटनीति के अंतर्गत तो ठीक हो सकता है, पर धर्मानुकूल कैसे हो गया? लेकिन जो हिंदू श्री राम को अवतार मानते हैं, वे अपने धर्म में भी ऐसे गंदे हथकंडों के प्रति कोई अरुचि भाव कैसे रख सकते हैं? 'रामायण' में सुग्रीव और विभीषण की तथा 'महाभारत' में भीष्म की गद्दारी व नमकहरामी की जिस तरह खुल कर प्रशंसा की गई है तथा उन के कायरतापूर्ण आचरण को एक महान आदर्श बनाया गया है, उस के रहते किसी हिंदू के निकट वफादारी, देशभक्ति या नैतिक साहस की क्या कीमत रह सकती है?

तुलसी साहित्य

डा. गंगासहाय 'प्रेमी'

अनुवादों की सफल नुमाइश के सिवा क्या है?

हृदयहीन केशवदास के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने 'रामचंद्रिका' में छंदों की नुमाइश लगा दी है। छंदों का जल्दोजल्दी बदलना और अलंकारों की भरमार देख कर लोग कहते हैं कि केशव कवि पहले थे, भक्त बाद में। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि केशव में भक्तिभावना कवित्व से कम थी।

नुमाइश के दृष्टिकोण से देखने पर हम तुलसी को केशव से कम नहीं पाते। केशव को छंदों और अलंकारों का शौक था तो तुलसी अनुवादों के दीवाने थे। हम तुलसी साहित्य को अनुवादों की नुमाइश कह सकते हैं। इस दृष्टि से यदि तुलसी साहित्य पर विचार किया जाए तो स्वीकार करना पड़ेगा कि तुलसी सब से पहले अनुवादक थे, भक्त या कवि बाद में।

तुलसी के विस्तृत अध्ययन की प्रशंसा करनी पड़ेगी। उन के साहित्य में वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराणों, नाटकों, पंचतंत्र एवं संस्कृत साहित्य की फुटकर सुक्तियों के अनगिनत अनुवाद मिल सकते हैं। ऐसा लगता है कि तुलसी बाबा को पढ़ते समय किसी भी ग्रंथ का जो स्थल जोरदार लगता होगा, उसे वह नोट कर लेते होंगे। और उसे अपनी कविता में स्थान विशेष पर प्रयुक्त कर लेते होंगे। कहींकहीं तो अनुवाद वाले ये स्थल बलपूर्वक ठूँसे गए लगते हैं।

तुलसी साहित्य के अनूदित स्थलों का जान हो जाने पर पढ़ने वालों को बड़ा विचित्र अनुभव होगा। संभवतः एक भी ऐसा मार्मिक स्थल नहीं है जो तुलसी का अपना हो, सभी दूसरों के अनुवाद हैं। जिन उक्तियों, कल्पनाओं और अलंकारों के लिए लोग तुलसी के सामने श्रद्धांत हो जाते हैं, वे सब उधार ली हुई बातें हैं।

तुलसी साहित्य में भावानुवाद और अंशानुवाद इतने हैं कि उन्हें गिनना संभव नहीं है। अविकल अनुवादों की संख्या भी कम नहीं है। इस प्रकार लगभग आधा तुलसी साहित्य अनुवाद है। संभव है, इस से अधिक अनुवाद भी हों, क्योंकि सभी पुस्तकों के समस्त स्थलों को ध्यान में रख कर तुलसी साहित्य में उन के अनुवाद ढूँढ़ना सरल काम नहीं है। संभव है तुलसी के समय में संस्कृत साहित्य की जो पुस्तकें उपलब्ध रही हों। अब उन में से कुछ न मिलती हों।

में तुलसी साहित्य में संस्कृत ग्रंथों से अनूदित जितने भी स्थल खोज सका हूँ, उन सब को इस छोटे से लेख में देना संभव नहीं है। उन से एक छोटीमोटी पुस्तक बन सकती है। नीचे कुछ विशिष्ट स्थलों के विषय में चर्चा की जा रही है। इन में अधिकांश स्थल ऐसे हैं, जिन्हें तुलसी साहित्य का मर्म कहा जाता है और जिन्हें लोग तुलसी की उद्भावना समझ कर प्रसन्न होते हैं।

तुलसी ने वाल्मीकि से बहुत कुछ सहायता ली है। रामचरितमानस का अन्तिम अङ्कालिखित लगभग सभी ऋतु वर्णन वाल्मीकि रामायण से लिए गए हैं। 'रामचरितमानस' के प्रारंभ में तुलसी ने वाल्मीकि की स्तुति की है :

बदौं मुनिपद कंज, रामायन जेहि निरमयउ,
सखर सकोमल मंजु, दोष रहित दूषण सहित.

---रामचरितमानस, बालकांड

इस सोरठे की प्रशंसा श्लेष और मुद्रालंकार के लिए की जाती है। पर यह संस्कृत की निम्न सूक्ति का अनुवाद मात्र है:

नमस्तस्मै कृता येन पुण्या रामायणी कथा,
सदृशणापि निर्दोषा सखरापि सकोमला.

—सूक्तिमुधासार, पृष्ठ 60

खोज या अनुवाद?

तुलसी राम के अनन्य भक्त थे, उन्होंने रामनाम की बड़ी महिमा गाई है। कहा जाता है कि राम शब्द के दोनों व्यंजनों 'र' एवं 'म' के विषय में उन्होंने निम्न खोज की है:

एक छत्र इक मुकुटमणि सब बरनन पर जोउ,
तुलसी रघुबर नाम के बरन विराजत दोउ.

—रामचरितमानस, बालकांड

कितनी गहरी खोज है! 'र' एवं 'म' दोनों ही जब दूसरे व्यंजनों से मिलते हैं तो सदा उन के ऊपर ही रहते हैं। एक रेफ के रूप में और दूसरा अनुस्वार के रूप में। जैसे—मार्ग, सायं। पर यह दोहा रामायण के निम्न श्लोक का अनुवाद है : निर्दोषा रामनामेदं केवलं च स्वराधिकम्, सर्वेषां मुकुटं छत्रं मकारो रेफव्यंजतम्.

—बालकांड 1-11

तुलसी बाबा ने स्थानस्थान पर नारी की अच्छी खबर ली है। वह नारी में आठ बुराइयां स्थायी रूप से मानते हैं :

नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं,
अवगुन आठ सदा उर रहहीं.
साहस अनृत चपलता माया,

भय अविवेक अशौच अदाया.

—रा. च. मा., अरण्याकांड

इस के लिए बेचारे तुलसी पर क्रोध करने की आवश्यकता नहीं है, वह तो अनुवाद करने भर के दोषी हैं। यह खोज तो चाणक्य की है :

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता,
निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः

—2-1

त्रिव्यों से संबंधित तुलसी साहित्य में कुछ और स्थल भी देख लिए जाएं। सीताहरण के पश्चात राम लक्ष्मण से कहते हैं : शास्त्र सुचिंतित पुनिपुनि देखिय,
भूप सुसेवित बस नहि लेखिय.
राखिय नारि यदपि उर मांहो,
युवती शास्त्र नृपति बस नाहों.

—रा. च. मा., अरण्याकांड

तो क्या राम की नारी विषयक भावनाएं इस प्रकार की थीं? क्या आश्रम को सूना देख कर राम ने समझ लिया कि सीताजी अपनी इच्छा से किसी के साथ भाग गई हैं? तुलसी ने राम का जैसा चरित्र अंकित किया है, उस के अनुसार राम का यह वचन उचित नहीं लगता। पर तुलसी बेचारे क्या करें? उन्हें तो 'पंचतंत्र' के निम्न श्लोक का अनुवाद करना था :

शास्त्रं सुचिंतितमपि प्रतिचिंतनीयं
स्वाराधितोऽपि नृपतिः परिशंकनीयः,
अंकस्थितापि युवतिः परिरक्षणीया शास्त्रे
नृपे च युवती च कुतो वशित्वम्.

—1-205

दूसरा स्थल कहां मिलता इसे रखने का?

बालि ने राम से अपने वध का कारण पूछा तो वह कहने लगे :

अनुज वधू भगिनी सुतनारी,

सुनु सठ ये कन्या सम चारी.
इतहि कुदृष्टि विलोकैं जोई,

ताहि वधे कछु पाप न होई.

—रा. च. मा., किष्किंदाकांड
ऊपर की अर्धाली का सीधासाधा अर्थ

हैं छोटे भाई की परनी, बहन और पुत्रवध
ये चारों कन्या के समान हैं। गिनाई गई
तीन और बताई गई चार। इसे सुधारने के
लिए पचासियों भांति अर्थ की खोजातानी
होती है। दूसरे, इन्हीं चार को कुदृष्टि से
देखने की बात क्यों कही गई? क्या इन
के अतिरिक्त माता, चाची, मौसी, मामी
एवं नातेरिश्ते से बाहर की नारियों को
कुदृष्टि से देखना कम बुरा है? भारतीय
आदर्श के अनुसार तो परस्त्री माता के
समान है। फिर यह भेदभाव क्यों? तुलसी-
दासजी के सामने तो 'अध्यात्म रामायण'
के निम्न श्लोक के अनुवाद करने का
प्रश्न था। औचित्य पर विचार कौन करता?
दुहिता भगिनी भ्रातृभार्या च व तथा स्नुषा,
समा यो रमते तासामेकामपि विमूढधीः॥

स्वर्णेश्वरिण्यमनो नित्यं स्वर्पति पश्यति ध्रुवं,
ये चारों कन्या के समान हैं। गिनाई गई

74

नान्यं परपति भद्रे उत्तमा सा प्रकीर्तिता।
या पितृ भ्रातृ सुतवत् परं पश्यति सद्द्विया,
मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता।

75

बुद्ध्वा स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति या,
निकृष्टा कथिता सापि सुचरित्रा च पार्वति।

76

—रुद्रसंहिता, पार्वतीखंड, अध्याय 54

तुलसी ने नारियों को सलाह दी है
कि वे बुरे से बुरे पति का भी अपमान न
करें, अथवा उन्हें नरक में भांतिभांति के
दुख मिलेंगे :

बृद्ध रोगवस जड धनहीना

अंध बधिर क्रोधी अतिदीना,

ऐसेहु पतिकर किय अपमान,

नारि पाव जमपुर दुख नाना।

—रा. च. मा., अरण्यकांड

ऊपर के 'धनहीना' और 'अतिदीना'
में क्या अंतर है, इसे तुलसी बाबा ही जानें।
उन्होंने जिस प्रकार के पति गिनाए हैं, वे
'भागवत' और 'शिवपुराण' के निम्न श्लोकों
से लिए गए हैं :

दुःशूलो दुर्भंगो बृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा,
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेऽप्युभिरपातको।
क्लीवं च दूरवस्थं च व्याधितं बृद्धमेव च,
सुखितं दुःखितं चापि पतिमेकं न लंघयेत्।

—शिवपुराण, पार्वतीखंड, अध्याय 54

तुलसी ने परस्त्री दर्शन का निषेध
करते हुए लिखा है :

जो आपन चाहसि कल्याना,

सुगति सुमति समुचित विधि नाना।

तौ परनारि लिलार गुसाई,

तजहु चौथ चंदा की नाई।

—रा. च. मा., सुंदरकांड

परनारी के मस्तक को चतुर्थी का
चंदा बताने की कल्पना तुलसी के मस्तिष्क
की उपज नहीं है। यह तो निम्न सूक्ति का
अनुवाद है :

उदकं भूमिं मिच्छद्भिः सद्भिः खलु न वृश्यते,
चतुर्थी चंद्र लेखं परस्त्री भाल पट्टिका।

72

पतिव्रताओं की श्रेणियां

तुलसी ने पतिव्रताओं के चार श्रेणी-
भेद किए हैं :

जग पतिव्रता चारि विधि अहर्ही,

वेद पुराण संत अस कहर्ही।

उत्तम के अस बस मनमांही,

सपनहुं आन पुरुष जग नाहीं।

मध्यम परपति देखैह कैसे,

भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।

धर्म बिचारि समुझि कुल रहई,

सो निकृष्ट तिय अस श्रुति कहई।

बिनु अवसर भय ते रह जोई,

जानेहु अधम नारि जग सोई।

—रा. च. मा., अरण्यकांड

तुलसीदासजी ने उक्त विभाजन को
प्रभावशाली बनाने के लिए वेद, पुराण,
संत और श्रुति का सहारा लिया है। वे क्या
स्पष्ट रूप से 'शिवपुराण' का नाम नहीं
ले सकते थे, जहां से पद लिया गया है :
चतुर्विधास्ताः कथिता नार्यो देवि पतिव्रताः॥

जो नारी पति की आगे बढ़ती हुई, उसे तुलसी ने अग्रिम बताया है :

सातु पिता भ्राता हितकारी,

मितप्रद सब सुनु राजकुमारी.

अमितदान भर्ता वैदेही,

अग्रिम सो नारि जो सेव न तेही.

—रा. च. मा., अरण्यकांड

इस के विषय में 'शिवपुराण' का निम्न श्लोक देखिए :

मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः,

अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत् सदा.

—ह्र. सं. पा. खंड, अध्याय 54, श्लोक 50

नीच ब्राह्मण उत्तम शूद्र से अच्छा

तुलसी बाबा वर्णाश्रम धर्म के प्रबल समर्थक थे. उन्होंने स्थानस्थान पर नीच ब्राह्मण को भी उत्तम शूद्र से अच्छा कहा है :

इसी प्रकार का एक स्थल देखिए :

पूजिय विप्र शील गुन होना,

सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना.

दुष्टा धनु दुही सुनु भाई,

साधु रासभी दुही न जाई.

—रा. च. मा., उत्तरकांड

क्या दूर की कौड़ी लाए हैं तुलसी-दासजी! दुष्ट गाय भी दुही जाती है और सीधीसादी गयी को भी कोई नहीं दुहता. तो शूद्र और ब्राह्मण में गंधी और गाय जितना अंतर है. इस के लिए जो कुछ कहना हो, चाणक्य नीति के निम्न श्लोक से कहिए :

पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेंद्रियः.

निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी.

—6-5

एक अच्छा मित्र अपने मित्र के लिए

क्याक्या करता है, इसे देखिए :

कुपय निवारि सुपथ चलावा,

गुन प्रकटे अवगुनहि दुरावा.

विपति काल कर सतगुन नेहा,

श्रुति कह संत मित्र गुन एहा.

—रा. च. मा. किष्किंधाकांड

तुलसी के शब्दों में सन्मित्र के उक्त

व्यक्त श्रुति के सत्य एवम् हैं कि कितना बड़ा

झूठ है यह? उक्त पंक्तियां भर्तृहरि के

'नीतिशतक' के निम्न श्लोक का अनुवाद है:

पापान्निवारयति योजयते हिताय

गुह्यानि गूह्यति गुणान् प्रकटीकरोति,

आपदगतं च न जहाति ददाति काले

सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति संतः. 72

तुलसीदासजी ने बुरे मित्र से बचने की

भी सलाह दी है :

आगे कह मृदु वचन बनाई,

पाछे अनहित मन कुटिलाई

अस कुमित्र परिहरे भलाई...

—रा. च. मा., किष्किंधाकांड

इतना क्या कम है कि इस बात के

लिए तुलसी ने किसी जोरदार पुस्तक का

नाम नहीं लिया. वैसे यह सब 'चाणक्य

नीति' के निम्न श्लोक का अनुवाद है :

परोक्षे कार्यहंतारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्,

वर्जयेत्तादृशं मित्रं विशुक्लं पयोमुखम्.

—2-5

सज्जनप्रशंसा और दुर्जननिंदा पर भी

तुलसी ने पर्याप्त लिखा है. सज्जन पुरुष

अपने अनुकूल और प्रतिकूल का भेद किए

बिना ही सब का उपकार करते हैं. इस के

लिए तुलसी ने फूल का उदाहरण लिया है:

बंदों संत, समानचित हितअनहित नाहि कोय,

अंजलिगत सुभसुमन जिमि सम सुगंध कर

दोय. —रा. च. मा., बालकांड

यह भावना संस्कृत की निम्न सूक्ति

से ली गई है :

अंजलिस्थानि पुष्पाणि वासयन्ति करद्वयम्,

न हो सुमनसां प्रीतिर्वामदक्षिणयोः समा.

—सूक्तिरत्नाकार, 115

मूल श्लोक में जो 'सुमनसां' तथा

'वामदक्षिणयोः' में श्लेष का चमत्कार है,

उसे तुलसी नहीं ला पाए हैं.

अब हम तुलसी साहित्य के कुछ ऐसे

स्थल लेते हैं जो सूक्ति के रूप में जन-

साधारण की जिह्वा पर विराजमान रहते

हैं. अधिक चक्कर में न पड़ कर साथ ही

साथ वे स्थल भी देते जाएंगे, जिन के ये

अनुवाद हैं :

कोउ न काह सुख दुख कर दाता।

निज कृत कर्म भोग सब ताता।

सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता

स्वकर्म सूत्र प्रथितो हि लोकः
आरत काह न करहि कुकरम्।

—रा. च. मा., अयोध्याकांड
बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

—पंचतंत्र 2-97
अरध तर्जहि बुध सरवस जाता।

—रा. च. मा., अयोध्याकांड
सर्वनाशो समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पंडितः।

—पंचतंत्र 5-41
जननी जौबन विटप कुठारी।

—रा. च. मा., अयोध्याकांड
अनुवाद ही अनुवाद

मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयं
सचिव वैद्य गुरु तोनि जो प्रिय बोलहि भय
वास,

राजधर्म तनु तोनि को,
होहि बेगि ही नास।

—रा. च. मा., सुंदरकांड
वैश्रो गुरुश्च मंत्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदाः,
शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं म परिहीयते।

—सूक्तिरत्नाकर, 940
संभावित कहं अपजस लाह,

मरन कोटि सम दारुन दाह।
—रा. च. मा., अयोध्याकांड

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।
—गीता 2-34

बांझ कि जान प्रसव की पीरा।
—रा. च. मा., बालकांड

नहि बंध्या विजानाति गुप्ते प्रसववेदनाम्।
—सूक्तिरत्नाकर, 450

उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि,
प्रीति परीक्षा तिहुन की बैर वितिक्रम जानि।

—दोहावली, 252
उत्कृष्टमध्यमनिकृष्ट जनेषु मैत्री

यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा,
वैरं निकृष्टजनमध्यम उत्तमेषु

यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा।

सूक्तिरत्नाकर, 191
गिरा अनयन नयन बिनु बनो।

—रा. च. मा., बालकांड
या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति।

—सूक्तिरत्नाकर 605
पंडित सोइ जो गाल बजावा।

रा. च. मा., उत्तरकांड
पांडित्ये चापलं वचः

—‘भागवत’ स्कंध 11 अध्याय 2-4
अब हम रामचरितमानस के प्रमुख

स्थलों को लेते हैं, जिन के लिए तुलसी की
प्रतिभा और वर्णन चातुरी की भूरिभूरि

प्रशंसा की जाती है। पता नहीं पाठकों को
यह जान कर कैसा लगेगा कि वे सब के

सब भिन्नभिन्न ग्रंथों के अनुवाद हैं।
सीता स्वयंवर में विवाह की शर्त की

घोषणा की जा रही है :
रावन बान महाभट भारे,

देख सरासन गंवहि सिधारे।
सोइ पुरारि कोदंड कठोरा,

राज समाज आजु जो तोरा।
त्रिभुवन जय समेत बड़ेही,

बिनाहि विचार बरै हठि तेही।
—रा. च. मा., बालकांड

उक्त शब्द तुलसी के हों, पर भाव हैं
हनुमन्नाटककार भवभूति के :

श्रृंगत जनककल्पा क्षत्रियाः शुल्कमेते
दशवदनभुजानां कुठिता यत्र शक्ति

नमयति धनुरेशं यस्तदारोपणेन,
त्रिभुवन जयलक्ष्मीर्जातकी तस्य दारा।

—अंक प्रथम, श्लोक 18
अनेक राजाओं ने शिव धनुष उठाने

का प्रयत्न किया, पर सब असफल रहे।
इस पर दुखी हो कर जनक को कहना

पड़ा :
दीपदीप के भूपति नाना,

आए सुनि हम जो प्रन ठाना।
देव दनुज धरि मनुज सरीरा,

विपुल वीर आए रनघोरा।
कुंवर मनोहरि विजय बडि,

कोरति अति कमनीय।
पादन हार विरंचि जनु,

कहहु काहि यह लाभ न भावा,
काहु न संकर चाप चढ़ावा.
रहे उठाउब तोरब भाई,
तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई.
अब जनि कोउ भाखै भट मानी,
बीर विहीन मही मैं जानी.
—रा. च. मा., बालकांड

कुछ अपनी ओर से भी

उक्त स्थल की दूसरी और चौथी पंक्ति को छोड़ कर शेष सब 'हनुमन्नाटक' के निम्न श्लोक का अनुवाद है :

आद्वीपात् परतोऽप्यमी

नृपतयः सर्वे समभ्यागताः
कन्यायाः कलधौतकौमलरुचेः

कीर्तेश्च लाभः परः,
नाकृष्टं न च टंकितं न

नमितं नोत्थापितं स्थानतः
केनापीदमहो महद्धनुरिदं

निर्वोरमुर्वीतलम्.

—अंक 1, श्लोक 10

रावण आदि के उठाने पर धनुष किस प्रकार अडिग रहा इस का वर्णन भी देखते चलिए :

भूप सहस्र दस एकहि बारा,
लगे उठावन टरे न टारा.
डिगै न शंभु शरासन कैसे,

कामी वचन सती मन जैसे.

—रा. च. मा., बालकांड

इस में 'एकहि बारा' कहने के लिए तुलसी ने रावण का नाम अपनी ओर से जोड़ दिया है. शेष सब करामात प्रसन्न-राघव नाटक के निम्न श्लोक की है :

बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
नेदं धनुश्चलितं किंचिदपीडुमौलेः,
कामातुरस्य वचसामिव संविधानेरभ्यर्थितं
प्रकृतिं चारुमतः सतीनाम्.

—अंक प्रथम, श्लोक 56

गुरु की आज्ञा ले कर राम धनुष उठाने चले. लक्ष्मण धरती को धारण करने

बोले :

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला,

धरहु धरनि धरि धीर न डोला.

राम चहहि संकर धनु तोरा,

सजग होहु सुनि आयसु मोरा.

उक्त चौपाई से मिला कर 'हनु-

मन्नाटक' का निम्न श्लोक पढ़ डालिए :

पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैना त्वं

कर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः,

दिक्कुंजराः कुरुत तत् त्रितये दिधीथां

रामः करोति हरकामुक्माततज्यम्.

—अंक प्रथम, श्लोक 21

शिव का धनुष टूटने का समाचार

सुन कर परशुरामजी आ गए. वे इस

अपराध के लिए बहुत लालपीले होने लगे

तो लक्ष्मण बोले :

छुवत अटूट रघूपतिहि न दोसु,

मुनिबिनु काज करिय कत रोसु.

वास्तव में बात यह नहीं थी. धनुष

छूने से नहीं, खींचने से टूटा था. लक्ष्मण

झूठ बोले सो बोले, पर मर्यादापुरुषोत्तम

राम ने भी यही कहा :

छुवतहि टूट पिनाक पुराना,

मैं केहि हेतु करब अभिमाना.

इस प्रकार की झूठी बात कहना अनु-

चित है, इस ओर तुलसी का ध्यान नहीं

था. उन्हीं तो 'प्रसन्नराघव' नाटक के निम्न

श्लोक का अनुवाद करना था :

मया स्पृष्टं न वा स्पष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः,

भगवन्नात्मनेवेदमभ्यज्यत करोमि किम्.

—अंक 4, श्लोक 21

परशुराम बहुत गरम हुए और यद्ध

की धमकी देने लगे तो राम ने नम्रतापूर्वक

कहा :

हमहि तुम्हहि सरवरि कस नाथा,

कहहु त कहां चरन कहं माथा.

देव एक गुन धनुष हमारे,

नौ गुन परम पुनीत तुम्हारे.

—रा. च. मा., बालकांड

ब्राह्मण मस्तक के समान होता है, पर

अत्रिय पैर तुल्य नहीं होता. दूसरे नौ

धार्मिकों वाला जनेऊ क्या परशुराम पर ही था? वह तो रामलक्ष्मण भी पहने होंगे।
 तुलसी ने अनेक स्थान पर रामलक्ष्मण को यज्ञोपवीत धारी तो कहा ही है, हनुमानजी तक के कंधे पर इसे लटका दिया है :
 कंधे मूंज जनेऊ छ.जै. — हनुमानचालीसा

उक्तियां कितनी संगत?

फिर इस उक्ति को संगत कैसे कहा जाए? तुलसी का ध्यान संगति पर नहीं था. उन्हें 'प्रसन्नराघव नाटक' के निम्न श्लोक का अनुवाद करना था :
 भो ब्रह्मन्! भवता समं

न घटते संप्रामवार्तापिनः
 सर्वे होनवला वयं बलवतां
 यूयं स्थिता मूर्धनि
 यस्मादेकगणं शरासनमिदं

सुव्यक्तमूर्ध्निभुजामस्माकं
 भवतां पुनर्नवगुण

यज्ञोपवीतं बलम्.
 अंक 4, श्लोक 25

सीता हरण के पश्चात् हनुमान लंका पहुंचे और अशोक वाटिका में सीता को देखा. वे रावण की बात का उत्तर देते समय तिनके की ओट ले लेती हैं :

तून धरि ओट कहति वैदेहि,
 सुमरि अवधपति परम सनेही.

—रा. च. मा., सुंदरकांड
 कथावाचक लोग 'तूनधरि' शब्द का अर्थ करते समय बहुत अधिक तूल बांधने लगते हैं. उन्हें वाल्मीकि का निम्न श्लोक देखना चाहिए, जिस का अनुवाद तुलसी बाबा ने उक्त अर्धाली के रूप में किया है :
 चित्तयंती वरारोह पतिमेव पतिव्रता,
 तूणमतरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता,

—सुंदरकांड 12-1
 रावण ने जब सीता के सामने अपनी पटरानी बनने का प्रस्ताव रखा तो सीता ने उत्तर दिया :

स्याम सरोज दाम सम सुंदर,
 सोय भुज करिकर सम दशकंधर.

सो भुज कंठ कितव अमि धोरा,
 मुनु सठ अस प्रमान प्रन मोरा.
 रा. च. मा., सुंदरकांड
 ये पंक्तियां भी 'हनुमानाटक' के निम्न श्लोक के अनुवाद रूप में हैं :

विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन,
 स्पृशति नहि मदीयं कंठसीमानमन्यः,
 रघुपति भुजदंडादुत्पलरयाम कतिदशनमुख,
 भवदीयान् णिकृपाद् वा कृपाणात्.
 —अंक दशम, श्लोक 16

रावण चला गया तो सीता दुखी व विनीत हो कर अशोक वृक्ष से आग मांगने लगीं. वह जल कर मरना चाहती थीं :
 सुनिय विनय मम विटम अत्रोका,

सत्य नाम कह हरु मम सोका.
 नूतन किसलय अनल समाना,
 देइ अगति तन करहु निदाना.
 —रा. च. मा., सुंदरकांड

अशोक वृक्ष की कोपलों की अग्नि कण या अग्निशिखा समझने की कल्पना तुलसी की नहीं है. वह 'प्रसन्नराघव' के निम्न श्लोक से ली गई है :
 कुरु सकलं चेतः श्रीमन्नाशोक वनस्पते,
 दहताणिकामेकां तावन् मम प्रकटीकुरु,
 ननु विरहिणां संतापय स्फुटीकुरुते भवान्
 नवकिसलयप्रेणीव्याजात् कुशानुशिखावलिम्.

—अंक 6, श्लोक 35
 थोड़ी देर पश्चात् हनुमान सीता के सामने प्रकट हुए. वह राम के संदेश रूप में क्या कहे? पिता का प्रेमसंदेश पुत्र माता को क्या दे. तुलसी ने यहां अंगारक का बड़ा मर्यादित रूप प्रस्तुत किया है.

पहली बार जब मैं ने पड़ा तो मन उल्लास से भर गया:
 राम कहे विशेष तब सीता,
 मो कहं जगत भयेउ विररीता.
 नव तरु किसलय मनहुं कसानू,
 कालनिसा सम निसि ससि भानू.

कुवलय विपिन कुंतवन सरिसा,
 वारिद तप्त तेल जनु बरिसा.
 जेहि तरु रहिय करत सोई पीरा,
 उरघ स्वास सम त्रिविध समोरा.

मेधागमोत्सवाहुष्टाः प्रत्यनन्दनं शिखंडितः,
गृहेषु तृप्तिर्निबन्धाः यथाच्युतसंनयनम् 20

कल्पनाओं में भी मौलिकता नहीं

अपने कलिकाल वर्णन के लिए भी तुलसी बहुत प्रसिद्ध हैं। पर यह वर्णन भी उन का अपमान नहीं, 'श्रीमद्भागवत' से लिया गया है। कुछ उदाहरण देखिए :

शूद्र करहि जप तप व्रत दाना

बैठि वरासन कहाँहि पुराना.

शूद्र द्विजन्ह उपदेसहि ज्ञाना

मेलि जनेऊ लेहि कुदाना.

(शूद्राः प्रतिगृहीष्यन्ति तपो वेशोपजीविनः,
धर्मं वक्ष्यंत्यधर्मज्ञाः अधिरुह्योत्तमासनम्)

38

सुनु व्यालारि कराल कलि

मल अवगुन आगार,

गुनौ बहुत कलि काल कर,

बिनु प्रयास निस्तार.

(कलेर्दोषनिधेः राजन्नस्ति ह्येको महान्
गुणः,

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत.)

51

कृतयुग द्वापर त्रेता, पूजा मख अरु योग,
जो गति होय हरिनाम ते,

कलि पावहि सो लोग.

—रा. च. मा. उत्तरकांड

(कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो
मखैः,

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरि कीर्तनात्.)

52

—भागवत, स्कंध 12, अध्याय 3

दोचार बातें और कह कर इस लेख को समाप्त करेंगे. तुलसी ने 'प्राकृत जन गुन गाना' नहीं किया, केवल राम नाम का ही वर्णन किया है. इस का कारण वह इस प्रकार बताते हैं:

भक्त हेतु विधि भवन बिहाई,

सुमिरत शारद आवति धाई.

रामचरित सर बिनु अन्हवाये,

सो सुभ जाप न कोटि उपाये.

कसी विचित्र कल्पना है! कवि के स्मरण करते ही सरस्वती ब्रह्मलोक छोड़ कर बौड़ी आती हैं. आने में उन्हें जो श्रम होता है. वह तब तक दूर नहीं होता, जब तक वे रामचरित रूपी सरोवर में स्नान न कर लें. राम भक्ति से भीनी यह कल्पना भी तुलसी की अपनी नहीं है. इस के लिए भी वह 'प्रसन्नराघव' के निम्न श्लोक के कृतज्ञ हैं:

झटिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामह
विस्मयात्महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः
समजायत, अथ कथमसौ मुंचेदेनं न चेदव-
गाहते रघुपतिगुणग्रामश्लाघा सुधामय-
दीधिकाम्.

—अंक 1, श्लोक 11

तुलसी ने राम और शिव की तुलना करते हुए 'दोहावली' में लिखा है:

जो संपति शिव राबनीहि,

दीन्ह दिए दस माथ.

सोई संपदा विभीषणीहि,

सकुचि दीन्ह रघुनाथ.

—रा. च. मा., सुंदरकांड

तुलसी ने तो राम को शिव का अनन्य भक्त और शिव को राम का प्रेमी दिखाया है. फिर यह अंचनीच दिखाने वाली तुलना कैसी? बात वही है जो मैं पहले कह चुका हूं. तुलसी अनुवाद के बेहद शौकीन थे. अपनी रचना में किसी स्थल का अनुवाद जोड़ने के मोह में उन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता था. उक्त गड़-बड़ी के लिए भी 'हनुमन्नाटक' का निम्न श्लोक जिम्मेदार है:

या विभूतिर्दशग्रीवे शिरच्छेदेऽपि शंकरात्,
दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे.

अनुवाद की झोंक में तुलसी को उचितअनुचित का ध्यान नहीं रहता था. अपने कथन के प्रमाण में हम एक स्थल की और चर्चा करेंगे.

राम वनवास एवं दशरथ मरण के पश्चात् भरत राम को मनाने वन गए. मार्ग में वह भरद्वाज के आश्रम में ठहरे. भरद्वाज को चिंता हुई कि भरत का स्वागत कैसे करें? पूजा तो देवता समान ही

होनी चाहिए:

मुनिहिं सोच पाहुन बड़े देवता

तसि पूजा चाहिय जस देवता.

भरद्वाजजी ने ध्यान लगा कर रिद्धि सिद्धि को बुलाया और भरत का उचित सत्कार करने की आज्ञा दी:

रामविरह व्याकुल भरतु

सामुज सहित समाज,

पहुनाई करि हरहु श्रम

कहा मुदित मुनिराज.

रिद्धिसिद्धियों ने स्वागत का जो सामान प्रस्तुत किया, वह इस प्रकार था :
रितु बसंत बहु त्रिविध बयारी

सब कहं सुलभ पदार्थ चारी.

—रा. च. मा., अयोध्याकांड
सुक चंदन वनितादिक भोगा,

देखि हरष विस्मयबस लोगा.

अयोध्यावासियों को, जिन में भरत भी सम्मिलित थे, चारों पदार्थ सुलभ थे. आगे इन से भी जोरदार पदार्थ पेश किए. माला, चंदन, स्त्री आदि भोग की वस्तुएं. माला और चंदन तक तो ठीक है, पर भरत जैसे अतिथि को औरत पेश करना क्या उचित था? 'आदि' शब्द से कोई मदिरा का अर्थ लगा ले तो उसे कौन रोक सकता है?

इस पंक्ति को भक्त लोग चाहे चुपचाप पढ़ जाते हों, पर यहां आ कर अपना मस्तिष्क तो अनेक प्रश्नचिह्नों से भर गया. क्या उस समय के रिषिमुनि इतने गिरे हुए थे कि प्रसन्न करने के लिए

औरतें पेश करते थे? क्या भरत एवं अन्य राजकुमार औरतों के शौकीन थे? क्या यह सब तुलसी के आदर्श के अनुकूल है? यह बात दूसरी है कि ये औरतें भरद्वाज की तपस्या द्वारा निमित्त थीं और भरत इस चक्कर में नहीं आए. पर इन के औचित्य का प्रश्न अपने स्थान पर है.

'रामचरितमानस' के अनेक भर्मजों से पूछा, पर समाधान नहीं हुआ. बहुतों ने तो माना नहीं कि ऐसा करना अनुचित था.

एक बार 'वेदांतसार' पढ़ रहा था. निम्न पंक्ति पढ़तेपढ़ते यह शंका निर्मूल हो गई:

ऐहिकानां लक्षचंदनवनितादिविषय भोगानां कर्मज.यतया अनित्यत्ववद् इत्यादि.

—गुरु शांतस्वामी द्वारा संपादित प्रथम संस्करण, पृष्ठ 10

तो बात यह थी कि तुलसी बाबा ने 'वेदांत सार' में से भोग के लक्षण वाली पंक्ति नोट कर ली और उपयुक्त अवसर देख कर 'रामचरितमानस' में जोड़ दी. उस समय यह भूल गए कि इस का 'वनिता' शब्द कितना अनर्थ कर सकता है.

मुझे जिन पुस्तकों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, संभव है, तुलसी बाबा ने उस से अधिक पुस्तकें पढ़ी होंगी. संस्कृत के अतिरिक्त वह फारसी के भी विद्वान थे. अतः उन के साहित्य के उक्त अनुवाद बटलोई के चावल समझ लीजिए.

तुलसी साहित्य

आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर

डा. गंगासहाय 'प्रेमी'

अक्टूबर 1967 के प्रथम अंक में प्रकाशित मेरे लेख 'तुलसी साहित्य' के संबंध में अनेक पाठकों ने पत्र लिखे हैं। इन में से कई लोगों ने मेरे प्रति कटुता एवं आक्रोश की भावना भी व्यक्त की है। मैं इस का बिलकुल बुरा नहीं मानता। मुझे तो इस बात की प्रसन्नता है कि लोगों ने मेरा निबंध पढ़ा। मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरे मन में न तो कोई दुराग्रह है और न तुलसी व उन के भक्तों के प्रति कोई अनास्था! अध्ययन के द्वारा जो तथ्य मुझे मिले वे मैं ने पाठकों के सामने रख दिए।

मैं किसी का नाम न ले कर नीचे उन प्रश्नों के क्रमशः उत्तर दे रहा हूँ जो पाठकों ने अपने पत्रों में उठाए हैं। लगभग सभी पाठकों ने मेरा ध्यान तुलसी के निम्नलिखित श्लोक की ओर आकर्षित किया है:

“नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि.
स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबंधमतिमंजुलमात्तनोति.”

पाठकों का कहना है कि यदि मैं इस श्लोक पर ध्यान देता तो तुलसी को अनुवादक कहने का साहस न करता। इस श्लोक में तुलसी ने स्वीकार किया है कि वह रामचरितमानस में अनेक ग्रंथों से सहायता ले रहे हैं।

मुझे पाठकों के इस विचार पर हंसी

आती है कि उन्होंने समझ लिया कि मेरा ध्यान इस श्लोक की ओर नहीं गया होगा। यह श्लोक तो रामचरितमानस में बालकांड के प्रारंभ में ही दिशा गया है। लगता है कि पाठकों ने शेष तुलसी साहित्य के समान इस श्लोक को भी भक्तिभावना के आवेश में सरसरी दृष्टि से ही देखा है। मैं नम्रतापूर्वक अपने पाठकों का ध्यान उक्त श्लोक के अर्थ की ओर ले जाना चाहता हूँ। मैं अपनी ओर से अर्थ कहूंगा तो लोग आपत्ति करेंगे कि खींचतान की गई है। इसलिए गीताप्रेस से प्रकाशित 'रामचरितमानस' के आधार पर अर्थ दिया जा रहा है। टीकाकार हैं हनुमानप्रसादजी पोद्दार:

अनेक पुराण, वेद और (तंत्र) शास्त्र से सम्मत तथा जो रामायण में वर्णित है और कुछ अन्यत्र भी उपलब्ध श्रीरघुनाथजी की कथा को तुलसीदास अपने अंतःकरण के सुख के लिए अत्यंत मनोहर भाषा में रचना विस्तृत करता है।

मैं अत्यंत नम्रतापूर्वक पूछना चाहता हूँ कि इस श्लोक में तुलसी ने कहा स्वीकार किया है कि वह दूसरे ग्रंथों से अनुवाद कर रहे हैं। इस श्लोक का तात्पर्य केवल इतना ही है कि पुराणों, वेदों, शास्त्रों, वाल्मीकि रामायण और अन्य ग्रंथों से प्राप्त रामकथा को हिंदी में विस्तारपूर्वक दिया जा रहा है। क्या कहीं से कथानक लेने और अनुवाद में कोई अंतर

नहीं है? कथानक तो दूसरी पुस्तकों से लिया हो जाता है। कथानक तो लेखक के चरित्रचित्रण, दृश्यों के वर्णन एवं कथोपकथनों की कल्पना स्वयं करता है। किसी पुस्तक का सार या मत देना उन के किसी स्थल के शब्दशः अनुवाद से सर्वथा भिन्न है।

लोगों के अज्ञान का लाभ

इस श्लोक में अनुवाद वाली बात कहीं नहीं है, अन्य ग्रंथों से सहायता लेने की स्विकारोक्ति है. उसे भी तुलसी ने संस्कृत में लिख कर जनसाधारण की दृष्टि से ओझल कर दिया है. तुलसी ने रामकथा हिंदी में इसी लिए लिखी कि जनसाधारण संस्कृत नहीं समझता था. फिर साधारण लोग उन की उक्त बात को ही कैसे समझ लेते! इस के साथ ही तुलसी ने अपनी मौलिकता की घोषणा कितने ही स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में की है:

“कवि न होउं नहिं चतुर कहावउं,
मति अनुरूप राम गुन गावउं.”

—रा. च. मा., बाल कांड

क्या 'मति अनुरूप' शब्द का अर्थ मौलिकता के अतिरिक्त कुछ और हो सकता है? तुलसी ने क्या कहीं अपने को ग्रन्थयनशील स्वीकार किया है? यदि उन की नम्रताभरी बातों को सत्य मानें तो इस के अतिरिक्त क्या चारा है कि सारी उक्तियां उन्होंने स्वयं सोच कर लिखी हैं: "कवि न होउं नहिं बचन प्रवीण, सकल कला सब विद्या हीन."

—रा. च. मा., बाज कांड
जो व्यक्ति सब विद्याओं से हीन
होगा, वह दूसरों से सुन कर किसी ग्रंथ
के सार का ही वर्णन कर सकता है या
फिर अपनी कल्पना का सहारा ले सकता
है.

उस के द्वारा भिन्नभिन्न ग्रंथों के उत्तम स्थलों का अक्षरशः अनुवाद क्या संभव है?

की कविता नहीं सुनते पढ़ते वे मति एवं विवेकहीन हैं। अग्रणी इस प्रसंग की कविता लिखना एकांगी एवं संकुचित दृष्टिकोण नहीं है? तुलसी ने अपनी कविता में कौन सा विश्वविदित गुण बताया है:

“एहि मह रघुपति नाम उदारा,
अति पावन पुरान श्रुतिसारा।”

हाथी के दांत

हम तुलसीदासजी की भक्तिभावना एवं श्रद्धा का आदर करते हैं साथ ही पूछना चाहते हैं कि तुलसी को वास्तव में राम नाम पर इतना विश्वास था? यदि वह राम नाम का इतना महत्त्व समझते थे तो इतना बड़ा महाकाव्य लिखने की क्या आवश्यकता थी? दसगंज पानों में रामराम लिख देते. फिर क्यों विभिन्न ग्रंथों का अध्ययन किया और उन के अनुवाद दिए?

कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि हाथी के दांत दिखाने के और होते हैं तथा खाने के और. तुलसी ने भी अन्य कवियों के समान अपनी कविता में काव्य-शास्त्र के सब गुण रखने का प्रयास किया है. क्या 'स्वांतः सुखाय' कविता लिखने वाले को अपने रचना के अधिकाधिक प्रचार एवं दूसरों की पसंद की चिंता होती है? तुलसी ने स्वयं स्वीकार किया है कि कविता की शोभा लिखने वाले कवि के पास नहीं, पढ़ने वाले पाठक के पास है. जिस कविता का विद्वान लोग आदर नहीं करते, उसे लिखने का श्रम व्यर्थ जाता है :

“मनि मानिक मुकुता छवि जंसी,
अहि गिरि गज सिर सोह न तंसी.
नृप किरौट तरुनी तन पाई,
लहंहि सकल सोभा अधिकाई.
तसंहि सुकवि कवित बुध कहंही,
उपजंहि अनत अनत छवि लहंही.
जे प्राकृत कवि परम सयाने,
भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने.

भए जे अहंहि जे होइहैं आगे,
प्रनबउ सबहि कपट छल त्यागे.
होइ प्रसन्न देहु वरदानू,
साधु समाज भनिति सनमानू.
जो प्रबंध बुध नहि आदरहंही,
सो खम वादि बाल कवि करहंही.

उक्त पंक्तियों की किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है.

एक पाठक ने लिखा है कि मैं ने मौलिकता एवं अनुवाद के अंतर पर ध्यान नहीं दिया. उन के अनुसार “उपलब्ध सामग्री का यथास्थान एवं यथावसर उपयोग कर प्रतिपाद्य विषय की व्यवस्था एवं शैली ही मोटे तौर पर मौलिकता कही जा सकती है.”

मैं मौलिकता की इस परिभाषा से सहमत हूं और यह भी मानता हूं कि तुलसी साहित्य में मौलिकता है, पर किन्हीं भी स्थलों का अक्षरशः अनुवाद तो अनुवाद ही कहा जाएगा, मौलिकता नहीं. आजकल लोग यदि कोई उद्धरण देते हैं तो मूल लेखक का नाम एवं रचना का उल्लेख करते हैं. तुलसी ने स्थानस्थान पर कुछ उल्लेख किए भी हैं पर वे गलत हैं. क्या वह सचसच नहीं बता सकते थे कि यह स्थल अमुक ग्रंथ का है :

इसी प्रसंग में दूसरे पाठक का कहना है कि मूल तो कुछ होता ही नहीं है. उन्होंने मुझे भी अनुवादक बताया है:

“लेखक महोदय इस से इनकार नहीं कर सकते कि ज्ञान हमेशा दूसरों से प्राप्त किया जाता है. दूसरों में पुस्तकें भी आती हैं...लेखक ने जो उदाहरण दिए हैं वे भी लेखक का प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही है. इस से उन के लिए अनुवादक की संज्ञा देना भी तो उतना ही न्यायसंगत है जितना तुलसी को...वास्तविकता तो यह है कि जिन पुस्तकों के उदाहरण लेखक ने दिए हैं वे भी एक प्रकार से अनूदित हैं, मूल तो कुछ और ही है. जैसे कोई भी शोध छात्र अपने निबंध में जो कुछ देता है, वह उस के लिए अपनी भावनाओं का आधार

CC-0. Agamganga Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हो सकता है, लेकिन वास्तव में वह भी अनूदित है। मूल तो उस में भी कुछ और ही होता है।”

कितनी मौलिकता?

पता नहीं पाठक महोदय कहना क्या चाहते हैं? इसे कौन नहीं मानता कि ज्ञान दूसरे व्यक्तियों एवं उन की पुस्तकों से भी प्राप्त किया जाता है। पर किसी की पुस्तक का अक्षरशः अनुवाद करना अपना ज्ञान प्रदर्शित करना नहीं है। मुझे अनुवादक कहने में यदि किसी को संतोष होता है तो वह कह सकता है। वैसे मेरा लेख अनुवाद किस हिसाब से है? अगर यह लेख हिंदी के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा में कोई लिखता और मैं उस का हिंदी में शब्दशः अनुवाद करता तो मैं अनुवादक कहलाता। आप को बुरा तो लगेगा, पर इस से आगे की बात भी बता दूं। यदि मैं मूल लेखक का नाम ले कर उस निबंध को अपना लिखा बताता तो मैं कहलाता—चोर!

इसी संदर्भ में एक अन्य पाठक ने लिखा है:

“क्या विश्व का कोई भी ग्रंथ ऐसा है जिस में अन्य ग्रंथों से भाव, विचार न लिए गए हों तथा संपूर्ण प्रतिपाद्य सामग्री संपूर्णतः लेखक की अथवा कवि की मौलिक हो?”

मैं क्या, यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि भाव या विचार लेना बुरा है, या इस से मौलिकता समाप्त हो जाती है। पर भाव या विचार लेना और शब्दशः अनुवाद करना दो अलगअलग बातें हैं। कहीं से कथानक या प्रेरणा ले कर रचना करना मौलिकता को नष्ट नहीं करता। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण गुप्त की ‘यशोधरा’ व ‘साकेत’, प्रसाद की ‘कामायनी’ और दिनकर की ‘उर्वशी’ का नाम ले सकते हैं।

कुछ पाठकों ने सुझाव दिया है कि विभिन्न पुस्तकों के उत्तम स्थल सरल

भाषा में जनता के सामने रखने के लिए मुझे तुलसी की प्रशंसा करना चाहिए थी, आलोचना नहीं :

“अध्ययन के माध्यम से कुछ प्राप्त कर के अपने देव के आदर्श को प्रस्तुत किया है इस में उन का कोई दोष नहीं, प्रत्युत उन के प्रति लेखक को भी आभार प्रकट करना चाहिए...इतने कठिन श्लोकों को जनता तो समझ नहीं सकती...संस्कृत रामायण को जनता में सुलभ करने व समझने के लिए तुलसी ने अनुवाद किया...जनता ने तुलसी को नहीं, उन के प्रयास को सराहा तो क्या बुरा किया?”

मैं ने यह कब कहा कि हिंदी में राम-चरितमानस लिख कर तुलसी ने बुरा किया या अध्ययन द्वारा प्राप्त सामग्री पाठकों को देना ठीक नहीं है। जनता ने तुलसी का जो आदर किया, उसे कौन नहीं जानता? मैं ने तो जनसाधारण के सामने एक तथ्य मात्र रखा है।

यदि तुलसी इन सब बातों को जनता के सामने रखने से धन्यवाद के पात्र हो सकते हैं तो मैं क्यों नहीं हो सकता? मैं ने भी तो अध्ययन के द्वारा प्राप्त तथ्य जनता के सामने रखे हैं।

सच्ची बात थोड़ी कड़वी लगती है। मेरे पास ऐसे कई प्रस्ताव आए हैं कि मैं इतना परिश्रम ‘रामचरितमानस’ की कथा कहने में करूं तो सफल कथावाचक बन सकता हूं। यदि कथा के बीच में मैं इन्हीं स्थलों को तुलसी की विद्वत्ता सिद्ध करने के लिए सुनाता तो लक्ष्मी बरसती। बात ठीक है। वर्षा अब भी हो रही है—व्यंग्य वाणों की। जैसे :

“इस में लेखक के एकांगी और पिछले दृष्टिकोण का दर्शन होता है।”

“अत्यंत खेद हुआ विचारों की लघुता पर।”

“तुलसी के प्रति ऐसा लिख कर लेखक ने अपना छोटापन दर्शाया है।”

कुछ लोगों के विचारों की लघुता पर

मुझ भी खेद हो सकता है कि वे विचार विनियम का साधारण ग्राहक नहीं जानते।

तुलसी साहित्य अनुवाद मात्र

एक सज्जन ने मेरी शैली पर आक्षेप किया है कि वह व्यंग्यात्मक एवं खिल्ली उड़ाने वाली रही है। इस विषय में मुझे कुछ नहीं कहना। शैली ऐसी वस्तु नहीं जो बदली जा सके।

लगभग सभी पाठकों ने स्वीकार किया है कि तुलसी ने अनुवाद किया है। उन के अनुसार अनुवाद करने वाली बात तुलसी ने भी स्वीकार की है। फिर मेरी बात उन्हें बुरी क्यों लगी? मैं ने तुलसी के मौलिक स्थलों के लिए तो कुछ नहीं कहा। मैं अपने शब्द उद्धृत करता हूँ।

‘नीचे कुछ विशिष्ट स्थलों की चर्चा की जा रही है। इन में अधिकांश स्थल ऐसे हैं, जिन्हें तुलसी साहित्य का मर्म कहा जाता है और लोग जिन्हें तुलसी की उद्भावना समझ कर प्रसन्न होते हैं।’ (रिप्रिंट नं. 35)

जो लोग पहले से ही यह जानते थे कि वे स्थल तुलसी की अपनी सूझ नहीं अनुवाद हैं, उन्हें बुरा नहीं लगना चाहिए। पर मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि अधिकांश पाठकों को यह नहीं मालूम था।

मैं ने कुछ स्थलों के अनुचित या असंबद्ध होने की चर्चा की थी। उस श्रोत किसी ने ध्यान नहीं दिया। इसी से मैं समझता हूँ कि मेरी बात ठीक है।

एक पाठक ने एक स्थल की चर्चा इस तरह की है।

“जहां तक भरद्वाज ऋषि के आश्रम के प्रसंग में उल्लिखित वनितादिक भोगों के संबंध में शंका का प्रश्न है, गोस्वामी ने वनिता शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ में नहीं किया है...यहां यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि गोस्वामीजी ने ‘कवितावली’ में ‘वनिता’ शब्द का प्रयोग

जगज्जननी जानकीजी के लिए भी किया है, वनितादिक भोगों का प्रयोग रामल गौर के बीच...”

उक्त प्रसंग अत्यंत स्पष्ट है। जहां तक वनिता शब्द को बुरे अर्थ में न लेने की बात है, मुझे यही पूछना है कि फिर वहां वनिताएं किस लिए थीं? कोई कह सकता है कि पानी पिलाने, हवा करने, पैर दबाने आदि सेवा के लिए हो सकती हैं पर इस का प्रबंध तो रिद्धिसिद्धियों ने पहले ही कर दिया था:

“दासीदास साजु सब लीन्हें,
जुगवत रहाहि मनहि मन दीन्हें।”

इस के बाद तो वहां वनिताओं का होना एक ही प्रयोजन के लिए हो सकता है, जिसे सब समझते हैं।

भरत एवं उन के साथियों का साधारण सत्कार कर के भरद्वाज को संतोष नहीं हुआ।

“भरत बचन मुनिवर मन भाए,
सुचि सेवक सब निकट बुलाए।
चाहिए कीन्ह भरत पहनाई,
कंद मूल फल आनहु जाई।
भलेहि नाथ कहि तिन्ह सिर नाए,
प्रमूदित निजनिज काज सिधाए।
मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता,
तसि पूजा चाहिए जसि देवता।
सुनि रिधिसिधि अनिमादिक आई,
आयुस होय सो करहि गोसाईं।

राम विरह व्याकुल भरत
सानुज सहित समाज,
पहनाई करि हरहु सुभ
कहेउ मुदित मुनिराज।

कहाहि परस्पर सिधि समुदाई,
अतुलित अतिथि राम लघुभाई।
मुनि पद बंदि करिअ सोई आजू,
होई सुखी सब राज समाजू।
अस कहि रचे रचिर गृह नाना,
जेहि विलोकि बिलखाहि विमाना।
जेहि विभूति भूरि भरि राखे,
देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे।
दासीदास साजु सब लीन्हें,

जुगवत रहहिं मनहिं मन दीन्हें.

मुनि प्रभाज जव मुनि बिसारहिं

सब लघु लगे लोकपति लोका.

सुख समाजु नहीं जाइ बखानी,

देखत विरति बिसारहिं जानी."

ध्यान देने योग्य पंक्तियां "मुनिहिं सोच पाहुन बड़ नेवता, तसि पूजा चाहिए जसि देवता," "अतुलित अतिथि राम लघु-भाई" तथा "देखत विरति बिसारहिं जानी" हैं. भरद्वाज और रिद्धिसिद्धि सभी ने भरत को विशिष्ट व्यक्ति मान कर उन के अनुकूल स्वागत की तैयारी की. उस स्वागत में अवश्य ही कोई विशेष आकर्षण रहा होगा, तभी तो उसे देख कर जानी लोग वैराग्य भूल सकते थे.

इस प्रसंग में वनिता शब्द का अर्थ बुरा है या नहीं, इसे बताने के लिए हम कुछ पंक्तियां और उन का अर्थ दे रहे हैं. अर्थ है—हनुमानप्रसाद पोद्दार द्वारा लिखित एवं गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित:

"रितु बसंत वह विविध बयारी,

सब कहं सुलभ पदारथ चारी.

स्वक चंदन वनितादिक भोगा,

देखि हरष विसमय बस लोगा."

(वसंत ऋतु है, शीतल, मंद, सुगंध तीन प्रकार की हवा बह रही है. सभी को (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) चारों पदार्थ सुलभ हैं. माला, चंदन, स्त्रीआदिक भोगों को देख कर सब लोग हर्ष और विषाद के वश हो रहे हैं. हर्ष तो भोग सामग्रियों को

एवं मुनि के तपप्रभाव को देख कर होता है और विषाद इस बात का है कि श्री राम के वियोग में नियम, व्रत से रहने वाले लोग भोगविलास में क्यों फंसे? इन में आसक्त हो कर हमारा मन नियमव्रतों को न त्याग दे.)

"संपति चकई भरत चक

मुनि आयसु खेलवार,

तेहि निसि आश्रम पींजरा

राखे भा भिनुसार."

(संपति, भोगविलास की सामग्री चकवी है और भरतजी चकवा हैं और मुनि की आज्ञा खेल है, जिस ने उस रात आश्रम रूपी पिंजड़े में दोनों को बंद कर रखा और ऐसे ही सबेरा हो गया. (जैसे किसी बहेलिए के द्वारा एक पिंजड़े में रखे जाने पर भी चकवीचकवे का रात को संयोग नहीं होता. वैसे ही भरद्वाजजी की आज्ञा से रात भर भोग सामग्रियों के साथ रहने पर भी भरतजी ने उन का मन से भी स्पर्श नहीं किया.)

यदि वनिता शब्द का बुरा अर्थ नहीं है तो फिर इतनी सफाइयां देने की क्या आवश्यकता थी? वह भोग सामग्री तपः प्रसूत होने से भी निर्दोष नहीं मानी जा सकती. यदि ऐसा था तो भरत ने उन से क्यों परहेज किया? वैसे भी शराब चाहे मोल की हो या मुफ्त की, नशा तो करती ही है. भरत के पास वनिता भोजना अनुचित था, इसे सिद्ध करने के लिए अब किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है. ●

हिंदुओं के मंदिर कैसे हों?

प. क. पुट्टस्वामी

झूठी कहानियां गढ़ कर शूद्रों से उन्नति और शिक्षा प्राप्त करने के सब अधिकार छीन लिए.

आदिम मनुष्य झुंड बना कर एक जगह से दूसरी जगह घुमा करता था. उन दिनों प्राकृतिक प्रकोपों और जंगली जानवरों के कारण यात्रा बहुत कठिन होती थी. मनुष्य की विचारशक्ति ने उसे इन दुर्घटनाओं, जंगली जानवरों और विशेषरूप से सांपों के हमलों, तूफानों, सूरज की गरमी, चांद की शीतलता, भयानक समुद्र, नदियों, बाढ़, वज्र, आग इत्यादि के बारे में सोचने और उन्हें ऐसी शक्तियों के रूप में स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया, जिन के सामने झुक कर वह उन्हें शांत कर सकता था.

जानवर अपने सामने आने वाले खतरों का डट कर मुकाबला करते थे. वे लड़ते हुए या तो विजयी होते थे या नष्ट हो जाते थे. सौभाग्य से उन की आने वाली पीढ़ियों को अपने विरोधी का मुकाबला करने और उस से लड़ने के बजाए उस के सामने झुकने जैसा फूहड़ काम नहीं करना पड़ा. लेकिन जब कभी मनुष्य तूफान से भयभीत हुआ तो उस ने बिलकुल असहाय हो कर यह सोच लिया कि उस तूफान के पीछे किसी देवता का हाथ है, जो गुस्से में आ कर अकसर तूफान रचा करता है.

मनुष्य ने अपनी रक्षा के लिए देवता से प्रार्थना की और इस तरह अत्यधिक भय की स्थिति से पहलेपहल ईश्वर की धारणा का जन्म हुआ.

इस विशेष देवता पर कुछ गुणों का आरोप किया गया. उस की प्रशंसा की गई और उसे उपलब्ध वस्तुएं भेंट में दी गईं, उस के नाम पर पशु बलि दी गई और उस की शक्ति और उस के जादुई प्रभाव की कथाएं रची गईं. इस तरह मनुष्य ने इस देवता को खुश कर के खतरों से बचने का तरीका ढूंढ़ निकाला.

धीरेधीरे कबीले के कुछ लोगों का प्रार्थना या पूजा करने के कुछ तरीकों में विशेषता हासिल कर लेना स्वाभाविक ही था. इन विशेषज्ञों ने प्रार्थना तथा अधिकार के साथ पूजा आदि धार्मिक कृत्यों को पूरा करने की योग्यता के आधार पर जिस से न केवल कबीले के लोग भयभीत रहते थे, बल्कि जिस से इन विशेषज्ञों को कबीले के जीवन के संबंध में महत्वपूर्ण मामलों में अपनी बात मनवाने का हक भी मिल गया, इन्होंने अपने लिए कबीले में सब से ऊंचा स्थान हथिया लिया.

जैसेजैसे कबीले में पुजारी का सम्मान व प्रभाव बढ़ने लगा. वैसेवैसे उस ने न सिर्फ न्यायसभाएं बैठानी शुरू कर दीं बल्कि वह किसी विशेष स्थान—किसी कुटिया—में जीवन के मूलभूत तत्वों का पाठ भी पढ़ाने लगा. पुजारी की अध्यक्षता में समाज या कबीले के सभी मामलों पर विचारविमर्श करने के लिए सभास्थल के रूप में इस कुटिया की महत्ता बढ़ती गई.

जब विभिन्न देवताओं की सहायता

हासिल करने के लिए उन की पूजा करना समाज का नियम था। अतः उन लोगों को (पूजित लोगों को) एक निश्चित रूप में ढालने का विचार भी जोर पकड़ने लगा और साथ ही उन के संबंध में अनेक कहानियाँ भी रची जाने लगीं।

सर्प देवता, अग्नि देवता और इसी तरह के बहुत से देवताओं को मनुष्य की आकृति में ढाला गया। उन्हें एकएक नाम दिया गया और साथ ही उन में पुजारी के माध्यम से वरदान या बंड देने की अनीम शक्ति का निवास स्वीकार कर लिया गया। सभी स्थलों को सौम्य बनाने के लिए किसी एक देवता या सभी देवताओं को वहां स्थापित कर दिया गया और इस तरह मंदिरों की प्रथा चल पड़ी।

देवताओं को वहाँ पर ईश्वर और सत्य का भय उपजाने के लिए स्थापित किया गया था। इस से न्याय की प्रकृति बहुत सरल हो जाती थी, क्योंकि उस से मनुष्य देवताओं के क्रोध का शिकार बनने से डरता था। इस से अधिक उसे पुजारी के क्रोध का भय रहता था।

शुरूशुरू में कबीले के इस सभास्थल का उपयोग लोगों के आपस में बैठ कर विचारविमर्श करने, भविष्य के बारे में योजना बनाने और आपसी विवादों में न्याय करने तथा पढ़नेपढ़ाने के लिए किया जाता था। फिर देवताओं की स्थापना हो गई और इस के साथ ही पुजारी के माध्यम से देवताओं की पूजा करने की प्रथा चल पड़ी। पुजारी के हथकंडों से पूजा आदि धार्मिक कामों के जोर पकड़ने के साथ-साथ लोगों के बैठने के प्रबंध का महत्त्व भी बढ़ने लगा।

इस तरह देवताओं के लिए विशेष देवियाँ बनाई गईं। लोगों को देवताओं को खुश करने के लिए हर एक उपलब्ध वस्तु को भेंट करना सिखाया गया। कहा गया कि देवताओं को जितनी अधिक भेंट दी जाएगी उतनी ही वे सहायता करेंगे।

जब कभी लोग वहां इकट्ठे होते तो

सब से पहले देवताओं की शुभकामनाओं के लिए प्रार्थना की जाती है। फिर दूसरी बातों की ओर ध्यान दिया जाता। अपने डर को मिटाने की खातिर देवताओं की शुभकामनाएं हासिल करने के लिए लोग देवता के नाम पर लगातार पुजारी को चीजें भेंट में देने लगे और इस तरह पुजारी के जरिए पूजा करने का रिवाज चल पड़ा।

समय के साथसाथ देवताओं को जवाहरात आदि भी भेंट में मिलने लगे, जिस से पुजारी और उस के भक्तों को देवता को किसी ऐसे सुरक्षित स्थान में रखने की प्रेरण मिली जहां चोर आदि न पहुंच सकें. सभास्थल के हाल में एक कमरा बनाया गया. क्योंकि इस कमरे में कीमती जेवरात रखे जाने थे. इसलिए इस में न कोई-खिड़की निकाली गई, न कोई दरवाचा, सिर्फ सामने की ओर एक छोटा सा दरवाजा बनाया गया.

कोई भी व्यक्ति किसी भी समय जा कर पुजारी से जो, हर समय वहां रहता था, पूजा करवा सकता था. क्योंकि देवता एक अंचरे कोने में (कमरे में खिड़की तो होती न थी) लिटाया हुआ रहता था, इस कारण किसी व्यक्ति के पूजा करने के लिए उस के सामने तेल का दिया जलाने की प्रथा चल पड़ी. साथ ही दर्शनास्थियों के लिए एक पुराना तेल का दिया हमेशा जलता हुआ रखा जाने लगा, जो सारा दिन जलता रहता था.

इस मंदिर ने, जिस में पुजारी के माध्यम से पूजा करने की प्रथा थी, इन पुजारियों को देवताओं को प्रसन्न करने तथा उन का अनुग्रह जगाने की शक्ति के आधार पर मुखिया या राजा को रोजमर्रा के प्रशासनिक मामलों पर सलाह देने का अधिकारी बना दिया. इस तरह हिंदुओं में पुजारियों और गुरुओं का यह वर्ग प्रकट हुआ. सलाहकारों और प्रशंसकों के ये दो वर्ग थे—ब्राह्मण और क्षत्रिय.

इस के बाद तीसरा वर्ग वंश्यों का

था। समाज के स्तंभरूप किसान सारे समुदाय के कारीगर होते, अपने-अपने उच्चकुल की स्त्रियाँ से पैदा होने के कारण अपने को दूसरों से ऊँचा समझने वाले अभिजात वर्ग के लोगों ने अपने परंपरागत अधिकारों की रक्षा के लिए निचले वर्ग को अपने पेशों के सिवा दूसरी शिक्षा प्राप्त करने के अयोग्य घोषित कर दिया।

समाज के सबसे ऊँचे वर्ग ब्राह्मणों ने क्षत्रिय राजाओं द्वारा अनुमोदित दंत-कथाओं और नियमों की सहायता से अपनी स्थिति और विशेष अधिकारों की हतनी चतुराई के साथ रक्षा की कि शूद्रों से उन्नति और शिक्षा प्राप्त करने के सभी अवसर छिन गए और वे सब से दबे हुए अलग-अलग से हो गए।

इस तरह मंदिर अनजाने में हिंदुओं की जाति प्रथा को मजबूत करने के साधन बन गए। मंदिरप्रथा, हिंदुओं की सांस्कृतिक परंपरा के ये चिह्न, न तो देवताओं के किसी उपयोग के हैं और न मनुष्यों के।

यह कहना कि मंदिर ऐसी जगह हैं, जहाँ लोग परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इकट्ठे होते हैं, कोरी गप्प है। सभी पुराने मंदिर अंधेरे हैं और उन में हवा के आनेजाने के लिए कुछ भी प्रबंध नहीं किया गया है। ये सब मंदिर बड़े-बड़े पत्थरों के बने हुए हैं जिस कारण इन के सौंदर्य के मौलिक रूप को बनाए रखना खुद एक समस्या है।

क्योंकि हमारे पास उन की मौलिक एकता को बनाए रखने के लिए जरूरी साधन नहीं हैं इसलिए सबसे अच्छी बात यह है कि उन्हें गिरा दिया जाए जिस से नए मंदिरों के लिए जगह बन सके। लेकिन पुजारियों के ग्रंथों और उन की वाणी से प्रकट होने वाला देवताओं का क्रोध इस के आड़े आ जाता है, और अपनी सारी आधुनिक शिक्षा के बावजूद हर एक हिंदू इस पर यकीन करता है।

साधारण किस्म के मंदिरों का वर्तमान रूप इस तरह का है बरामदा, बीच

का हाल, बड़े-बड़े और मोटे स्तंभ, देवता की कोठरी और, डफाले हुए चारों ओर का रास्ता, ऐसे भी मंदिर हैं जिन में बरामदे या बीच के हाल नहीं हैं, लेकिन उन में भी देवता की कोठरी के चारों ओर बिना गद्दी बिछी खाली जगह होती है, जो चारों ओर से बरामदे से सटी होती है।

दूसरी किस्म के मंदिर हवादार और संवरे हुए होते हैं। हिंदुओं के किसी भी मंदिर में फर्श के अलावा बैठने का कोई इंतजाम नहीं होता। इन मंदिरों के क्रिया-कलाप को देख कर भक्तजनों के उद्देश्यों पर संदेह होने लगता है।

दर्शनार्थी पूजा के लिए लाई हुई उपयोगी वस्तुओं को पुजारी के हवाले कर देता है और फिर उस का काम खत्म। वह वहाँ बैठ कर प्रार्थना कर सकता है क्या? नहीं हरगिज नहीं! खुद भगवान की पूजा करना उस की सीमा में नहीं होता और वहाँ आसपास बैठने का मतलब है कपड़े गंदे करना क्योंकि बैठने के लिए वहाँ सिर्फ फर्श ही होता है। इस कारण सफाईपसंद लोग पूजा के दौरान खड़े रहना ज्यादा पसंद करते हैं।

मंदिर में जाने से पहले हिंदू दर्शनार्थी या भक्त को हाथपांव धोने की सुविधा नहीं होती। दर्शनार्थियों के पांव के साथ धूल और गंदे मंदिर के भीतर जमा होते जाते हैं। केलों के छिलके, हल्दी, चावल, कुमकुम, तेल, नारियल की छाल, सीपियाँ, पानी, फूलपत्तियाँ चारों ओर फँसी रहती हैं। ईश्वर की खोज करने वाला व्यक्ति क्या इन पर बैठेगा?

मंदिर में चारों ओर कहीं भी आवश्यक सुविधाओं का प्रबंध नहीं होता। शायद मंदिर के लोगों को शौच आदि जाने की जरूरत महसूस नहीं होती। इस का परिणाम क्या होता है? मंदिर के चारों ओर की जगह का पाखाने और मूत्रालय के रूप में उपयोग किया जाता है।

संक्षेप में कहा जाए तो कह सकते हैं

कि हिंदुओं के मंदिर बाहर से देखने पर पूजा और चिंतनमनन की जगह कम, और लेनदेन की गंदी व्यापारिक जगह ज्यादा लगते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हिंदू लोग इस स्थिति पर गंभीरता से विचार करें। मंदिरों को फिर से ठीक कर के साफसुथरी जगह के रूप में बदलना होगा जहां दर्शनार्थी पूजा कर सकें।

मंदिर का मतलब ऐसी जगह नहीं होना चाहिए जहां कोई भी आ कर बैठ जाए और अंगड़ाइयां लेने लगे। पूजा और ईश्वर संबंधी कार्य के सिवा किसी और काम के लिए उपयोग नहीं होना चाहिए।

मंदिर बस्तियों के शोरगुल से दूर बने होने चाहिए, जिस से उन की शांति और सौम्यता बनी रहे। उन के चारों ओर काफी खाली जगह होनी चाहिए, जहां पेड़ आदि लगाए जा सकें। लोगों के बैठने के लिए सीटों का भी इंतजाम होना चाहिए।

मंदिरों में चारों ओर एक काफी बड़ा बरामदा, अनुमानित दर्शनार्थियों के बैठने के लिए काफी बड़ा हाल और बीच में एक ऊंची वेदी पर देवता की जगह होनी चाहिए, जो चारों ओर से खुली हो।

देवता की मूर्ति सुरुचिपूर्ण होनी चाहिए और उसे अच्छे रंग वाले रेशमी कपड़ों और जेवरों से नहीं ढकना चाहिए।

पास ही एक दानपात्र होना चाहिए। दान में आया हुआ पैसा सिर्फ मंदिर की देखभाल और मरम्मत पर ही खर्च किया जाना चाहिए। पुजारी के लिए हाल के एक ओर ऊंची जगह होनी चाहिए। जहां से वह सामूहिक प्रार्थनाएं, विचारविमर्श आदि करवा सके। हाल के सभी ओर दरवाजे होने चाहिए, जिन में से रोशनी और हवा आ सके।

जहां कहीं बिजली उपलब्ध है वहां तेल के दिव्यों का उपयोग बंद कर दिया जाना चाहिए। जंजीरों पर छोटीछोटी घंटियां लगी होनी चाहिए जिन्हें पुजारी सामूहिक प्रार्थनाओं के समय बजाएं तो वे लयात्मक धुन में बज उठें। दीवारों पर

भग्य वातावरण के अनुरूप रंग किया जाना चाहिए और उन पर विभिन्न-भिन्न चित्र बने होने चाहिए जो सभी हिंदुओं और इस तरह सारे संसार के लोगों में भाईचारे की भावना को अधिकाधिक बढ़ावा दें।

सामूहिक प्रार्थनाओं या भजन आदि के लिए हाल के सिरे पर गानेबजाने वालों के बैठने के वास्ते निश्चित जगह बनी होनी चाहिए।

फर्श पर नर्म टाइलें बिछी हुई होनी चाहिए और छतें वेदरप्रूफ तथा इंसुलेटेड होनी चाहिए।

पुजारी के लिए साफसुथरा मकान होना चाहिए और सब से अच्छा तो यह है कि पुजारी कोई अविवाहित युवक हो, जो मंदिरों के क्षेत्र के लोगों की भलाई में रुचि ले। मंदिर के दूसरे कर्मचारियों के लिए भी मंदिर के ही अहाते के भीतर क्वार्टर बने होने चाहिए।

लोगों के लिए मंदिर के भीतर पानी का प्रबंध होना चाहिए। हो सके तो पानी ऊंची टंकियों में भरा रहना चाहिए। जहां से हाथपांव धोने और नहाने के लिए पानी नलों में भेजा जा सके। नहाने के हौज नहीं होने चाहिए। क्योंकि वे मंदिर की भद्रता को चोट पहुंचाते हैं और उन से सफाई भी नहीं रहती। पेशाबघरों और पाखानों का, जिन में पानी की उचित सप्लाई हो, होना भी जरूरी है।

मंदिर की इमारत जहां तक हो सके बिल्कुल सादी होनी चाहिए। उस की बनावट और मूर्तियों में फुहड़पन और चटकमटक न हो। इस से मंदिर की इमारत और मूर्तियों के रखरखाव में भी सरलता रहेगी।

संसार में मनुष्य की स्वतंत्रता ही सर्वोच्च है। इसलिए उसे अपने आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में अपने इन मंदिरों को, किसी देवता या हजारों साल पहले के पुरखों के नाराज होने का डर बाधा नहीं बनना चाहिए। ●

रावण

अविनाश

रावण की भर्त्सना क्या अनुचित नहीं थी?

रावण एक ऐतिहासिक नायक है। फिर भी ऐतिहासिक विश्लेषणों में रावण की पर्याप्त उपेक्षा की गई है, जिस का लक्ष्य इतिहास को तोड़मरोड़ कर रावण को अति विकृत रूप में प्रस्तुत कर के उस की चरित्रहत्या करना है। यह इतिहास के प्रति तो भयंकर अन्याय है ही, साथ ही साथ सामाजिक न्याय के बुनियादी सिद्धांतों के प्रति विश्वासघात भी है। रावण के प्रति किए गए अब तक के विश्लेषण इतिहास के लक्ष्यों की आपूर्ति करते हैं क्या? लेखक के विचार से ये विश्लेषण अपर्याप्त तथा अपूर्ण हैं। यदि इतिहास के लक्षणों को कसौटी मानें, जो कि निम्नलिखित हैं, तो क्या रावण का वही चरित्र प्रतिफलित होगा जो आज हमें उपलब्ध है? इस के पूर्व कि इस विवेचना को हम उचित परि-प्रेक्ष्य में देखें, हमें इतिहास के लक्षणों पर एक दृष्टि डाल लेना अप्रासंगिक न होगा। संक्षेप में ये लक्षण निम्नलिखित हैं :

तथ्यों का अन्वेषण करना,

उन के कारणों का पता लगाना,

तथ्यों का विश्लेषण कारणों की पृष्ठभूमि में करना, एवं

भावी नीति निर्धारण में उन के योग को अंगीकार करना।

क्या हम ने रावण के विषय में तथ्यों का अन्वेषण उचित प्रकार से किया है? क्या उन तमाम कारणों को जानने का प्रयास किया गया है जिस पर उस के

चरित्र का निर्माण हुआ? और क्या हम ने उस को इस दृष्टि से विश्लेषित करने का प्रयास किया है? शायद नहीं।

लेकिन रावण के चरित्र का सही तौर पर विश्लेषण, यथातथ्यात्मक इतिहास सुरक्षित रखने की दृष्टि से अनिवार्य हो गया है। क्योंकि ऐसे नायकों के, जिन्होंने न केवल अपने युग में वरन इतिहास में सदासर्वदा के लिए एक अमिट छाप छोड़ दी है, जिन के ऊपर इतिहास की आधार-भित्ति निर्मित हुई है, उन के चरित्र को विकृत करने का सतत सफल प्रयास किया गया है। चाहे जिन कारणों से भी हो। इस दृष्टि से हम सिर्फ रावण के चरित्र की उदात्तता का एक यथातथ्य विश्लेषण प्रस्तुत लेख में अनुबद्ध करने का प्रयास करेंगे।

रावण, यह शब्द उच्चरित होते ही सर्वसाधारण, जो रामायण से जरा भी परिचित है, एक अति कुरूप, दसमुखों और बीस भुजाओं वाले अत्यंत वीभत्स व्यक्ति का छायाचित्र मन में बना लेता है। वास्तव में, यदि हम मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो प्रायः शत प्रति शत मनुष्य किसी बात की सत्यता या असत्यता का निर्णय अपनी उन मनोवृत्तियों तथा भावनाओं के आधार पर करते हैं जो पहले से ही उन की बुद्धि को प्रभावित किए रहती हैं। पर एक स्वतंत्र विचारक को पक्षपातशून्य हो कर विचार करना

चाहिए तथा वास्तविकता का विवेचन अपने विवेक के आधार पर करना चाहिए। किसी एक ऐसे व्यक्ति के बारे में यदि हम कुछ निर्णय करना चाहें जिस का अस्तित्व वर्तमान काल में न हो तो हमें तत्कालीन इतिहास, साहित्य या अन्य विवेचनात्मक ग्रंथों का आश्रय लेना पड़ेगा। किसी ऐतिहासिक मनुष्य के समकालीन लेखक द्वारा लिखित इतिहास जितना श्रद्धेय, पक्षपात-शून्य तथा वास्तविकता को लिए हुए होगा, उसी विषय पर कुछ काल पश्चात लिखा गया अन्य इतिहास उतना विश्वसनीय कदापि नहीं हो सकता।

पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता

इस लक्षण को आधार बना कर यदि हम रावण के मूल्यांकन का प्रयास करें तो आदि कवि वाल्मीकि कृत 'रामायण' ही हमें सर्वथा शुद्ध तथा निष्कलंक सामग्री प्रदान करने में समर्थ हो सकेंगे। प्रस्तुत लेख में हम स्वयं सर्वथा तटस्थ रहते हुए इस सर्वमान्य ऐतिहासिक ग्रंथ के आधार पर रावण को, जिस का अवमूल्यन न जाने कितनी सदियों से और विशेषकर सोलहवीं शताब्दी में रचित 'रामचरितमानस' के पश्चात हो गया है, पुनर्मूल्यांकित करने का एक लघु प्रयास करेंगे।

इस विषय में तो शायद ही किसी को आपत्ति हो कि रावण अपने समय का एक महाशक्तिशाली व्यक्ति था। महर्षि वाल्मीकि के मतानुसार तो रावण महात्मा और पुण्यात्मा था। केवल विशुद्ध पक्षपात के कारण यदि कोई सज्जन रावण को घृणित शब्दों से स्मरण करते हैं, तो वे महर्षि की 'रामायण' का अपमान करते हैं, क्योंकि महर्षि ने रावण के संबंध में इस प्रकार लिखा है:

महाजनसमाकीर्णः सिंहैरिव महद्वनम्.

516111

अर्थात् जिस प्रकार वन सिंहों से परिपूर्ण रहते हैं, उसी प्रकार वह नगरी

महानगरी (महापंडितों) से समाकुल थी। जिस नगरी, जहाँ विद्वानों का समुदाय था वहाँ का अधिशासक कैसा होगा, यह अनुमान लगा लेना चाहिए :
माहत्मनो महद्वेश्म महारत्न परिच्छदम्,
महारत्न समाकीर्ण ददर्श स महाकपिः.

516113

अर्थात्, उस महात्मा (रावण) की नगरी, जो महारत्नों से समाकीर्ण थी, उसे हनुमान ने देखा।

कांचनांगद सन्नद्धौ ददर्श स महात्मनः.

5110115

अर्थात्, उस महात्मा रावण की भुजा में मणिमय सुवर्ण बाजूबंद पड़ा हुआ था। एवं,
स रावणं महात्मानं विजने मंत्रिसन्निधौ.

611011

अर्थात्, वहाँ उस महात्मा रावण के साथ मंत्रियों के अलावा अन्य कोई न था।

हम देखते हैं कि उपरोक्त श्लोकों में महर्षि वाल्मीकि ने निष्पक्ष भाव से रावण को महात्मा की उत्तम उपाधि से विभूषित किया है। या तो महर्षि मूर्ख थे अथवा हम उन से भी अधिक विद्वान हो चुके हैं कि हम महर्षि द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की अवहेलना कर के रावण को अनेक कुरुषूपूर्ण संबोधनों—यथा पातकी, महानोच, कलंकी आदि—से अभिभूषित करते हैं। जिस महर्षि को संपूर्ण साहित्यसंसार आदि कवि तथा रामचरितद्रष्टा कह कर अभिनंदित करता है, उन्हीं के महावाक्यों को जब कुदृष्टि से प्रतिपादित करने का प्रयास करते हुए अपनी विद्वता (?) का सबूत पेश करते हैं तो हम उस समय अपना ही अपमान नहीं करते है क्या?

एक अन्य उदाहरण पर दृष्टिपात करें। हनुमान सीता को खोज में लंका गए हुए हैं। प्रातःकाल के सुहावने समय में जब वह सीतान्वेषण में व्यस्त थे, उसी समय प्रत्येक राक्षस के घर से निःसृत होती हुई कर्णमधुर वेदध्वनि उन्हीं ने सुनीः षडंगवेदविदुषां ऋतुप्रवर याजिनम्,

अर्थात्, रात्यवसानानंतर षडंग वेदों के ज्ञाता और उत्तमोत्तम यज्ञों के करने वाले ब्राह्मणत्व से विशिष्ट राक्षसों के वेदपाठ की ध्वनि हनुमान ने सुनी।

ब्रह्मज्ञान संपन्नता

एक अन्य शास्त्र में यह कहा गया है कि 'वेदपाठात् भवेद्विप्रः,' अतएव लंका में रहने वाला प्रत्येक राक्षस विप्र हुआ। क्योंकि वेदपाठ की ध्वनि प्रत्येक घर से आ रही थी, ऐसा हनुमान कहते हैं। 'विप्र' शब्द भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह तो ब्रह्मज्ञान की पूर्वावस्था मानी जाती है। जब प्रत्येक घर विप्रों से सुशोभित था तब वहाँ ब्रह्मज्ञान संपन्न लोग न रहे हों यह असंभव बात है। इस प्रकार के विद्वानों से सेवित लंकाधीश को प्रतिवर्ष जब हम रामलीलाओं में निंदित करने का प्रयास करते हैं तो क्या हम अपना ही अपमान नहीं कर रहे होते हैं? आज यदि आप संपूर्ण भारतवर्ष के नगरग्राम खोज डालें तो भी आप एक पूर्ण वेदपाठी को ढूंढने में असमर्थ ही रहेंगे। वेद तो प्रत्येक हिंदू मात्र को मान्य है चाहे वह सनातनधर्मी हो अथवा आर्यसमाजी अथवा मीमांसक। पर पूर्ण वेदपाठी का मिलना तो टेढ़ी खोर से भी कठिन है। रावण की, जिसे हम पातकी एवं नीच कहते नहीं थकते, राजधानी में घरघर वेदपाठी थे तथा घरघर हवनकुंड थे ऐसा हनुमान ने स्वयं देखा। तब भी रावण तो नीच और अधम ही रहेगा क्योंकि वर्तमान व्यासपंडितों की सुकीर्ति पर कौन बट्टा लगाने का साहस करे!

रावण के महलों में सदा वेदप्रतिपादित एवं वेदविधि के अनुसार ही कर्मानुष्ठानादि संपन्न होते थे। अतएव वे देवता, जो हमारे द्वारा पूजित होते हैं, रावण को पूजते थे तथा आज्ञापालन के लिए तत्पर रहा करते थे। अगर कोई सज्जन

अपनी शक्ति के बल से जीत लिया था अतः वे विजित होने के कारण विजेता रावण की सेवादहल किया करते थे, न कि उस के गुणों पर मुग्ध हो कर, तो एक विनम्र प्रश्न आ खड़ा होगा कि वे देवता मिट्टी के माधव के समान व्यर्थ एवं भीरु सिद्ध हुए।

उन की वह पूजा व उपासना, जो हिंदू अपनी रक्षा के ध्येय से करते हैं, व्यर्थ ही सिद्ध होगी। हम तो देवोपासना से शक्ति प्राप्त कर (जैसी की सामान्य धारणा है) आंतरिक, ब्राह्म एवं आगत कारणों का उन्मूलन कर के शक्तिवान बनना चाहते हैं, पर जो स्वयं रावण के डर से थरथर कांपते थे, भला उन का क्या भरोसा? इस प्रकार के व्यर्थ प्रश्न कर के तो हम अपनी जड़ ही खोखली करने का प्रयास करेंगे। रामायण कहती है कि रावण पुण्यात्मा एवं धर्मात्मा था, अतः देवता स्वयं उस के गुणों पर मुग्ध हो कर उस की पूजा व उपासना कर के अपने को कृतकृत्य मानते थे :

गृहाणि नानावसुराजितानि
देवासुरैश्चापि सुपूजितानि,
सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि
कपिर्ददर्श स्वबलार्जितानि। 517

अर्थात्, विविध प्रकार के रत्नद्रव्यों से परिपूर्ण, क्या देवता क्या असुर, सब से पूजित (अर्थात् क्या देवता, क्या असुर सभी इन में रहने तथा रावण की पूजा करने की अभिलाषा रखते थे), समस्त दोषों से रहित तथा रावण के स्वभुजबल से संपादित इन उत्तम भवनों को हनुमान ने देखा।

यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि देवता रावण के प्रताप से आतंकित हो कर तथा रावण के द्वारा जबरदस्ती जीते जाने से बाध्य हो कर उस की पूजा करते थे, तो भी एक शंका उठती है कि उपरोक्त श्लोक में 'सुपूजितानि' तथा 'सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि' पद का प्रयोग महाकवि ने

क्यों किया? क्या ये रावण सम्मान के द्योतक नहीं हैं? क्या ये रावण की निष्कलंकता प्रमाणित नहीं करते? हर साधारण बुद्धि का मानव यह समझ सकता है कि जिस कार्य को स्वेच्छया सानुराग किया जाता है वह कार्य अवश्य 'सुंदर' होता है तथा यदि कार्य बाध्यता से किया जाए तो वह साधारण कोटि का होता है। यहां 'सु' शब्द से महर्षि ने देवों का रावण की पूजा के प्रति अनुराग दिखाया है। अतः उपरोक्त प्रश्न निमूल है। जब हनुमान लंका में पहुंचे तो वहां की शोभा एवं पवित्रता को दृष्टिगत करते हुए उन्होंने सोचा :

स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्यापि पुरी भवेत्,
सिद्धिर्वयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः॥

519

अर्थात्, यह साक्षात् स्वर्गलोक है, देवलोक है, इंद्र की अमरावती नगरी है अथवा अन्य कोई परासिद्धि है!

विशुद्ध चरित्र

यदि रावण निर्दयी, दुष्ट, अधम और पातकी होता तो क्या मारुति जैसे कुशाल बुद्धि संपन्न महात्मा उस के पापाचरणों से अपरचित रहते? यह तो सर्वथा असंभव बात है कि वह अपने ही समकालीन एक राजेंद्र के बारे में, जिस के पास उन्हें सीता के अन्वेषणार्थ जाना भी था, अनभिज्ञ रहते। और यदि वह उस के पापाचरणों से (जिन्हें रावण करता रहा?) परिचित थे, तो फिर उस दुष्ट राजा की नगरी को स्वर्गलोक, इंद्रलोक तथा देवलोक के सम-कक्ष कैसे कह सके? स्पष्ट है कि उन्होंने वहां अमरावती जैसी शोभा, सुपवित्रता, श्रेष्ठता आदि के दर्शन किए। जब आज के युग में भी हम प्रतिभाशाली व्यक्तियों की गरगर से परिचित रहते हैं तो उस समय में तत्कालीन एक प्रसिद्ध समृद्धिशाली राजा के अत्याचारों से महावीर अपरिचित रहे हों, यह कहना तर्कसंगत न होगा।

वह भी नगरी के निवासियों रहनसहन आदि से भलीभांति परिचित थे। उन्हें रावण के आचरणादि पर रंच मात्र भी संदेह नहीं था। अतएव उन्होंने रावण की नगरी को परासिद्धि व देवलोक माना।

महर्षि वाल्मीकि रावण के चरित्र की प्रशंसा करते नहीं अघाते। एक स्थान पर वह कहते हैं :

न तत्र काश्चित्प्रमदाः प्रसह्य
वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः,
न चान्यकामापि न चान्यपूर्वा
विना वरार्हा जनकात्मजां तु॥ 519170

अर्थात्, यद्यपि रावण बड़ा पराक्रमी था तथापि बलपूर्वक वह किसी को हर कर नहीं लाया था (जो वह यदि चाहता तो आसानी से कर सकता था) सम्मान-योग्य जानकी को छोड़ कर। अन्य बहुत सी स्त्रियां रावण के सौंदर्यादि गुणों पर मुग्ध हो कर स्वयं ही उस के साथ चली आई थीं। इन में से कोई भी स्त्री ऐसी नहीं थी जो दूसरे किसी को प्यार करती हो अथवा अन्य किसी पुरुष के साथ उस का संयोग हुआ हो। अर्थात् हनुमान ने वहां जितनी भी स्त्रियों को देखा व सब रावण को पति मानने वाली थीं। उन में अकुलीन, कुलटा तो एक भी न थी।

महर्षि उपरोक्त श्लोक में कहते हैं कि बिना कामिनी की इच्छा के उस ने किसी को अपनी अंकशायिनी नहीं बनाया। एक ओर हम भगवान राम का चरित्र देखते हैं कि उन्होंने शर्पणखा से व्यर्थ उपहास किया और दूसरी ओर हम पाते हैं कि बलवीर्य में श्रेष्ठ होते हुए भी रावण ने 'अन्यकामा' तथा 'अन्यपूर्वा' की ओर नजर तक उठा कर नहीं देखा। और क्या यही रावण के चरित्र की उदारता का द्योतक नहीं है कि उस ने अनिष्ट सुंदरी सीता का हरण कर के लगभग ढाई मास तक अपने पास रखा, पर उस के सतीत्वहरण का कभी प्रयास नहीं किया, जिसे यदि वह चाहता तो बड़ी आसानी से कर सकता था। यदि कोई कहे कि सीता ऐसी तेज-

CC-0. Agam Digital Library. Digitized by eGangotri

स्विनी थीं कि उन रासना जा के उस बुरी नीयत से जाता तो उसे वह जला सकती थीं, तो यह प्रश्न आता है कि इतनी शक्ति रखते हुए भी पंचवटी में जब रावण ने सीता को गोद में उठाया तो उन्होंने रावण को भस्म क्यों न कर दिया? स्पष्ट है कि सीता के पास ऐसी कोई शक्ति थी ही नहीं, अन्यथा वह उस का उपयोग करने से कभी न चूकतीं।

अबला का उपहास

रावण के चरित्र में एक कलंक, जो लोग लगाते हैं, वह सीताहरण का है। यह तो निर्विवाद है कि रावण ने सीता का हरण किया। पर उस ने अनेक सुंदरी पत्नियों के रहते ऐसा आखिर क्यों किया? इस कारण पर विचार किए बिना कार्य (सीताहरण रूपी कर्म) पर अपना अभिमत प्रकट करना स्वस्थ व्यक्तित्व का लक्षण नहीं कहा जा सकता। इस के पूर्व कि घटना पर विचार किया जाए, तत्कालीन स्त्री स्वातंत्र्य पर एक नजर डालना अस्वाभाविक न होगा। पांडुमाद्रीसंलापांतर्गत 'श्वेतकेतु कथा' में यह कहा गया है कि स्त्रियां स्वतंत्र थीं। वे चाहे जहां भी बेरोक-टोक आ जा सकती थीं। उन की पुरुष से पति विषयक अभ्यर्थना (जैसी शूर्पणखा द्वारा राम से की गई) अनुचित न थी। इस बात से हम इनकार नहीं कर सकते कि शूर्पणखा ने राम से विवाहार्थ प्रार्थना की, जो सर्वथा न्यायसंगत थी। उत्तर में भगवान राम ने अपने विवाहित होने की विवशता प्रकट करते हुए 'लक्ष्मण अविवाहित है, उस के पास पत्नी नहीं है, वहां जाओ' ऐसा कहा पर लक्ष्मण ने उसे राम के पास भेजा और राम ने पुनः लक्ष्मण के पास।

इस प्रकार का उपहास रामचंद्र ने एक अबला के साथ किया जो शास्त्रविग-हित तथा अनुचित था। क्या यह सत्य था कि लक्ष्मण अविवाहित थे? यदि नहीं तो भगवान राम ने इस प्रकार का असत्य

साधन बना के, आप्ताद्वेषन क्यों कलंकित किया तथा एक स्त्री को भी कष्ट दिया? घटनाक्रम से स्पष्ट है कि उन के मन में अनुचित उपहास का विचार अवश्य था। यदि यह न होता तो वह वास्तविक घटना को छिपा कर शूर्पणखा का मजाक न उड़ाते। फिर राम ने शूर्पणखा के नाककान लक्ष्मण को आदेश दे कर कटवा लिए।

यदि यह कहा जाए कि शूर्पणखा सीता को खाने दौड़ी, इसलिए राम ने लक्ष्मण को शूर्पणखा के नाककान काट लेने को कहा, तो वह बात भी कपोलकल्पित तथा निराधार ही है। संपूर्ण 'रामायण' आप उलट डालिए फिर भी शूर्पणखा अथवा रावण ने किसी स्त्री या पुरुष को खाया हो, ऐसा प्रमाण कहीं भी नहीं मिलता। फिर यदि उस को खाना ही अभिधेय होता तो वह नाककान कट जाने पर क्या सीता को नहीं खा सकती थी? क्या नाककान द्वारा खाया जाता है? इस में संदेह नहीं कि शूर्पणखा ने 'सीता को खा जाऊंगी' ऐसी धमकी अवश्य दी थी। क्या वर्तमान समय में हम लोग भी क्रुद्ध हो कर एक-दूसरे को कच्चा चबा डालने की धमकियां नहीं दिया करते? पर क्या आज तक किसी ने किसी को कच्चा चबाते देखा है?

अस्तु, शूर्पणखा के नाककान काट कर राम ने रावण को प्रत्यक्ष चुनौती दी थी। रावण ने चुनौती स्वीकार कर ली। और क्योंकि रामचंद्र ने एक अबला पर अपना शक्ति प्रदर्शन किया था अतएव 'जैसे को तैसा' की नीति के अनुसार उस ने सीता को हर ले जाने की ठानी। यह बात बस केवल प्रत्यवमानना से हुई, इस में रंच मात्र भी संदेह की गुंजाइश नहीं है। क्योंकि रावण का लक्ष्य केवल सीताहरण ही होता तो वह राम वनवास के तेरह वर्षों तक चुप बैठा रह कर अपनी बहन के नाक-कान कट जाने की प्रतीक्षा न करता रहता। सीताहरण वनवास के चौदहवें वर्ष के आरंभ में हुआ और वह भी शूर्पणखा के नासाकर्णछेदन के बाद। अतएव स्पष्ट

हैं कि सीताहरण का पूरा अन्वय प्रमाण प्रस्तुत करने की कार्यवाही चल रही है। इस कार है न कि पाण्डवसना में तो हमें कोई श्रापित नहीं कि रावण

अनेक बार यह पढ़ने तथा सुनने में आता है (विशेषकर 'रामचरितमानस' में) कि राक्षस लोग कुरूप, वीभत्स तथा बड़ेबड़े मुखों वाले होते थे तथा रावण राक्षसराज था अतएव 'सुरमे के ढेर के समान काला' तथा वीभत्स था. ये सब बातें महर्षि की 'रामायण', हमारे आधारग्रन्थ, के विपरीत हैं. राक्षस शब्द के अर्थ के लिए 'रामायण' में निम्नलिखित कथा दी हुई है:

सृष्टि के प्रारंभ में ब्रह्मा ने अपने पुत्रों को बुला कर मानवों की रक्षा करने के लिए कहा. उन पुत्रों में से कुछ ने मानवों की रक्षा का दायित्व लिया. जिन लोगों ने 'हम रक्षा करेंगे' ऐसा कहा, वे राक्षस नामधेय हुए :

रक्षाम इति यैर्युक्ति राक्षसास्ते भवन्तु वः.

आरोपों से परे

अर्थात्, सृष्टि के आरंभ में ही जिन्होंने धर्म, कर्म व मनुष्यों की रक्षा का भार लिया वे राक्षस कहलाए. अब आप ही निर्णय करें कि धर्म, कर्म व मनुष्यों का रक्षक रावण किस प्रकार हेय हो गया.

जहां तक रावण की कुरूपता का प्रश्न है, महर्षि द्वारा किया गया वर्णन देखिए :
 राजर्षि विप्र दैत्यानां गंधर्वाणां च योषितः,
 रसतां चाभवत्कन्या—स्तस्य कामवशं गताः,

519168

अर्थात्, राजर्षि, ब्राह्मण, दैत्य तथा गंधर्वों की कन्याएं रावण के रूप को देख कर रसवती हो उठीं तथा कामदेव के द्वारा वशीभूत कर ली गईं। यदि रावण कुरूप और कलूटा होता तो गंधर्वों आदि की कन्याएं उस पर भला कभी मोहित हो सकती थीं! अतएव रावण रूपवान था, यह सिद्ध होता है।

कुछ लोग रावण पर मांसभक्षण तथा
मद्यपान का आरोप लगा कर उसे निकृष्ट

प्रश्न करने की कार्य-विधि का प्रश्न है। इस में तो हमें कोई आपत्ति नहीं कि रावण मांसाहारी तथा मद्यप था, पर उस युग में कौन मांसाहारी नहीं था? क्या राम, लक्ष्मण आदि मांसाहारी नहीं थे? राम के मांसाहारी होने का प्रमाण लीजिए। राम लक्ष्मण से पर्णकुटी बन जाने पर कहते हैं : ऐणेयं मांसमाहृत्य शास्तां यक्ष्यामहे वयम्, कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः। मृतं हत्वाऽन्य क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण, कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिधर्ममनस्मरः।

21 5 61 22-23

अर्थात्, हे लक्ष्मण, हम भृगुमांस ला कर इस पर्णशाला की वास्तुशांति करें क्योंकि जो लोग चिरजीवी होना चाहते हैं उन्हें वास्तुशांति अवश्य करनी चाहिए. इसलिए हे शुभेक्षण लक्ष्मण, तुम शीघ्र ही एक हिरण मार कर ले आओ क्योंकि यह बात शास्त्रों में निर्दिष्ट है अतः तुम धर्म-शास्त्र का अनुसरण करो तथा कर्तव्यपालन में तत्पर हो जाओ.

केवल इतना ही नहीं, जानकी रावण से इस प्रकार कहती हैं :

आगमिष्यति मे भर्ताः वन्यमादाय पुष्कलम्,
रुन् गोधान् वराहांश्च हत्वादायामिषं बह.

31 471 13

अर्थात्, अभी मेरे पति अनेक वन्य-
पदार्थों को ले कर तथा काले हिरन,
घड़ियाल (गोह) और वनैले शूकरो को
मार कर बहुत सा मांस लाएंगे.

जहाँ तक मध्यपान का संबंध है वह भी शास्त्रविर्गहित नहीं था. इस को भी एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें. ऋषि भरद्वाज के आश्रम में भरत का स्वागत निम्नलिखित प्रकार से किया गया :

सुरां सुरापाः पिबतं पायसं च बुभक्षिताः,
मांसाणि च सुमेध्यानि भक्ष्यतां यो यदिच्छति.

2191152

अर्थात्, सुरापान करने वाले मद्यपों के लिए सुरा, भूखों के लिए खीर तथा मांस के श्रादी लोगों के लिए अच्छा मांस वहां मौजूद था. अर्थात्, जिन की जैसी इच्छा

हो वे वंसी खानेपीने की चीजें ले लें, इस स्थिति को देखा तो वह बहुत मुग्ध हुए।
 को व्यवस्था थी। वह वर्णन देखिए:

यदि मद्यपान तथा मांसभक्षण श्रुति-
 स्मृति से अनुमोदित न होता तो महर्षि
 भरद्वाज तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम इन
 का उपयोग न करते होते। मांसभक्षण तथा
 मद्यपान करने एवं उस की अनुमति देने
 वाले श्रीकृष्ण, महर्षि भरद्वाज तथा राम
 तो अवतारी पुरुष एवं पुण्यात्मा बने रहें
 और अगर दोषी किसी को बनाना हो तो
 दुरात्मा व दुराचारी (?) रावण तो
 हाजिर ही है, वाह रे न्याय!

प्रक्षिप्त अंश

वाल्मीकि 'रामायण' में ही कुछ स्थलों
 पर रावण को दुर्वचन भी कहे गए हैं।
 लेखक के मत से ये अंश महर्षि द्वारा लिखे
 हुए नहीं बल्कि प्रक्षिप्त हैं क्योंकि ऐसा तो
 असंभव है कि एक स्थल पर महर्षि ने
 रावण की प्रशंसा की हो तथा अन्य स्थल
 पर अपने उस पूर्व वचन को गलत सिद्ध
 करते हुए निंदा भी की हो। केवल दो
 प्रमाण पर्याप्त होंगे।

जब शूर्पणखा नाककान कट जाने के
 अनंतर रावण के दरबार में पहुंची तो
 उस ने रावण को दसमुख तथा बीसभुजा
 संपन्न पाया :

विंशभुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम्.

पर जब सीता की खोज में हनुमान
 रावण के महल में पहुंचे तो उन्होंने सीते
 हुए रावण को एक मुख तथा द्विभुजावान
 ही पाया :

कांचनांगदसन्नद्धौ ददर्श स महात्मनः,
 विक्षिप्तौ राक्षसेंद्रस्य भुजाविब्रध्वजोपमौ.

5110115

अर्थात्, महात्मा रावण की दोनों
 भुजाएं, जो मणियुक्त सुवर्ण बाजूबंदों से
 अलंकृत थीं और जिन्हें वह फैला कर सो
 रहा था, इंद्रध्वज के समान जान पड़ें।

जब हनुमान ने सीता की खोज करते
 हुए अंतःपुर में निद्रावशीभूत रावण की

इमानि मुखपद्मानि नियतं मतवत्पदाः,
 अम्बुजानीय फुल्लानि प्रार्थयन्ति पुनःपुनः.

519139

अर्थात्, मतवाले भौरे विकसित कमल
 की तरह ही इन सुंदर स्त्रियों के मुख-
 कमलों की सदा अभिलाषा किया करते हैं।
 इस प्रकार हनुमान ने उन सुंदरियों के
 मुखकमलों को तथा जलोत्पन्न कमलपुष्पों
 को सादृश्य माना।

पर वही हनुमान सीता का पता न
 पाने पर एक स्थान पर बैठ कर इस प्रकार
 सोचते हैं :

विरूपरूपा विकृता विवर्चसो महाननादीर्घ
 विरूपदर्शनाः,

समीक्ष्य ताः राक्षसराजयोषितो भयाद्विनिष्टा
 जनकेश्वरात्मजा. 511214

अर्थात्, इन कुरूप, विकराल, बुरे रंग
 वाली, बड़ेबड़े मुखों वाली दीर्घकारा और
 भयंकर नयनों वाली रावण की स्त्रियों को
 देख कर कहीं सीता डर के मारे स्वयं तो
 नहीं मर गई!

इस श्लोक में रावण की पत्नियों का
 जो भयंकर चित्र अंकित किया गया है उस
 से तो यही प्रकट होता है कि उन स्त्रियों
 से अधिक बदशक्ल स्त्री का होना भूमंडल
 पर असंभव है। एक स्थान पर रावण को
 दो हाथों, एक मुखवाला कहना तथा अन्य
 स्थान पर दस मुखों, बीस भुजाओं वाला
 कहना एवं एक स्थान पर रावण पत्नियों
 को पद्ममुखी तथा दूसरे स्थान पर विरूपा
 और भयंकर मुखवाली कहना क्या एक
 ही लेखनी से निःसृत कृति हो सकती है?
 अतः रामायण में प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक
 मात्रा में विद्यमान हैं।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि
 निंदांश प्रक्षिप्त हैं या स्तुति के अंश. यह
 पाया जाता है कि जहां कहीं भी निंदा के
 अंश 'रामायण' में आए हैं वे सब के सब
 राक्षसों तथा रावण से संबंध रखने वाले ही
 हैं. क्या रावण को छोड़ कर अन्य सभी

पात्र दूध के धोए थे—अतः रावण को भी नहीं सकते थे? और रावण केवल निंदात्मक कार्यों के लिए ही उत्पन्न हुआ था? प्रकृति का यह सिद्धांत है कि अपने प्रतिकूल चलने वालों को वह समूल नष्ट कर डालती है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति एक मुख तथा दो भुजा रखने वाला है। इसी नियमानुसार महर्षि वाल्मीकि ने अपनी 'रामायण' में रावण को एक मुख तथा दो भुजा वाला वर्णित भी किया है। अधिकांश स्थलों पर एक मुख, दो भुजा वाले रावण का वर्णन तथा दो स्थलों पर दस मुख, बीस भुजाओं वाले रावण का वर्णन, जो प्रकृति के विरुद्ध भी है, इस बात की ओर संकेत करता है कि वाल्मीकि के बहुत समय बाद राम के किसी ग्रंथ-भक्त ने राम का सुयश तथा रावण का अपयश प्रचारित करने के लिए इन अंशों को जोड़ कर रामायण की साहित्यिक हत्या का जघन्य कृत्य सुसंपादित किया।

रावण महार्पण्डित, वेदपाठी, वैज्ञानिक, कूटनीतिज्ञ सब कुछ था। जिस रावण की राजधानी में प्रत्येक राक्षस वेदज्ञ तथा वेदपाठी था, जहां घरघर में हवनकुंड विद्यमान थे, जिस की राजधानी महा-पंडितों, शास्त्रज्ञों से अलंकृत थी, जहां बड़ेबड़े वैदिक यज्ञ हुआ करते थे, उसी रावण को 'प्राप्तयज्ञहरं दुष्टं ब्रह्मघ्नं क्रूर-कारिणम्' अर्थात् यज्ञों में देवताओं को प्राप्त अंश का हरण कर लेने वाला, ब्रह्मघाती, दुष्ट रावण कह कर उन ग्रंथ रामभक्तों ने अपनी मानसिक संकीर्णता,

दारता का ही परिचय दिया है। उन्होंने भले ही इसे भक्ति समझ कर अज्ञानावेश में किया हो, पर इतिहास, साहित्य तथा संस्कृति का प्रत्येक विद्यार्थी उन्हें 'रावण का हत्यारा' तथा 'दंभी' कह कर ही संबोधित करेगा।

सीताहरण पर अनेक गहिर्त विशेषण दे कर इन ग्रंथ रामभक्तों ने धरतीआकाश एक कर देने में अपनी संपूर्ण बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है, पर भूल कर भी उन में से किसी ने राम से यह पूछने की 'जुरंत गवारा' नहीं की कि आखिर उन्होंने एक अबला के नाककान केवल उपहास के लिए क्यों कटवा लिए? क्या मानव शरीर का मूल्य तब मक्खीमच्छरों से भी गया गुजरा था? आखिर उस अबला के नाककान किस अपराध पर कटवा लिए गए—क्या इसी अपराध पर कि वह विवाहेच्छा ले कर आई हुई थी, जो शास्त्र एवं समाज द्वारा अनुमोदित तत्कालीन साधारण प्रथा थी। अपनी बहन की दुर्दशा देख कर, उस की अस्मत् लुटती देख कर जिस भाई का लहू न खौल उठे वह तो पशु से भी गयाबीता है और यदि इसी कारण से रावण ने विशुद्ध प्रत्यवमानना तथा प्रत्यपकार की भावना से अनुप्रेरित हो कर सीता का हरण कर लिया—जो कि अत्यंत स्वाभाविक है—तो कौन सा गंभीर अपराध किया? बताइए, अपराध का आरंभ किस ने किया? अपराधी कौन होना चाहिए, राम या रावण?

रामचरितमानस के अविश्वसनीय प्रसंग

डा. गंगासहाय 'प्रेमी'

जो हर व्यक्ति के मन में सैकड़ों शंकाएं खड़ी कर देती हैं.

‘रामचरितमानस’ की साहित्यिक महत्ता चाहे कितनी ही हो, पर मूलतः यह है धार्मिक ग्रंथ ही. तुलसी ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि ‘रामचरितमानस’ का तत्त्व राम नाम या रामकथा ही है: एहि महं रघुपति नाम उदारा,

अति पावन पुरान श्रुति सारा.

—बाल कांड, पृष्ठ, 41

जदपि कवित रस एकउ नाहीं,

राम प्रताप प्रकट एहि पाहीं.

बाल कांड, पृष्ठ 42

तुलसी ने अपनी कविता को साधारण कवियों की कविता से भिन्न माना है. साधारण (साहित्यिक) कवि जहां देवी सरस्वती को दुखी कर देते हैं वहां तुलसी की विश्वास है कि वह अपनी कविता द्वारा उन्हें ‘रामचरित सर’ में स्नान करा कर गतश्रम कर देंगे:

भगति हेतु विधि भवन बिहाई,

सुमिरत सारद आवति धाई.

रामचरित सर बिनु अन्हवाएं,

सो श्रम जाइ न कोटि उपाएं.

कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना,

सिर धुनि गिरा लागि पछताना.

—बाल कांड, पृष्ठ 43

इस का तात्पर्य यही हुआ कि ‘मानस’ साहित्यिक रचना नहीं, धार्मिक कृति है. तुलसी ने ‘मानस’ के अंत में जो इस का माहात्म्य लिखा है, वह भी इसे धार्मिक रचना ही सिद्ध करता है:

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्ति-
प्रदम्,

मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुधूरं शुभम्.
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहति
ये,

ते संसार पतंगधोर किरणौदंहांति नो
मानवाः. —उत्तर कांड, पृष्ठ 1002

(यह ‘रामचरितमानस’ पुण्यरूप, पापों का हरने वाला, सदा कल्याणकारी, विज्ञान और भक्ति को देने वाला, माया, मोह और मल का नाश करने वाला, परम निर्मल प्रेम रूपी जल से परिपूर्ण तथा मंगलमय है. जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस मानस सरोवर में गोता लगाते हैं, वे संसार रूपी सूर्य की अति प्रचंड किरणों से नहीं जलते हैं.)

तुलसी का ‘मानस’ जब धार्मिक पुस्तक है तो उस में उसी प्रकार की ऊलजलूल, बेसिरपैर की असंभव और अविश्वसनीय बातें होनी चाहिए जो दूसरे धार्मिक ग्रंथों में होती हैं. जब तक लोगों को लंबीचौड़ी बातें न बताई जाएं. तब तक उन में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती. सभी धार्मिक ग्रंथ रचयिता अपनी रचनाओं के प्रचार के लिए उन के पढ़ने मात्र से अनेक फलों का वर्णन करते हैं. उक्त चौपाई में तो तुलसी ने ऐसा किया ही है, ‘मानस’ के एक स्तोत्र के पाठ मात्र ही से भी बड़ा लाभ बताया है: रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरितोष्ये,

ये पठंति नरा भक्त्या तेषां शंभः प्रसीदति.

—उत्तर कांड, पृष्ठ 998

(भगवान् रुद्र की स्तुति का यह अष्टक शंकरजी की प्रसन्नता के लिए ब्राह्मण द्वारा कहा गया। जो मनुष्य इसे भक्तिपूर्वक पढ़ते हैं। उन पर भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं।)

भक्ति में तन्मय हो कर लोग अनेक बार 'रामचरितमानस' पढ़ते और सुनते हैं। बुद्धि को स्वतंत्र रख कर यदि वे एक बार भी 'मानस' का अध्ययन करते तो उन के सामने अनेक ऐसे प्रश्न खड़े हो जाते जिन्हें लांघ कर आगे बढ़ना असंभव हो जाता। नीचे हम उदाहरणस्वरूप कुछ प्रसंगों की चर्चा कर रहे हैं।

तुलसी का झूठ

जब से मनुष्य ने होश संभाला है तब से इतिहास में ऐसे एक भी राजा का वर्णन नहीं मिलता जिस ने सारे संसार पर एकठा कर राज्य किया हो। अब तक संसार में अनेक भाग इतने अविकसित हैं जहां कोई राज्य व्यवस्था संभव नहीं है। बेचारे सिकंदर ने विश्वविजयी होने का सपना देखा था, पर एशिया महाद्वीप भी नहीं जीत पाया। इतिहास की साक्षी के विरुद्ध तुलसी ने 'मानस' में इतना बड़ा झूठ बोला है। उन्हें एक ऐसे राजा का नाम मालूम था, जिस ने सारे संसार के राजाओं को जीत कर अपने अधीन कर लिया था:

जब प्रताप रवि भयेउ

नृप फिरी दुहाई देस,
प्रजापाल अति वेदविधि

कतहुं नहीं अध लेस.

नृप हितकारक सचिय सयाना,

नामधरम रुचि सुक समाना.

सचिव सयान बंध बलवीरा,

आपु प्रतापपुंज रतधीरा.

सेन संग चतुरंग अपारा,

अमित सुभट सब समर जुझारा.

विजय हेतु कउकई बनई,

मुदिन साधि नृप बलैउ बजाई.

जहं तहं परी अनेक लराई,

जीते सकल भूप बरियाई.

सप्त दीप भुजबल बस कीन्हें,

लैलै दंड छाड़ि नृप दीन्हें.

स्वबस बिस्व करि बाहुबल

निज पुर कीन्ह प्रवेसु,

—बाल कांड, पृष्ठ 162-63

राजाओं से संबंधित अनेक कहानियों में बड़ेबड़े कमाल के रसोइयों की चर्चा आप ने सुनी होगी। क्या आप ने कोई ऐसा रसोइया भी सुना है जो अकेला लाखों आदमियों के लिए भोजन बना सकता हो? आदमी भी साधारण नहीं ब्राह्मण, जो भोजन करने में प्रसिद्ध होते हैं।

तुलसी बाबा के शब्दों में उस का परिचय देखिए:

जो नरस मैं करउ रसोई,

तुम्ह परसउ मोहि जान न कोई.

अन्न सो जोइजोइ भोजन करई,

सोइसोइ तब आयसु अनुसरई.

पुनि तिन्ह के गृह जेवई जोऊ,

तब बस होइ भूप सुन सोऊ.

जाइ उपाय रचहु नृप एह,

संवत भरि संकल्प करेह.

नित नूतन द्विज सहस सत,

बरेहु सहित परिवार,

मैं तुम्हरे संकल्प लगि,

दिनिह करबि जेवनार.

—बाल कांड, पृष्ठ 173

एक लाख ब्राह्मण परिवारों के लिए एक वर्ष तक प्रतिदिन अकेले भोजन बनाना कैसे संभव है? यह शंका राजा को होनी स्वाभाविक थी। दिन भर में इतने व्यक्तियों का सामान चूल्हे पर रखना और उतारना भी संभव नहीं है। वह रसोइया किसी दूसरे की सहायता लेता हो, ऐसी बात भी नहीं थी। उस कपटी मुनी ने अपने हाथ के बने भोजन में ही ब्राह्मणों को वश में करने का प्रभाव

बताया था:

सुनु नृप विधि १०. जगन्नाथ साहिब Digital Preservation Centre, Amritsar

कष्ट साध्य पुनि होहि कि नाही.

अहइ एक अति सुगम उपाई,

तहां परंतु एक कठिनाई.

मम आधीन जुगति नृप सोई,

मोर जाब तव नगर न होई.

एहि विधि भूप कष्ट अति थोरे,

होइ हैं सकल विप्र बस तोरे.

—बाल कांड, पृष्ठ 173-74

भावविभोर कर देने का हथकंडा

साधु ने अपनेआप को सर्व समर्थ बताया था, इसलिए उस के विषय में राजा ने विश्वास कर लिया हो, तब भी कोई बात नहीं है. पर राजा अपने विषय में तो कह सकता था, “महाराज, मैं अकेला एक लाख ब्राह्मण परिवारों को कैसे भोजन परोस सकूंगा?” भोजन परोसना तो अलग रहा. इतने आदमियों को पत्तल या लगी-लगाई थालियां परोसने में ही सारे दिन से अधिक समय लगेगा.

साधारणतः एक लाख परिवारों की पंक्ति में एक सिरे से दूसरे सिरे तक पैदल चलना भी एक दिन का सरल काम नहीं है और वह भी राजा के लिए! पर इस तथ्य की ओर ध्यान कौन देता? तुलसी बाबा को तो ऐसा आकर्षक झूठ बोलना था जो श्रोताओं और पाठकों को विभोर कर दे.

रामादि बालकों के जन्म से राजा दशरथ को अत्यंत प्रसन्नता हुई. होनी स्वाभाविक भी थी. कहां तो दशरथजी की तीनों रानियों के चुहिया का बच्चा भी नहीं हुआ और कहां एक साथ चार संतानें, और वे भी लड़के. राजा के साथ ही प्रजा को भी प्रसन्न होना पड़ा. प्रसन्नता में लोग दोनों हाथों से धन लुटाते हैं. दशरथ ने पहले तो ब्राह्मणों को जी खोल कर दान दिया:

नंदी मुख सराध करि

जातकरम सब कीन्ह,

हृष्टक धोनु बरुन, अग्नि digarh

नृप विप्रह कहं दीन्ह.

राजा की प्रसन्नता यहीं तक सीमित नहीं रही. प्रजा ने भी प्रसन्नता का प्रदर्शन किया :

ध्वज पताक तोरन पुर छाबा,

कहि न जाहि जेहि भांति बनावा.

सुमन वृष्टि अकास तें होई,

ब्रह्मानंद मगन सब कोई.

वृंदवृंद मिलि चलीं लोगाई,

सहज सिंगार किए उठि धाई.

कनक कलस मंगल भरि धारा,

गावत पैठोह भूप दुआरा.

करि आरति नेवछावरि करहीं,

बारबार सिंसु चरनन्हि परहीं.

मागध सूत बंदि गन गायक,

पावन गुन गावोह रघुनायक.

सर्वसु दान दीन्ह सब काहू,

जिन्ह पाबा राखा नहि ताहू.

मृगमद चंदन कुंकुम कीचा,

मची सकल बीथिन्ह बिचबीचा.

—बाल कांड, पृष्ठ 194-95

तुलसी बाबा तो भक्ति के आवेश में लिखते चले गए और धर्म प्राण पाठक भी पढ़ते चलते हैं, पर विचारशील पाठक बेचारा क्या करे? ‘सर्वसु दान दीन्ह सब काहू’ इस का सीधासादा यही अर्थ है कि सभी अयोध्यावासियों ने अपना सर्वस्व दान कर दिया. क्या मैं पूछ सकता हूं कि यह दान किस ने लिया? सभी लोग अपना सर्वस्व लुटा रहे थे तो दान ले कौन रहा था? अगली पंक्ति ‘जिन्ह पाबा राखा नहि ताहू’ तो स्थिति को और भी बिगाड़ देती है. दान लेने वाले ही पैदा नहीं हो रहे थे, फिर ले कर जिन्हें दिया गया, उन को खोज कहां की जाए!

अधिकतर टीकाकार उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार लगाते हैं—राजा दशरथ ने किसी को अपना सर्वस्व दान कर दिया. जिस ने पाया, उस ने भी नहीं रखा अर्थात् दान कर दिया. पहले तो यहां

दशरथ को खोंच कर लाना संभव नहीं है। दूसरे, दशरथजी के पास कितने सर्वस्व थे जो सब को एकएक देते रहे? क्या उन के सर्वस्व में राज्य नहीं आता था? उन लोगों ने वह दान किसे दिया? क्योंकि 'सब काहू' शब्द की सीमा से बाहर कोई नहीं रहना चाहिए। दशरथ ने अपना सर्वस्व सब लोगों को दान दिया, यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता क्योंकि 'सब काहू' एवं 'तहू' शब्द एकवचन है। दान ले कर देने की समस्या तो ज्यों की त्यों है ही।

अतिशयोक्तियां

अयोध्या में दशरथपुत्रों का जन्मोत्सव देख कर सूर्य भगवान चलना भूल गए। सूर्य के चलने से ही दिन चलता है। सूर्य भगवान एक मास तक रुके रहे, एकना ठीक भी था—दशरथ सूर्यवंशी जो थे! संतान न होने से वंश समाप्त हो रहा था। अपने वंश की प्रसन्नता में वह सोधे सम्मिलित नहीं हो सके तो दूर से देख भी नहीं सकते थे? दूसरे, अयोध्या की शोभा भी कुछ कम आकर्षक नहीं थी:

अवधपुरी सोहइ एहि भांति,

प्रभुहि मिलन आई जनु राती.

देखि भानु जनु मन सकुचानी,

तदपि बती संध्या अनुमानी.

अगर धूप बह जनु अधियारी,

उडइ अबोर मनहुं अहनारी.

मंदिर मनि समूह जनु तारा,

नृपगृह कलस सो इंदु उदारा.

भवन वेद धुनि अति मृदु बानी,

जनु खग मुखर समय अनुसानी.

कौतुक देखि पतंग भुलाना,

एक मास तेई जात न जाना.

मास दिवस कर दिवस भा,

मरम न जातइ कोइ.

रथ समेत रवि थाकेउ,

निसा कवन विधि होइ.

यह रहस्य काहू नांह जाना,

दिनसति लखे कवन गुनगाना.
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा,

चले भवन बरनत निज भागा.

—बाल कांड, पृष्ठ 195-96

अच्छा हुआ जो उस जमाने में घड़ियां नहीं थीं। यदि आजकल ऐसा हो जाए तो लोग 'बोर' होने की सीमा पार कर लें। अयोध्या में उपस्थित लोग तो उत्सव में मग्न रहे, पर अयोध्या से बाहर के लोगों ने इतना बड़ा दिन कैसे बिताया होगा? यह कल्पना इस मान्यता पर आधारित है कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। सूर्य उदय होने से ही दिन निकलता है, इसी लिए सूर्य का नाम 'दिनकर' है। सूर्य जब तक छिपे नहीं, तब तक रात कैसे हो? आज जब कि पुरानी मान्यता गलत सिद्ध हो चुकी है और धरती के घूमने से दिनरात होने का सिद्धांत सर्वमान्य हो चुका है, तब इस प्रसंग को कैसे युक्ति-युक्त ठहराया जा सकता है?

विश्वामित्रजी अपने यज्ञ की रक्षा के लिए रामलक्ष्मण को ले आए। यज्ञ आरंभ करते ही मारीच सहायकों सहित विघ्न डालने आया। राम ने बिना फल का बाण मार कर उसे सौ योजन दूर सागर पार फेंक दिया:

आयुध सर्व समर्पि कै

प्रभु निज आश्रम आनि.

कंदमूल फल भोजन दीन्ह

भगति हित जानि.

प्रात कहा मुनि सन रघुआई,

निर्मय जग्य करहु तुम्ह जाई.

होम करन लागे मुनि झारी,

आपु रहे मख के रखवारी.

मुनि मारीच निसावर कोही,

ले सहाय धावा मुनिबोही.

बिनु फर राम बान तेहि मारा,

सत योजन गा सागर पारा.

—बाल कांड, पृष्ठ 207

राम ने ताड़का को क्यों मार डाला और मारीच को क्यों दूर फेंक दिया, इस विषय पर भी शंका हो सकती है, पर सी

योजन की दूरी तो किसी प्रकार भी समझ में आने वाली नहीं है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार विश्वामित्र का आश्रम बिहार में था। यहां से वह राम को ले कर जनकपुर के धनुष्यज में गए थे। वहां से फेंका हुआ भारीच सागर के पार अर्थात् लंका में जा कर गिरा। पर यह दूरी तो सौ योजन नहीं है। तुलसी के अनुसार सौ योजन तो भारत और लंका के बीच का समुद्र ही था:

गलत गणनाएं

जो लांघई सत जोजन सागर,

करइ सो राम काज मति आगर।

किंकिंधा कांड, पृष्ठ 681

तुलसी बाबा को अपनी नाप का स्वयं ही ध्यान नहीं रहा। पहले तो 'सत जोजन गा सागर पारा' का अर्थ 'वह सौ योजन दूर सागर के तट पर गिरा,' ऐसा लगाया हो नहीं जा सकता। दूसरे बिहार से रामेश्वरम वाला सागर तट सौ योजन (300 मील) से बहुत अधिक है।

दशरथ को 75 और 100 वर्ष के बीच में पुत्र जन्मे थे। उन्हें 50 वर्ष पश्चात वानप्रस्थ और 75 वर्ष पश्चात संन्यास लेना चाहिए था। पर वंश चलने के विषय में निश्चित हुए बिना वैराग्य कैसे लें? जब तक शरीर में दम रहा, तब तक स्वयं प्रयत्न करते रहे। शरीर शिथिल होने पर मुनियों की औषधि का सहारा लिया। तुलसी ने चौथेपन वाली बात स्वयं स्वीकार की है:

चौथेपन पायउं सुत चारी,

विप्र वचन नहि कहेउ विचारी।

—बाल कांड, पृष्ठ 205

75 वर्ष की अवस्था होते-होते दशरथ जी के सभी बाल सफेद हो जाने चाहिए। पर तुलसी ने उस समय दशरथ के कुछ बाल सफेद बताए हैं, जब राम के विवाह को कई वर्ष बीत गए थे। एक बार दशरथजी मुकुट ठीक करने के लिए शीशा

देख रहे थे तभी उन्हें अपने श्वेत केश दीखे:

राम सुभाय मुकुर कर लीन्हा,

बदनु विलोकि मुकुट सम कीन्हा।

श्रवन समीप मये सित केसा,

मनहुं जरठपन अस उपदेसा।

नृप जुवराज राम कहं देह,

जीवन जनमु लाहु किन लेह।

—अयोध्या कांड, पृष्ठ 337

पता नहीं, दशरथजी कौन सा तेल लगाते थे जो उन के बाल 100 वर्ष की अवस्था में भी काले बने रहे! फिर राम-लीला वाले दशरथ के सभी बाल सफेद किस आधार पर दिखाते हैं?

दशरथ के मरने पर तुरंत उन का दाह नहीं हो सका, भरत के आने तक उन का शव सुरक्षित रखना था। नाव में तेल भर कर उस में शव रखा गया:

तेल नाव भरि नृप तनु राखा,

दूत बोलाइ बहुरि अस भाखा।

धावहु बेगि भरत पहं जाहू,

नृप सुधि कतहु कहहु जनि काहू।

—अयोध्या कांड, पृष्ठ 458

यह तो ठीक है कि उस समय के लोग शव को सुरक्षित रखने का कोई वैज्ञानिक साधन नहीं जानते थे, इसलिए बेचारों ने शव को तेल में डुबाना निश्चित किया। पर क्या उस समय कोई ऐसा बरतन प्रचलित नहीं था जिस में शव डुबाने लायक तेल भर जाता? क्या उन्हें राजा दशरथ का शव रखने को नाव ही रह गई थी?

सीता को खोजने वाले वानर निराश हो कर पछतावा कर रहे थे। उन की आवाज सुन कर संपाती गुफा से बाहर निकला और बंदरों को देख कर बोला, 'आज सब को खा जाऊंगा।' बंदर यह बात सुन कर डर गए:

हम सीता के सुधि लीन्हें बिना,

नहि जैहें जुबराज प्रवीना।

अस कहि लवन सिंधु तट जाई,

बैठे कपि सब दमं डसाई।

एहि विधि कथा कहत वह भ्रांति, ताह समान कथा कहि दिखावा.

गिरि कंदरा सुनी संपाती.

बाहेर होइ देखि बहु कीसा,

मोहि अहार दीन्ह जगदीसा.

आजु सबहिं कहं भच्छन करऊं,

दिन बहु चले अहार बिन मरऊं.

कबहुं न मिलि भरि उदर अहारा,

आजु दीन्ह विधि एकहि बारा.

डरये गोध वचन सुनि काना,

अब भा मरन सत्य हम जाना.

—किष्किधा कांड, पृष्ठ 678-79

गोध की बात सुन कर वानरों के डरने की बात समझ से बाहर है. वानरों को इतना भी ज्ञान नहीं था कि गोध मरे पशु को खाता है, जीवित को नहीं. ये वानर साधारण वानर नहीं थे. इन में हनुमान, अंगद, नील, नल, जामवंत आदि ज्ञान व बलसंपन्न वानर सम्मिलित थे. फिर गोध भी बिना पंखों का. उस के पंख तो पहले ही जल गए थे. माना कि संपाती साधारण गोध नहीं था पर क्या वह सब बंदरों को एक साथ खा सकता था? जो हनुमानजी सुरसा के सामने बत्तीस योजन के बन गए थे और सीता के सामने 'कनक भूधराकार सरीरा' हो गए थे, उन्होंने संपाती के सामने कोई कमाल दिखाने का निश्चय क्यों नहीं किया? क्या हनुमानजी का जाड़ औरतों के ही सामने चलता था? वायुवेग से चलने वाले वानरों का बिना पंख के गोध से डर जाना और अपना मरण निश्चित समझ लेना कम आश्चर्य की बात नहीं है.

हनुमान सौ योजन का सागर लांघने को अनेक पहाड़ों पर उचकते रहे. वह जिस पर्वत पर पैर रखते थे, वही तुरंत पाताल चला जाता था. पता नहीं बेचारे किस प्रकार इतना लंबा कूद सके. मार्ग में मिल गई सुरसा. उस ने उन्हें खाना चाहा. वह मुंह बढ़ाने लगी और हनुमानजी भी बढ़ने लगे. उस ने अपना मुंह सौ योजन का कर लिया: जसजस सुरसा बदन बढ़ावा,

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा...

—सुंदर कांड, पृष्ठ 687

तुलसीदासजी के ही वचनानुसार भारत और लंका के बीच का सागर सौ योजन था, इस किनारे पर हनुमानजी के साथी वानर बैठे थे और उस पार थी लंका.

असंभव भी संभव

सौ योजन चौड़े मुख वाली सुरसा के पैर कम से कम चार सौ योजन तो रहे ही होंगे. कहां खड़ी हुई होगी सुरसा! सौ योजन मुख बढ़ाने से पहले हनुमानजी का विस्तार हिसाब से पचास योजन होना चाहिए. वह भी कहीं खड़े हुए होंगे. इतना ही नहीं, सागर में मैनाक पर्वत भी था—जिसे छू कर हनुमानजी आए थे. आगे एक छायाग्रहिणी निशाचरी भी उन की प्रतीक्षा कर रही थी.

एक निवेदन और है. क्या हनुमानजी किसी सड़क पर चल रहे थे जो सब से रुक रुक कर मुलाकात करते जाते थे? क्या छलांग लगा कर बीच हवा में रुक कर कोई काम कर सकता संभव है?

कुंभकर्ण आखिर कितना विशाल था! तुलसी बाबा ने उस का कोई नाप नहीं दिया यदि वे देते तो सुविधा रहती. वह करोड़ों वानरों को एक बार में खा लेता था. करोड़ों को अपने शरीर से रगड़ कर समाप्त कर देता था और करोड़ों को धूल में मिला देता था:

कुंभकरन रन रंग विरुद्धा,

सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा.
कोटिकोटि कपि धरिधरि खाई,

जनु टीढ़ी दल गुहा समाई.
कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा,

कोटिन्ह मीजि मिलव महि गर्दा.

—लंका कांड, पृष्ठ 800

तो कुंभकर्ण और वानरों के शरीर का अनुपात पर्वत और टिड़डी के समान

था. करोड़ों बंदर हाथों में पकड़ कर एक साथ मुंह में डालता किस प्रकार संभव हो सका, इसे तुलसी बाबा ही जानें. कुंभकर्ण मुंह फेला कर उन्हें निगल लेता होगा, पर शरीर से रगड़ कर मारने और धूल में मिलाने के लिए तो उन्हें हाथ से पकड़ना ही पड़ेगा. इसे जाने भी दें तो अगली बात एकदम लाजवाब है:

मुख नासा स्रवननि की बाटा,

निसरि पराहिं भालु कपि ठाटा.

तो कुंभकर्ण रीठबंदरों को बिना चबाए ही निगल लेता था. क्या इस प्रकार की क्रिया के साथ 'खाई' शब्द प्रयोग हो सकता है? उस के खाए हुए बंदर मुंह नाक और कानों की राह निकल भागते थे. नाक से निकलना भी संभव है क्योंकि मुख और नाक का रास्ता एक होता है, पर मुख और कान की राह रीठ, बंदरों का निकलना अपनी समझ में नहीं आता. मुंह से तो वह खा ही रहा था. यदि खा चुका था तो मुंह बंद कर सकता था? क्या उस ने बानर, रीठों को बाहर निकलने देने को ही खाया था? कानों और मुंह का छीत एक होता है क्या? क्या मुंह का खाया कान की राह निकल सकता है? इन बातों की ओर तुलसी बाबा का ध्यान किस लिए जाता? उन्हें तो एक अजुआ खड़ा करता था.

आप ने सिर वाले धड़ों को तो बोलते देखा या सुना होगा! आइए, बिना सिर वाले ऐसे धड़ों के विषय में पढ़िए जो हल्ला मचाते थे :

रुंड प्रचंड मुंड बिनु घावाहिं,

धरुधरु भारुमारु धुनि गावाहिं.

—लंका कांड, पृष्ठ 801

पता नहीं, सिर कट जाने पर धड़ 'पकड़ो, मारो' का गाना बिना मुंह के कैसे गाते होंगे? संभव है, रावण ने या विधाता ने उन के धड़ में कोई ऐसा अतिरिक्त अंग लगा दिया हो जिस के द्वारा बोला या गाया जा सके.

रामरावण युद्ध में रावण रथ पर

सवार हो कर लड़ रहा था और रामजी पदल थे. यह देख कर विभीषण बड़ा दुखी हुआ. राम ने उस की बात सुन कर जो कहा, उसे तुलसी के शब्दों में ही देखिए:

विभीषण का दुःख

रावन रथो विरथ रघुवीरा,

देखि विभीषन भयेउ अधीरा.

अधिक प्रीति मन भा संदेहा,

बंदी चरन कह सहित सनेहा.

नाथ न रथ नाहिं तन पवत्राना,

केहि विधि जितब वीर बलवाना.

सुनहु सखा कह कृपा निधाना,

जेहि जय होहि सो स्यंदन आना.

सौरज धीरज तेहि रथ चाका,

सत्य सील दूढ़ धुजा पताका.

बल विवेक दम परहित घोरे,

छमा कृपा समता रजु जोरे.

सखा धर्ममय अस रथ जाके,

जीतन कहं न कतहुं रिपु ताके.

—लंका कांड, पृष्ठ 814-15

इस प्रकार का रथ किसी साधुसंन्यासी को तो अज्ञातशत्रु बना सकता है, पर रणभूमि में विजय नहीं दिला सकता. पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने उक्त बात कही है तो ठीक ही होगी. राम उस रघुवंश में उत्पन्न हुए थे जो सत्य भावण के लिए प्रसिद्ध था. यदि राम अपने बताए हुए आदर्शवादी रथ के द्वारा ही रावण को जीत कर दिखाते तो एक बात थी. पर कुछ ही देर बाद वह इंद्र द्वारा भेजे हुए रथ पर सहर्ष चढ़ गए :

देवन्ह प्रभुहि पयादे देखा,

उपजा उर अति क्षोभ विशेषा,

सुरपित निज रथ तुरत पठावा,

हरष सहित मातलि लै आवा.

तेज पुंज रथ दिव्य अनूपा,

हरिष चढ़े कोसलपुर भूपा.

—लंका कांड, पृष्ठ 825

रावण के शीश और मुख राम ने बारबार काटे, पर वे दोबारातिबारा

निकल आए. राम ने विभीषण की ओर देखा तो उस ने इस का कारण बतल दिया.

फिर राम को रावण का वध करने में देर नहीं लगी.

काटत बढ़ाहि सीस अधिकाई,
जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई.

मरइ न रिपु श्रम भयउ विसेषा,
राम विभीषण तन तब देखा.

नाभिकुंड पिपूष बस याके,
नाथ जियत राव बलु ताके.

मुनत विभीषण बचन कृपाला,
हरषि गहे कर बान कराला.

खेंचि सरासन श्रवन लगि छाड़े सर इकतीस
रघुनायक सायक चले, मानहुं काल फणीस.

सायक एक नाभि सर सोषा,
अपर लखे भुज सिर करि रोषा,

ले सिर बाहु चले नाराचा,
सिरभुजहीन रुंड महि नाचा.

—लंका कांड, पृष्ठ 841-42

तुलसी का काव्य चमत्कार

तो रावण की नाभि कोई खिड़की या शीशी थी जिस में अमृत कंगारू के बच्चे के समान रखा था. अमृत पीने वाला व्यक्ति मरता नहीं है. रावण ने अमृत न पी कर नाभि में क्यों रख लिया था? फिर क्या नाभि में रखा अमृत अमर नहीं बना सकता? अमृत भी क्या कोई 'स्प्ललाई स्टेशन' था जिस के नष्ट होते ही बिजली से होने वाले सब काम बंद हो गए? अच्छा होता कि तुलसी बाबा रावण की नाभि में अमृत की कल्पना न करते. पर करते कैसे नहीं? बिना इस के विचित्रता कैसे उत्पन्न होती?

ऊपर बिना सिर के धड़ द्वारा बोलने वाले राक्षसों वाली बात विस्तार से कह चुके हैं. रावण राक्षसों का राजा था, फिर उस का धड़ ही बिना बोले क्यों रहता? राम के बाणों ने रावण के सिर और हाथ तो मंदोदरी के महल में पहुंचा दिए थे. रणभूमि में धड़ गरज उठा :

ले सिर बाहु चले नाराचा,
सिर भुज हीन रुंड महि नाचा.

धरनि धंसइ धर धाव प्रचंडा,
तब सर हति प्रभु कृत दुइ खंडा.

गर्जउ मरत घोर रव भारी,
कहां रामु रन हतौ पचारी.

मंदोदरि आगे भुज सीसा,
धरि सर चले जहां जगदीसा.

—लंका कांड, पृष्ठ 842

रावण का धड़ वैसे नहीं बोला. राम ने उस के दो टुकड़े कर दिए तब उस ने कहा, "राम कहां हैं? मैं ललकार कर उन्हें लड़ाई में मारूंगा."

इस बात को तो तुलसी बाबा ही जानते होंगे कि धड़ दो टुकड़े होने पर इतने स्पष्ट शब्द किस अंग से बोल सका?

राम के चमत्कारी और भयंकर बाण रावण के शीशों और भुजाओं को मंदोदरी के सामने रख कर चले आए. मंदोदरी

रावण को मरा जान कर विलाप करने लगी. अन्य पत्नियां भी साथ थीं :

मंदोदरि आगे भुज सीसा,
धरि सर चले कोसलाधीसा.

पति गति देखत मंदोदरी,
मुलछित विकल धरनि खसि परी.

जुबति बृंद रोवत उठि धाई,
तेहि उठाइ रावन पहं आई.

पति गति देखि ते करहि पुकारा,
छूटे वचनहि बपुष संभारा.

उर ताडना करहि विधि नाना,
रोवत करहि प्रताप बखाना.

तब बस विधि प्रपंच सब नाथा,
सभय दिसिप नित नारहि माथा.

अब तब सिर भुज जबुख खाहीं,
राम विमुख यह अनुचित नाहीं.

—लंका कांड, पृष्ठ 842-44

रावण के हाथों और सिरों को गोदड़ कहां खा रहे थे? वे तो उन्हीं सब के सामने पड़े थे. क्या रावण की पत्नियां ने इस विशेष अवसर के लिए महल में गोदड़ पाल रखे थे?

राक्षसों के विरुद्ध हुई लड़ाई में राम

को सेना के अनेक महत्त्वपूर्ण रीछ, बंदर
मारे गए थे। राम ने अनेक दिनों तक
इंद्र से कहा, इंद्र ने आकाश से अमृत की
वर्षा की जिस से भालू, कपि जीवित हो
गए। उन के समीप ही पड़े राक्षसों पर
अमृत वर्षा का कोई प्रभाव नहीं हुआ :

सुनु सुरपति कपि भालू हमारे,
परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे.
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना,

सकल जिआउ सुरेस सुजाना.
सुधा बरसि कपि भालू जिआए,

हरषि उठे सब प्रभु पहं आए.
सुधा वृष्टि भे दुहु दल ऊपर,

जिए भालू कपि नांह रजनीचर.

—लंका कांड, पृष्ठ 856

अविवेकपूर्ण तर्क

तो अमृत भी पक्षपात करता है!
अमृत तो एक अच्छे औषधि है, क्या वही
दवा कुछ मरीजों को अच्छा कर देती है
और दूसरी जाति के लोगों पर कोई
प्रभाव नहीं करती?

चौदह वर्ष बीतने को थे, राम ने
अपने पहुंचने से पहले हनुमान से अयोध्या
में भरत के पास अपने आने का समाचार
भिजवाया, भरत ने हनुमान को नहीं
पहचाना:

राम विरह सागर महं

भरत मगन मन होत.

विप्र रूप धरि पवनसुत

आइ गमयउ जनु पोत.

देखत हनुमान अति हरषेउ,

पुलक गात लोचन जल बरसेउ.

मन महं बहुत भांति सुख मानी,

बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी.

जासु विरह सोचउ दिनराती,

रटउ निरंतर गुनगन पांती.

रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता,

आयउ कुसल देवमुनि आता.

रिपु रन जीति सुजस मुर गावत,

सोजा अनुज सहित प्रभु आवत.

सुनत बचन बिसरे सब दुखा,
तृषावत जिमि पाइ पियूषा.

को तुम्ह तात कहाँ ते आए,

मोहि परम प्रिय वचन सुनाए.

उत्तर कांड, पृष्ठ 869-70

भरत ने हनुमान को क्यों नहीं
पहचाना? एक मास से कुछ कम पहले ही
दोनों की असाधारण भेंट हो चुकी थी.
लक्ष्मण के शक्तिबाण लगने वाली रात
हनुमान अयोध्या पर से लौट रहे थे. भरत
ने पहाड़ ले जाते हुए हनुमान को राक्षस
समझ कर बाण मारा. बाद में उन्हें राम
का सेवक जान कर भरत बहुत दुखी हुए.
इस घटना के बाद युद्ध 17 दिन चला था.
क्या इतने कम समय में भरतजी उस
व्यक्ति को भूल गए?

भरत राम के अनन्य भक्त थे. राम-
दूत की सहायता करने के बजाए उसे
बाण मार दिया. यह घटना तो भरत की
जीवन भर सदा स्मरण रहनी चाहिए थी :
गहि गिरि निसि नम धावत भयऊ,

श्रवधपुरी ऊपर कपि गयऊ.

देखा भरत बिसाल अति

निसिचर मन अनुमानि.

बिनु फर सायक मारेउ

चाप श्रवन लगि तानि.

परेउ मुरुछि महि लागत सायक,

सुमिरत रामराम रघुनायक.

सुनि प्रिय वचन भरत तब धाए,

कपि समीप अति आतुर आए.

विकल विलोकि कीस उर लावा,

जागत नहि बहु भांति जगावा.

—लंका कांड, पृष्ठ 792-93

बालक राम ने कागभुशुंडि को पकड़ने
के लिए हाथ फैलाया. कौआजी महाराज
सात आवरण पार कर गए. पर उस हाथ
ने पोछा नहीं छोड़ा. आगे की कथा तुलसी
के शब्दों में सुनिए :

जानु पानि धाए मोहि धरना,

स्यामल गात अरुन कर चरना.

तब मैं भागि चलेउ उरगारी,

राम गहन कहं भुजा पसारी.

जिमिजिमि दूर उड़ा अकासा,

तहँ हरि भुज देखे निरखि।

ब्रह्मलोक लागि गयउं

मैं चितयउ पाछ उड़ात,

जुग अंगुल कर बीच सब

राम भुजहि मोहि तात.

सप्ताबरन भेद करि

जहां लगें गति मोरि,

गयउं तहां प्रभु भुज निरखि

ध्याकुल भयउं बहोरि.

मूंदेउ नयन त्रसित जब भयेउं,

पुनि चितवन कोसलपुर गयेउं.

—उत्तर कांड, पृष्ठ 941-42

कैसी भूलभुलैया?

राम ने हाथ बढ़ा कर काग को पकड़ना चाहा और काग के उड़ने के साथ ही उस की लंबाई बढ़ाते गए. इस संबंध में हम कुछ कहना नहीं चाहते. राम ईश्वर थे और ईश्वर सब कुछ कर सकता है. वह चाहे कौआ पकड़े चाहे कोयल. वैसे जिन लोगों ने उस दृश्य को देखा होगा, वे तो अवश्य चक्कर में पड़ गए होंगे. आज-कल राकेटों से निकले धुएं की क्या रेखा बनती है जो राम का लंबा हाथ रेखा जैसा लगा होगा? पर आगे जो हुआ, वह बात बुद्धि में नहीं बैठती :

मोहि विलोकि रामु मुमुकाहीं,

बिहंसत तुरत गयउं मुख माहीं.

उतर मांझ सुनु अंडज राया,

देखेउ बहु ब्रह्मांड निकाया.

अति विचित्र तहं लोक अनेका,

रचना अधिक् एक तें एका.

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा,

अगनित उडुगन रवि रजनीसा.

अगनित लोकपाल जमकाला,

अगनित भूधरि भूमि विसाला.

एकएक ब्रह्मांड महं

रहउं बरष सत एक.

एहि विधि देखत फिरउं

मैं अंड कटाइ अनेक.

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका,

फिरतफिरत निज आश्रम आयउं,

तहं पुनि रहि कछु काल गंवायउं.

निज प्रभु जन्म अवध सुनि आयउं,

निर्भर प्रेम हरिष उठि धायउं.

उभय घरि मंह में सब देखा,

भयउ भ्रमित मत मोह विसेवा.

देखि कृपाल विकल मोहि

बिहंसे तब रघुवीर,

बिहंसत ही मुख बाहेर

आयउं सुनु मतिधीर.

—उत्तर कांड, पृष्ठ 942-44

राम के पेट में कौआ घुस गया. एक-एक ब्रह्मांड में सौसौ वर्ष घूमता रहा. वहां बेचारे ने न जाने क्याक्या देखा. वहीं अपना आश्रम देख कर उस में रहने लगा. राम का जन्म सुन कर अयोध्या आ गया. वहां उसे देख कर राम पुनः हंसे. तब बेचारा बाहर निकल पाया. वह अपने को बाहर समझ रहा था, पर था राम के मुंह में. वास्तव में दो घड़ी का समय बीता था, पर कौआजी को लगा सौ कल्प बीत गए.

कैसी भूलभुलैया है! जादूगर लड़की को बंद करता है टोकरी में और वह थोड़ी देर बाद बाहर से आती मालूम होती है.

राम का कमाल इस से कई गुना जोरदार है. क्या राम राजमहल में लावारिस घूमते रहते थे जो न उन्हें कोई कौआ पकड़ने से रोकता था और न मुंह में घुसनेनिकलने वाले कौआ को ही मारता था?

औचित्य पर कौन ध्यान दे! भक्त को तो अपने भगवान की लीला की श्रलौकिकता सिद्ध करनी है. बिना ऐसा किए सुनने वालों पर प्रभाव भी नहीं पड़ता.

राम अपनी लीला के विषय में किसी का भ्रम नहीं देख सकते. कौशल्या एक बार राम को भगवान न समझ कर बालक समझने लगीं तो राम को विराट रूप धारण कर माता की बुद्धि ठीक करनी पड़ी. बड़ेबूढ़ों की बुद्धि कुछ कमजोर पड़

जाती हैं। राम ने माता के सामने अपना
चतुर्भुज रूप अर्पण कर अपनी ईश्वरता सिद्ध
कर दी थी :

भये प्रकट कृपाला

दीनदयाला कौसल्या हितकारी,
लोचन अभिरामा तन धन

स्थामा निज आयुध भुज चारी.

माता पुनि बोली सो मति

डोली तजहु तात यह रूपा,
कीजें सिमु लीला अति प्रिय

सीला यह सुख परम अनूपा.

—बाल कांड, पृष्ठ 192-93

यह बात होते हुए भी एक दिन माता
कौशल्या को आखिर भ्रम हो ही गया :
इहांउहां दुइ बालक देखा,

मति भ्रम मोर कि आन विशेषा.
देखि राम जननी अकुलानी,

प्रमु हंसि दीन्ह मधुर मुसुकानी.

देखरावा मातहि निज अदभुत रूप अखंड,
रामराम प्रति लागि कौटिकोटी ब्रह्मांड.

तनु पुलकित मुख बचन न आवा,

नयन मूँदि चरननि सिरु नावा.
विस्मयवंत देखि महातारी,

भए बहुरि सिमु रूप खरारी.

—बाल कांड, पृष्ठ 200-201

ऊपर के प्रश्न चिह्नों का भक्त लोग
क्या उत्तर देंगे, इसे तो हम नहीं बता
सकते. हमारे विचार से तो तुलसी ने
मानस में इन का समावेश उसे धार्मिक
रचना बनाने के लिए ही किया होगा.
फैशन का पालन तो करना ही पड़ता है.

(लेख में उद्धृत उद्धरणों की पृष्ठ
संख्याएं गोता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित
साढ़े तीन रुपए मूल्य वाले अर्थसहित
'रामचरितमानस' के दशम संस्करण से
दी गई हैं. —लेखक)

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी हो या किसी समाज को भर्त्सना करनी हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए, मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी यानी धन की बुराई की है, पर किसी धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो। क्यों? भगवान खुश होंगे। तो क्या धन कमाने वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता है तो घृणायोग्य बन जाता है।” पर क्या बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए। बिना पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है? आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को रोजगार में लगाने के लिए कम से कम 10,000 रुपए की पूँजी चाहिए। बिना पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह सकता है। रोजगार बिना पूँजी के नहीं हो सकता। बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती। मानसिक व शारीरिक सुख बिना पूँजी नहीं मिल सकता।

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती। धन बिना मेहनत किए नहीं आता। और आमदनी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी नहीं बन सकता। व्यक्ति ही पूँजी बनाता है, वह ऊपर से नहीं टपकती। सरकार (यानी राजनीतिबाज) उसे जम्मा कर सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना नहीं सकती।

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है। जब तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में रोजगार बढ़ेगा, न बेकारी कम होगी और न ही समृद्धि आएगी।

जिस देश में करोड़ों लोगों को भरपेट भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और पूँजीपतियों को गालियां दे कर राजनीतिबाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन का पेट नहीं भर सकते। उन का पेट तो तभी भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने और उद्योगधंधे होंगे। और वे तब होंगे जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी। याद रखिए, पूँजी और गरीबी का आपस में बैर है। पर राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजीपति का बैर बना दिया है।

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए। पूँजी व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में लगिए। दूसरों को रोजगार दीजिए। यदि व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग सर्टिफिकेट खरीद कर। वैसे समाजवाद यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध नहीं बन सकता। इस से केवल राजनीतिबाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है।●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए।

रामचरितमानस के कुछ असंगत स्थल

गंगासहाय 'प्रेमी'

तुलसी की सर्वप्रसिद्ध रचना में भूलों की प्रचुरता

भारतीय साहित्य में तुलसी के 'राम-चरितमानस' का सब से अधिक प्रचार हुआ है। यह बात ठीक है पर साथ ही इस में भी कोई संदेह नहीं कि ऐसे लोग बहुत कम होंगे जिन्होंने 'रामचरितमानस' पढ़ते समय मस्तिष्क की खिड़कियां खुली रखी हों। 'रामचरितमानस' के अधिकांश पाठकों के मस्तिष्क को धर्म, श्रद्धा, अंध-विश्वास और स्वर्गनरक की घटनाएं घेरे रहती हैं।

यह बात हम इस आधार पर कह रहे हैं कि यदि लोगों ने स्वतंत्र मस्तिष्क से 'रामचरितमानस' का अध्ययन किया होता तो उस की अनेक असंगतियों पर उन का ध्यान अवश्य गया होता। असंगतियों पर ध्यान जाने की दशा में उन की चर्चा अधिक होती पर हम देखते हैं कि न तो आलोचना साहित्य में और न साधारण जनता में इस प्रकार की चर्चा की जाती है।

नीचे हम कुछ ऐसे स्थलों की ओर संकेत कर रहे हैं जो हमारी दृष्टि में असंगत हैं। 'रामचरितमानस' के भक्तों और विशेषज्ञों से अनुरोध है कि इन शंकाओं का स्वस्थ समाधान कर के हमें अनुगृहीत करें। ये शंका इस प्रकार हैं:

माया नगर के राजा शीलनिधि की कन्या पर नारदजी मोहित हो गए और स्वयंवर में उसे प्राप्त करने के लिए विष्णु से सुंदरता मांगने गए:

एहि अवसर चाहिय परम सोभा रूप

विसाल,
जो बिलोकि रीझें कुंवरि तब मेलें
जय माल.

हरिसन मांगहुं सुंदरताई,
होइयहि जातगहरु अति भाई.
बहुविधि विनय कोन्ह तेहि काला,
प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला.
अति आरति कहि कथा सुनाई,
करहु कृपा करि होहु सहाई.
आपन रूप देहु प्रभु मोहि,
आन भांति नहि पावहुं ओही.

(बाल कांड, पृष्ठ: 46)

नारदजी योगी थे (वेद न देइ सुनहु मुनि जोगी—बाल कांड, पृष्ठ 147) योगी की शक्ति कम नहीं होती। योगी अपनी इच्छा से अनचाहा रूप बना सकता है। नारद योगी होते हुए भी विष्णु के पास रूप मांगने क्यों गए?

पुराणों में इस प्रकार के अनेक प्रसंग मिलते हैं जिन में योगियों द्वारा इच्छानुसार रूप बनाने की बात कही गई है। एक व्यक्ति ने तो अत्यंत सुंदर रूप बना कर राजा की संकड़ों लड़कियों से विवाह किया था। योग संबंधी ग्रंथ भी इस प्रकार की बात कहते पाए जाते हैं।

रूप मांगने पर विष्णु ने नारद का मुंह बंदर का बना दिया। नारद के इस रूप को देख कर शिव के दो गण स्वयंवर सभा में मुसकराने लगे। राजकुमारी ने नारद का वरण नहीं किया तो वह बड़ी

5366

उलझन में पड़ गए C-इसी असामंजस परिणाम। प्रत्यक्ष निष्कर्ष निष्कर्षण। है कि नारदजी ने अपने हाथपैरों पर भी ध्यान नहीं दिया :
मरकट बदन भयंकर देही,
देखत हृदय क्रोध भा तेही।

(बाल कांड, पृष्ठ : 148)

राजा प्रतापभानु के यहां ब्राह्मण खाने बैठे। जब भोजन परोसा जाने लगा तो आकाशवाणी हुई :

विप्रबुंद उठिउठि गृह जाहू,
है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू।
भयेउ रसोई भूसुर मांसू।

(बाल कांड, पृष्ठ 177)

बस फिर क्या था? ब्राह्मणों ने शाप दे डाला :

बोले विप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह
विचार,
जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित
परिवार।

छत्र बंधु ते विप्र बोलाई,
घालै लिए सहित समुदाई।
ईश्वर राखा धरम हमारा,
जैहसितें समेत परिवारा।
संवत मध्य नास तब होऊ,
जल दाता न रहहि कुल कोऊ।

(बाल कांड, पृष्ठ : 177)

इतने में ही फिर आकाशवाणी हुई :
विप्रहु शाप विचारि न दोन्हा,
नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा।

(बाल कांड, पृष्ठ : 177)

यहां देखने योग्य बात यह है कि राजा प्रतापभानु के यहां एक लाख ब्राह्मण परिवार भोजन करने बैठे थे। उन्होंने बिना कोई विचार किए हुए शाप कैसे दे दिया? अगर तुरंत शाप दिया जाता तो सब के मुख से अलगअलग बातें निकलतीं। जो ब्राह्मण शाप दे कर राजा को सपरिवार नष्ट कर सकते थे, क्या उन में वास्तविकता जानने की शक्ति नहीं थी? आकाशवाणी के लिए हम क्या कहें? वह अगर पूरी सचता एक ही बार में दे देती तो क्यों निर्दोष को दंड मिलता? शाप

उलझन में पड़ गए C-इसी असामंजस परिणाम। प्रत्यक्ष निष्कर्ष निष्कर्षण। है कि नारद से यह कह कर भागे कि शीशे में अपना मुंह देखो। नारद ने पानी में अपनी सूरत देखी और शिवगणों को भारी सा शाप दे डाला :

मुनि अति त्रिकल मोहमति नाठी,
मनि गिरि गई छूटि जनु गांठी।
तब हरगन बोले मुसकाई,
निजमुख मुकुर बिलोकहु जाइ।
अस कहि दोउ भागे भय भारी,
वदन दीख मुनि वारि निहारी।
वेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा,
तिन्हहिं सराप दीन अति गाढ़ा।

(बाल कांड, पृष्ठ : 149)

असामंजस्य

हमारी समझ से तो शिवगणों ने कोई अपराध नहीं किया था। उन्हें शाप देने में नारद ने कौन सी बुद्धिमानी की? क्या किसी को वास्तविकता बता देना भी अपराध है? नारद बड़ी मानसिक परेशानी में थे। वह स्वयं को विष्णुरूपधारी समझ कर राजकुमारी न पाने की पहेली नहीं सुलझा पा रहे थे। यदि शिव के गण नारद को शोशा देखने की सलाह नहीं देते तो बेचारे न जाने कब तक परेशान रहते? नारद को तो शिवगणों का उपकार मानना चाहिए था।

एक बात हमारी समझ में यह नहीं आती कि नारदजी ने स्वयंवर में जाने से पहले शोशा क्यों नहीं देखा? आजकल के तिलकधारी साधुओं के समान उस समय के बाबा भी अपनी झोली में शोशा अवश्य रखते होंगे। नारदजी स्वयंवर में आते समय अपना वैरागी बाना रख आए होंगे। तभी तो शिव के गणों ने उन्हें जा कर शोशा देखने की सलाह दी।

लगे हाथ एक बात और कह दें। शीशे के बिना नारद अपना बंदर जैसा मुंह नहीं देख सके तो कोई बात नहीं थी। पर विष्णु ने तो उन का शेष शरीर भी

भी कैसा विचित्र साधन था जो जगत् को बड़े-बड़े
के संशोधन से भी बाहर था। शाप के
विवेचन पर हम फिर कभी विचार करेंगे।

रावण की तपस्या से प्रसन्न हो कर
ब्रह्माजी ने रावण से वर मांगने को कहा।
रावण बोला :

हम काहू के मरहि न मारे,
वानरमनुज जाति दुइ बारे।

(बाल कांड, पृष्ठ : 179)

वर मांगने में रावण का उद्देश्य अमर
होने का ही था। उस ने सीधी बात क्यों
नहीं कही कि मैं किसी के मारे नहीं
महंगा। उस ने वानर और मनुज दो को
क्यों छोड़ दिया? क्या वानर और मनुष्य
के हाथ से मरने में विशेष पुण्य था? ऐसा
लगता है कि ये सब किस्से राम कथा में
जोड़ने के लिए गढ़े गए हैं।

पक्षपात

राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के यज्ञ
की रक्षा करने गए। वहां जो कुछ हुआ
वह इस प्रकार है :

चले जात मुनि दीन्ह दिखाई,
मुनि ताड़का क्रोध करि धाई,
एकहि बान प्राण हरि लीन्हा,
दीन जानि तेहि निजपद दीन्हा।

(बाल कांड, पृष्ठ : 207)

कहना यह है कि यहां ताड़का के
लिए 'दीन' शब्द का प्रयोग कहां तक
उचित है? क्या ताड़का दीन थी? मारीच
और सुबाहु की मां, यज्ञ विध्वंसकारी
शक्ति की स्वामिनी ताड़का, दीन कौन से
कोश के अनुसार थी? यदि राम ने दीन
जान कर ही ताड़का को 'निजपद' दिया तो
संसार के तत्कालीन अन्य दीनों ने ही क्या
बिगाड़ा था!

राम और लक्ष्मण विश्वामित्रजी के
संग जनकपुर जा रहे थे। बहुत से ऋषि
भी साथ थे। मार्ग में गंगा पड़ी। वहां सब
लोग नहाए। ब्राह्मणों को बहुत सा दान
मिला :

लक्ष्मण और विष्णु भी नहाए,
विविध दान महि देवन्ह पाए।

(बाल कांड, पृष्ठ : 210)

ब्राह्मणों को भांतिभांति का दान
मिला, यह ठीक है। गंगा स्नान के बाद
लोग दान करते ही हैं। पर हम जानना
चाहते हैं कि यह दान दिया किस ने? राम
ने या ऋषियों ने? हमारे विचार से दोनों
ही अधिकतर थे। उस समय नोटों का प्रच-
लन था नहीं जो साथ ले चलते। ऋषिमुनि
लोग पहले तो संपन्न नहीं होते। दूसरे, वे
ब्राह्मणों से क्या हीन कोटि के थे जो
ब्राह्मणों को दान करते? रही रामलक्ष्मण
की बात, सो उन्हें दशरथ ने विश्वामित्र
के साथ खाली हाथ भेजा था। खजाना साथ
भेजने का कहीं प्रसंग ही नहीं आता।

दशरथ की मृत्यु राम के वियोग में
हुई थी, पहले ही स्पष्ट था कि वह राम
के वियोग में जीवित नहीं रह सकेंगे।
कैंकेयी ने राम के वनवास और भरत के
राज्याभिषेक का वर मांगा था। उस ने यह
तो नहीं कहा था कि दशरथजी राम के
साथ न जाएं पर दशरथजी स्वयं यह बात
सोच सकते थे। उन की समझ में नहीं आई
तो कोई भी मंत्री यह साधारण सी बात
बता कर समस्या सुलझा सकता था।

दशरथजी को राम का वियोग जब
असह्य हो गया तो उन्होंने सुमंत से कहा :
सखा रामु सिय लखन जहं तहां मोहि
पहुंचाउ,
नाहित चाहत चलन अब प्राण कहउ
सति भाउ।

(अयोध्या कांड, पृष्ठ : 453)

हम पूछना चाहते हैं कि दशरथ की
इस आज्ञा का पालन क्यों नहीं किया
गया? उन्हें राम के पास पहुंचाने में क्या
अड़चन थी? क्या सब लोगों ने दशरथ को
मारने का षडयंत्र रच लिया था?

रावण ने विवश किया तो मारीच
सोने का मृग बन कर राम को दूर ले गया।
वहां जो कुछ हुआ वह तुलसी के शब्दों में
इस प्रकार है :

तब तकि राम कठिन सरो मोर,
धरनि परेड करि घोर पुकारा.
लछिमन कर प्रथमाहि ले नामा,
पाछे सुमिरेसि मन महं रामा.
प्राण तजत प्रगटेसि निज देहा,
सुमिरेसि राम समेत सनेहा
अंतर प्रेम तासु पहिचाना,
सुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना.

(अरण्य कांड, पृष्ठ 629)

पता नहीं राम ने मारीच का अंतर
प्रेम कैसे पहचान लिया? उस के किसी
काम से तो यह प्रकट नहीं होता कि वह
मन में राम से प्रेम करता था और विवश
हो कर रावण के साथ आया था.

राम का बाण लगने पर उस का
मरना निश्चित था. अगर वह राम का
प्रेमी या भक्त होता तो उस समय सच्ची
बात कह सकता था. वह लक्ष्मण को
बुलाने के स्थान पर राम को वास्तविकता
बता सकता था. इस से सीता का हरण
भी न होता और रावण भी मारा जाता.

मरते समय बड़ेबड़े अपराधी भी सत्य
बोलने लगते हैं. पर मारीच तो मरतेमरते
रावण का काम कर गया. इस से तो
यही सिद्ध होता है कि मारीच रावण
का पक्का आदमी था. फिर राम
के द्वारा उस का अंतरप्रेम पहचानना और
'मुनिदुर्लभ' गति देना कहां तक उचित है?

सीताहरण के पश्चात राम अत्यंत
दुखी थे. नारदजी ऐसे में राम के पास
गए. वहां का प्रसंग तुलसी के शब्दों में
इस प्रकार है :

नाना विधि विनती करि प्रभु प्रसन्न
जिय जानि,
नारद बोले वचन तब जोरि सरोरुह
पाति.

सुनहु उदार सहज रघुनायक,
सुंदर अगम सुगम वर दायक.
देहु एक वर मांगहु स्वामी,
जद्यपि जानत अंतरजामी.

राम ने कहा :

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ,

जन सम कहुं कि कहुं सुभाऊ.

कवन वस्तु असि प्रिय मोहि लागी,
जो मुनिवर न सकहु तुम्ह मांगी.

जन कहूं कछु अदेय नहि मोरे,
अस विश्वास तजहु जनि भोरे.

तब नारद बोले हरषाई,
अस वर मांगउं करउं छिठाई.

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका,
श्रुति कह अधिक एक ते एका.

राम सकल नामन्ह ते अधिका,
होउ नाथ अद्यखगन बधिका.

राका रजनी भगति तब रामनाम सोइ
सोम,

अपर नाम उडुगन विमल बसहु भगत
उर व्योम.

एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु
रघुनाथ,

तब नारद मन हरष अति प्रभु पद
नायहु माथ.

(अरण्य कांड, पृष्ठ : 647)

आत्मप्रशंसा

इस से बड़ी खुशामद और आत्मप्रशंसा
का प्रसंग शायद ही कहीं मिले! नारद ने
कितनी भूमिका बांधी पर वर क्या मांगा,
'आप के बहुत से नाम हैं जो एक से एक
बढ़ कर हैं, लेकिन राम नाम उन सब
नामों से अधिक है. आप की भक्ति पूर्णमा
की रात है. राम नाम चंदा है. अन्य नाम
तारागण हैं. ये सब भक्तों के हृदयरूपी
आकाश में निवास करें.'

बेशर्मी की हद हो गई, जब राम ने
इस पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा
दी. किसी दूसरे के सामने यह प्रस्ताव रख
कर स्वीकृति ली जाती, तब तो ठीक था.

वास्तविकता यह लगती है कि तुलसी
अपने उपास्य राम का नाम सब से
महत्त्वपूर्ण बताना चाहते थे. उस के लिए
तुलसी ने यह प्रसंग चुना. हम पूछना
चाहते हैं कि क्या इस बात के लिए यह
प्रसंग उचित था? क्या इस से राम की

प्रतिष्ठा कम नहीं होती?

सीता हरण के विषय में जटायु पहले ही राम को बता चुका था :

तब कह गोध वचन धरि धीरा,
सुनहु राम भंजन भव भीरा.
नाथ दसानन यह गति कीन्हों,
तेहि खल जनकसुता हरि लीन्हों.
ल दच्छिन दिसि गयेउ गुसाईं,
विलपति अति कुररी की नाईं.

(अरण्य कांड, पृष्ठ : 635)

आगे के एक प्रसंग में राम लक्ष्मण से कहते हैं :

वर्षा गत निर्मल रिनु आई,
सुधि न तात सीता कं पाई.
एक बार कैसेहुं सुधि जानों,
कालहु जीति निर्मिष मह आनौं.
कतहुं रहउ जो जीवति होई,
तात जतन करि आनहु सोई.

भुलक्कड़पन

क्या ऊपर की दोनों बातों में कोई सामंजस्य है? जब जटायु बता चुका था कि रावण सीता को बलपूर्वक उठा कर दक्षिण की ओर ले गया है तो अनिश्चय की स्थिति कहां रही? क्या राम इतना भी नहीं जानते थे कि रावण कहां का राजा है? वह जटायु से समाचार पा कर अकेले ही लंका की ओर चल सकते थे या सुग्रीव से लंका में बंदर भेजने की बात कह सकते थे? फिर बेचारा सुग्रीव इधरउधर वानरों के खोजी दल क्यों भेजता? वह वानरों से सीधा लंका जाने की बात कहता.

इस प्रकार की परस्पर असंबद्ध बातें देख कर यह अनुमान होता है कि तुलसी बाबा या तो भंग पी कर कावता लिखते होंगे या उन्हें अपनी रचनाएं दोबारा पढ़ना अरुचिकर लगता होगा, अन्यथा यह भूलें

किस प्रकार संभव हैं?

तुलसी ने राम के मुख से लक्ष्मण को अपना सगा भाई और अपनी माता का एकलौता पुत्र कहलवाया है :

अस विचारि जिय जागहु ताता,
मिलहि न जगत सहोदर आता.
निज जननी के एक कुमारा,
तात तासु तुम प्रान अधारा.

(लंका कांड, पृष्ठ : 795)

रामकथा की दृष्टि से तो दोनों बातें गलत हैं ही, वैसे भी एक प्रसंग में उक्त दोनों बातें नहीं कही जानी चाहिए थीं. एक व्यक्ति एक साथ ही किसी का सहोदर आता और अपनी मां का अकेला पुत्र नहीं हो सकता.

तुलसी के भुलक्कड़पन का यह प्रसंग समाप्त करने से पहले हम एक बात और कहना चाहते हैं. जनसाधारण 'हनुमान चालीसा' को तुलसीदास की रचना मानता है. पर विद्वानों ने इसे तुलसी के ग्रंथों में स्थान नहीं दिया है.

हमारा विश्वास है कि 'हनुमान चालीसा' अगर किसी की रचना हो सकती है तो वह तुलसी बाबा की. अपने पक्ष में हम कोई बाह्य प्रमाण न दे कर एक आंतरिक प्रमाण देंगे. 'हनुमान चालीसा' के प्रारंभ में ही हनुमानजी के तीन भिन्न-भिन्न पिता बताए गए हैं :

शंकर सुवन केसरी नंदन,
तेज प्रताप महा जग बंदन.
अंजनि पुत्र पवन सुत नामा...

यह तो हनुमानजी के भक्त लोग ही जाने कि हनुमान के पिता कौन थे? शंकर, केसरी या पवन? चौपाई की एक पंक्ति में हनुमान के दो पिता बताने का साहस तुलसी के अतिरिक्त और कौन कर सकता था?

सरिता का रचनात्मक आंदोलन

**बच्चे तीन से कम पैदा कीजिए,
पेड़ पांच से अधिक लगाइए.**

भारत की सब से बड़ी समस्या है गरीबी और जनसंख्या का बेलगाम बढ़ते जाना। सभी धर्म ग्रंथों में लिखा होने पर भी कि अमुक राजा या व्यक्ति अमुक पुरुष के वीर्य से, अमुक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ, जनता को यही भुलावा दिया जाता रहा कि संतान भगवान को देन है।

जब तक आधुनिक विज्ञान और पश्चिमी चिकित्सा पद्धति भारत में नहीं आई थी, गरीबी, भुखमरी, अकाल और अनेक महामारियों के कारण जनसंख्या सीमित रहती थी। मृत्यु दर लगातार घटती जा रही है। जहां पहले 100 बच्चों में से मुश्किल से 5-10 बच पाते थे, आज 60-70 से अधिक जीवित रहते हैं।

इस सब के कारण जनसंख्या में भारी वृद्धि हो रही है और इस व्याधि को भगवान और भाग्य के भरोसे छोड़ना सामूहिक आत्महत्या के समान है। 'भगवान जिसे वो हाथ देता है, उसे खाना भी देगा,' यह सिद्धांत बिल्कुल ही गलत और भ्रामक है।

यदि आप अपनी, अपने परिवार की और देश की गरीबी रोकना चाहते हैं तो बच्चे कम पैदा कीजिए। भगवान का इस में कोई वखल नहीं है। यदि गर्भ निरोधक सही प्रकार से प्रयोग में लाए जाएं तो भगवान भी किसी स्त्री के संतान उत्पन्न नहीं कर सकते।

आज के मशीनी युग में, संकड़ों व्यक्तियों का काम एक मशीन हजार गुना गति से पूरा कर देती है। आज वही व्यक्ति शक्तिशाली व धनी हो सकता है, जिस को ऊंचे दर्जे की शिक्षा और प्रशिक्षण मिला हो। इन सब के लिए धन चाहिए। जितने अधिक बच्चे होंगे, उतना ही धन

प्रति बच्चा कम होता जाएगा। नतीजा यह होगा कि जिन के बच्चे कम होंगे, वे उन्हें अच्छा, महंगा प्रशिक्षण दे सकेंगे।

देश में अधिक से अधिक पेड़ लगाने की भी आवश्यकता है। क्योंकि बाढ़ें अधिक आ रही हैं, नदियों और बांधों में मिट्टी भरती जा रही है, सूखा पड़ता जा रहा है, रेगिस्तान फैलता जा रहा है। लकड़ी कम और महंगी होती जा रही है।

इसलिए आप अपने बच्चों का मोह अधिक वृक्ष उगा कर पूरा कीजिए। यह निश्चय कीजिए कि अपने जीवन में आप कम से कम पांच वृक्ष अवश्य लगा कर बड़े करेंगे। बच्चे बड़े हो कर विश्वासघात कर सकते हैं, आप को कष्ट पहुंचा सकते हैं, परंतु वृक्ष सदा आप के प्रति वफादार रहेंगे, वे आप को बराबर हर वर्ष अपनी शक्ति के अनुसार फलफूल देंगे, छाया देंगे, मौसम की बदलती आंखों से आप के घर की रक्षा करेंगे।

हो सकता है आप किराए के मकान या फ्लैट में रहते हों। यदि आप निचली मंजिल में रहते हैं तो वहां भी पेड़ लगा सकते हैं—और इस पर लागत अधिक नहीं आती। यदि आप केवल ऊपरी मंजिलों में रहते हैं तो वहां गमलों में पौधे लगाइए, सब्जी बोइए, बेलें चढ़ाइए। अपनी जमीन न हो तो किसी सार्वजनिक स्थान में—स्कूल, अस्पताल, बगीचा, सड़क, धर्मशाला आदि में, प्रबंधकों से अनुमति ले कर वृक्ष लगाइए। ज्योंज्यों वे बढ़ते जाएंगे, आप को एक अपूर्व संतोष, शांति और परिपूर्ति का उत्तरोत्तर अनुभव हो जाएगा।

आज ही निश्चय कीजिए :

बच्चे दो या तीन, पेड़ पांच से पचीस.

श्रीकृष्ण

म. प्र. दीक्षित

प्रेमावतार माने जाने वाले अर्जुन को युद्ध की विभीषिका में धकेल देते हैं तथा भारत की दृढ़ता को सदासदा के लिए नष्ट कर देते हैं...

भारतीय संस्कृति जिन महान व्यक्तियों से प्रभावित है—वे हैं श्रीराम और श्रीकृष्ण. श्रीकृष्ण का ज.म श्रीराम के बाद हुआ था जब कि आर्य जाति मुख्यतया उत्तर भारत की नदियों के किनारे किनारे फैल चुकी थी और वहां के निवासियों में बिल्कुल घुलमिल गई थी. उन का समय ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पहले आंका जाता है.

तब छोटेछोटे गणराज्य थे जहां जरा-संध, कंस, शिशुपाल, जयद्रथ आदि राजा राज्य करते थे. किंतु मुख्य सत्ता हस्तिनापुर (दिल्ली के पास) में थी जहां पर कौरव कुल का सब से समृद्ध और व्यवस्थित राज्य था. व्यवसाय खेती और गोपालन था. युद्ध सामग्रियों में धनुषबाण और गदा ही प्रमुख थे. वाहन के रूप में रथ और घोड़ों का उपयोग होता था.

श्रीकृष्ण मथुरा में पैदा हुए थे किंतु उन का लालनपालन उन के पिता के मित्र, वृंदावन के सब से बड़े गोपालक, नंदजी के यहां हुआ था. उस समय व्यक्तिविशेष की समृद्धि गौओं की संख्या से आंकी जाती थी. नंदजी और उन की पत्नी यशोदा का वृंदावन में बड़ा प्रभुत्व था. इसलिए श्रीकृष्ण को आदरसत्कार मिलना स्वाभाविक ही था. वह बड़े सुंदर थे और आरंभ से ही उन्होंने अपनी बालोचित क्रीड़ाओं से यशोदा का मन जीत लिया था. प्रमुख गोपालक के पुत्र होने के नाते

और अपनी प्रसन्न मुद्राओं के कारण उन्होंने वहां के ग्वालबालों तथा ग्वालवालाओं को अपने वश में कर रखा था.

कंस के षड्यंत्रों से श्रीकृष्ण को ख्याति मिली

वृंदावन मथुरा गणराज्य के अधीन था. वहां का शासक कंस किन्हीं कथित ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के कारण श्रीकृष्ण को मार डालना चाहता था और उस के लिए उस ने कई एक षड्यंत्र भी रचे, पर श्रीकृष्ण ग्वालबालों की सहायता से बराबर बचते रहे. यहां पर विचारणीय यह है कि राजा कंस श्रीकृष्ण को धोखे से मारना चाहता था ताकि नंदजी तथा वहां के ग्वालबालों को ऐसा महसूस हो कि श्रीकृष्ण किसी स्वाभाविक मृत्यु से मरे. राजा कंस के इन षड्यंत्रों से श्रीकृष्ण को काफी ख्याति मिली और वह एक आदर्श युवक के रूप में बढ़ते लगे.

उधर राजा कंस बूढ़ा हो चला था. श्रीकृष्ण के बराबर बचते रहने से राजा कंस के मन में भय बढ़ता चला गया और उसे यह विश्वास होने लगा कि उस की मृत्यु श्रीकृष्ण के द्वारा ही होगी. भय का यह भूत एक दिन सचमुच सच हो गया और राजा कंस श्रीकृष्ण के द्वारा मारा गया. इस घटना से श्रीकृष्ण को काफी नाम मिला और उन का प्रभाव भी बढ़ा.

अब श्रीकृष्ण में महत्वाकांक्षा बढ़ी

और वह सब से महत्वपूर्ण व्यक्ति बनने का सपना देखने लगे, और सोचने लगे कि उन दिनों भारत वर्ष की प्रमुख सत्ता कौरव कुल के हाथ में थी। इसलिए जब तक कौरव उन के प्रभुत्व को स्वीकार न करें, श्रीकृष्ण का सब से महत्वपूर्ण व्यक्ति बनना मुश्किल ही नहीं, असंभव भी था।

महत्वपूर्ण व्यक्ति बनने का सपना

उस समय हस्तिनापुर में महाराज धृतराष्ट्र का राज्य था जो जन्म से अंधे थे पर थे बड़े योग्य और बुद्धिमान। जन्म से अंधे होने के कारण इन के पिताश्री ने भीष्म पितामह और स्वयं धृतराष्ट्र की सलाह से इन के छोटे भाई पांडु को राजा बनाया था पर पांडु राज्यक्षमा से पीड़ित होने के कारण शीघ्र मर गए।

और कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण राज्य की बागडोर धृतराष्ट्र को ही अपने हाथों में संभालनी पड़ी। धृतराष्ट्र बड़े न्यायो थे। उन का स्नेह अपने पुत्रों तथा अपने भाई पांडु के पुत्रों के प्रति एक सा ही था और इसी लिए सभी राजपुत्र एक ही गुरु द्रोणाचार्य द्वारा शिक्षित किए गए। इतना ही नहीं, उन्होंने अर्जुन को, जो कि उन के भाई का पुत्र था, उस समय की नवीनतम धनुर्विद्या की शिक्षा दिला कर प्रवीण बनवाया।

उन के ध्यान में केवल यही था कि अर्जुन अपने भाइयों के साथ कौरव राज्य की संरक्षा करेगा और उस को मजबूत बनाने में पूरापूरा सहयोग देगा। भीष्म के बाद अर्जुन ही राज्य का प्रमुख सेनापति होने वाला था।

इतना ही नहीं, महाराज धृतराष्ट्र की राज्य समा में भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा विदुर जैसे वीर तथा विद्वान पुरुष मौजूद थे, जो काफी सोचसमझ कर निर्णय लिया करते थे। दुर्योधन, अर्जुन, युधिष्ठिर और कर्ण दूसरी पंक्ति के राज-

पुरुष थे। इन्होंने सब राजपुरुषों के होने के कारण राज्य में कौरवों के अधिकारों में कौरव राज्य सब से समृद्ध, सुसंगठित और व्यवस्थित था। प्रजा बहुत सुखी थी। विज्ञान और कला की उन्नति हो रही थी। पारदर्शक भीतों के महल बनने शुरू हो गए थे। रेशम के कपड़ों का चलन शुरू हो गया था।

प्रजा सोनेचांदी, हीरेजवाहरात, धन-धान्य, दूध और घी से भरपूर थी। चारों ओर सुख और शांति थी। सोचने का विषय है कि ऐसे संगठित राज्य में जिसे इतने वीरों और विद्वानों का पूरा सहयोग प्राप्त हो, श्रीकृष्ण को प्रवेश कैसे मिलता और फिर उन की महत्वाकांक्षा कैसे साकार होती!

कुमारी कुंती का पुत्र कर्ण

कर्ण, जो वास्तव में पांडवों की मां महारानी कुंती का ही पुत्र था, कुमारी कुंती द्वारा पैदा किया हुआ था—एक सूत पुत्र के रूप में सामने आया और अर्जुन की प्रतिस्पर्धा का विषय बना। कर्ण को पा कर युवराज दुर्योधन बहुत खुश हुआ और उसे अंगदेश का शासक बना दिया।

कर्ण को मिला यह मान युधिष्ठिर व अर्जुन को अच्छा नहीं लगा। महारानी कुंती ने कर्ण संबंधी अपने रहस्य को बराबर गोपनीय रखा। श्रीकृष्ण को यह दूसरा मौका हाथ लगा और इस के बाद आरंभ होता है श्रीकृष्ण की विशिष्ट कूटनीति का इतिहास, जिस ने देश को एक नया मोड़ दिया और जो आगे चल कर महाभारत युद्ध का मुख्य कारण बना।

इस के उपरांत श्रीकृष्ण की प्राण-प्रतिष्ठा एक साधारण मानव से उठ कर सर्वशक्ति मान सोलह कलाधारी भगवान के रूप में होने लगी। यह उन का प्रेमावतार कहलाया जब कि यह प्रतिष्ठा उन को एक भोषण युद्ध करवाने के बाद ही मिली।

श्रीकृष्ण सचमुच ही बहुत बुद्धिमान और दूरदर्शी थे। कारण और कार्य के भेद को खूब अच्छी तरह समझते थे। धीरे-धीरे उन में कूटकूट कर भरा था। उन दिनों देश में आर्य धर्म अच्छी तरह जम चुका था। जनता देवीदेवताओं में पूरा विश्वास करती थी। अवतारवाद का काफी प्रभाव था। ब्राह्मण और सन्यासी की भूसुर के रूप में पूजा होती थी और इन का प्राथमिकता द्वारा स्वागत किया जाता था।

राजा ब्राह्मणों से डरता था

राजा और प्रजा के बीच में ब्राह्मण और सन्यासी एक कड़ी का काम करता था, बिल्कुल उसी प्रकार जिस तरह आज का समाचारपत्र करता है। इन का प्रजा से सीधा संपर्क होने के कारण राजा ब्राह्मण और सन्यासी से सदा डरता रहता था और इसी एक कारण से ब्राह्मण और सन्यासी को कहीं भी बेरोकटोक, रनिवास तक में, जाने का अधिकार प्राप्त था। श्रीकृष्ण ने भी उस समय के ब्राह्मणों के प्रमुख वेद-व्यास तथा सन्यासियों के नेता नारद का सहारा लिया।

इन दोनों ही व्यक्तियों के द्वारा श्रीकृष्ण को प्रायः सभी गणराज्यों में दुर्योधन के प्रति विरोध और पांडुपुत्रों के लिए सहानुभूति प्राप्त करने में आशातीत सहायता मिली। इसी के साथसाथ श्रीकृष्ण ने अपनी मधुमिश्रित विष नीति से पांडवों को फोड़ना प्रारंभ किया। सब से पहले उन्होंने महारानी कुंती को अपने विश्वास में लिया।

कुंती के वश में आने के बाद वह अर्जुन के संपर्क में आए और उस से मित्रता का संबंध जोड़ने लगे। अर्जुन वीर था और विचारक भी, पर एक ओर मां कुंती के वात्सल्य के कारण और दूसरी ओर कथित मित्र श्रीकृष्ण के प्रभाव के कारण अर्जुन में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था।

अर्जुन के बदलते ही सभी पांडव

दुर्योधन के विरोधी होने लगे और यहां से प्रभुत्व का हौंसला निकालते हैं वह दरार जो हमेशा बढ़ती ही रही।

यह सारा खेल श्रीकृष्ण ने इतनी सावधानी और गंभीरता से खेला कि कोई इसे भांप भी न सका। हालांकि इस की गंध दुर्योधन को आने लगी थी, पर भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर तथा स्वयं महाराज धृतराष्ट्र के सामने उसे यह कहने का कभी साहस नहीं हुआ। श्रीकृष्ण कच्चे खिलाड़ी नहीं थे। उन्होंने जहां वेदव्यास और नारद को अपने प्रचार का अस्त्र बनाया और कुंती आदि पांचों पांडव भाइयों को विश्वास में लिया, वहां भीष्म और विदुर को भी प्रभावित किया।

सड़क कल्पना के बाहर की चीज

जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूं, देश में वाहन के रूप में केवल घोड़ों और रथों का प्रयोग होता था और जो जनसाधारण के लिए दुर्लभ वस्तु थी, सभी लोग प्रायः पैदल ही आयाजाया करते थे।

सड़क कल्पना के बाहर की चीज थी। आजकल जैसे बड़े-बड़े शहरों का नामो-निशान तक न था। कौरव राज्य की इतनी बड़ी राजधानी हस्तिनापुर की जनसंख्या पचाससाठ हजार से अधिक नहीं थी।

चारों तरफ जंगलों की भरमार थी। और जगहजगह, विशेषतया नदियों के किनारे जहां पानी की व्यवस्था थी और जहां खेती की जा सकती थी, छोटेछोटे गांव बस गए थे। समाचार प्रसारण का एकमात्र साधन, जैसा कि मैं बता चुका हूं, केवल ब्राह्मण और सन्यासी थे।

उत्तर भारत का समाचार दक्षिण भारत में कहीं वर्षों में पहुंचा करता था और वह भी कभी कटछंट कर और कभी बढ़चढ़ कर, अमुकअमुक राजाओं से प्रभावित व्यक्तियों द्वारा। घने जंगलों के होने के कारण खूंखार जानवरों और लुटेरों का सदा भय रहता था। ज्यादातर लोग वृद्ध

CC-0. Agamganga Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हो जाने के बाद तीर्थयात्रा के बहाने एक स्थान से दूसरे स्थान में जाया करते थे और जो प्रायः अपने घर कभी जिंदा भी नहीं लौट पते थे. इन परिस्थितियों में सन्यासियों द्वारा बनाई और फैलाई गई झूठीसच्ची खबरें लोगों को अपनी अंधभ्रमा के कारण सत्य ही माननी पड़ती थीं.

आदमी के पास ऐसा कोई भी साधन नहीं था जिस से उस की असलियत फौरन जांची जा सके. उस समय मोटर, रेलगाड़ी, हवाई जहाज, रेडियो और टेलीविजन का सपना भी नहीं आ सकता था. इन्हीं सब कारणों से श्रीकृष्ण का प्रचार कार्य बड़ा सफल हुआ और श्रीकृष्ण का नाग नाथना, गोवर्द्धन पर्वत उंगली पर उठाना आदि आदि अस्वाभाविक और सफेद झूठ होते हुए भी लोगों ने सच माने और उन पर आज तक विश्वास किया जाता है. अगर कथित दंभी हठयोगी राव उस समय होता और पानी पर चलने का प्रचार करता तो वह भी एक अवतारी पुरुष बन जाता.

आखिरकार कौरव राज्य की यह दरार धीरेधीरे काफी बड़ी हो गई. निश्चय ही जब राजा का कोई विरोध करता है तो राजा साम, दाम, दंड और भेद से उसे दबाने का प्रयत्न करता है. दुर्योधन के काफी समझानेबुझाने पर जब पांडव भाई नहीं माने तो दुर्योधन ने सख्ती की नीति अपनाई. इस के लिए पांडवों को काफी बलिदान करना पड़ा. सुख और ऐश्वर्य में पले इन राजकुमारों को महारानी कुंती के साथ जंगलों की खाक छाननी पड़ी. कभीकभी सभी भाई जब काफी परेशान हो जाते और दुर्योधन से मेल करने की बात करते तो श्रीकृष्ण उन्हें धीरज का पाठ पढ़ाने लगते.

श्रीकृष्ण को पांडवों की ओर जनमत संग्रह करने का यह एक अच्छा और सफल साधन दिखाई पड़ा. दुर्योधन ने जब इस चाल को समझा तो उस ने झगड़ा समाप्त करने के लिए पांडवों को राज्य का एक हिस्सा दे कर दूरदर्शिता का परिचय दिया.

श्रीकृष्ण के न चाहते हुए भी पांडवों ने सुलह कर ली और आराम से रहने लगे. दूरदर्शी दुर्योधन ने उन को इतनी संपदा दे रखी थी कि पांडवों के रहने के महल उस समय की नवीनतम वास्तुकला द्वारा निर्मित किए गए थे.

दुर्योधन को अपमान सहन नहीं

ऐसे सुंदर महल स्वयं दुर्योधन के पास भी नहीं थे हालांकि वह उस समय देश का शासक था. वह उन के महल देखने गया और पांडव भाइयों को सुखी देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ पर उसी समय एक ऐसी अनहोनी घटना घटी जिस ने जलती हुई आग में घी का काम किया. काश, श्रीकृष्ण की मुंहचढ़ी पंचभोग्या कथित बहन द्रौपदी द्वारा 'अंधों के अंधे ही होते हैं,' उन के महल देखते हुए, युवराज दुर्योधन को यह ताना न मारा गया होता! युवराज दुर्योधन इस अपमान को बरदाश्त नहीं कर सका. श्रीकृष्ण की कूटनीति की दूसरी बार विजय हुई.

भारतीय संस्कृति के पतन का मुख्य कारण सदा से यही रहा है कि हम ने सत्ताधारी की ही गुणगाथा गाई है, चाहे वह कितना ही दुराचारी क्यों न हो. युधिष्ठिर का द्रौपदी के साथ किया गया बलात्कार और उन का जुआ खेल कर व राजसंपत्ति हार कर द्रौपदी को भी हार जाना उन के चरित्र के दो ऐसे कलंक हैं जिन्होंने आर्य धर्म की नाँव ही खोखली कर दी. फिर भी हम ने उन्हें धर्मराज उपाधि से विभूषित किया.

द्रौपदी अद्वितीय सुंदरी थी और उस का शारीरिक विन्यास बड़ा अनोखा था. आकर्षक द्रौपदी के स्वयंवर में जब युधिष्ठिर आदि पाँचों भाई पहुँचे तो द्रौपदी की साजसज्जा पर युधिष्ठिर बुरी तरह मोहित हो गए पर मत्स्यभेदन में अयोग्य होने के कारण उस को पा नहीं सकते थे.

जब वहां पर पहुँच कर उन्होंने दुर्योधन

के साथ कर्ण को भी उपस्थित पाया, तो बड़े निराश हुए, वह तो भविष्य पूर्व न होने के कारण उस को मत्स्यभेदन का अधिकार नहीं मिला, खैर यही हुई कि अर्जुन ने मत्स्यभेदन कर दिया।

धर्मराज की भोगलिप्सा

वैसे देखा जाए तो आर्य धर्म के अनुसार और स्वयंवर के निर्णय के अनुसार द्रौपदी केवल अर्जुन की ही पत्नी होनी चाहिए थी। किंतु हमारे कथित धर्मराज इतने कामांध हो गए थे कि वह द्रौपदी को किसी प्रकार भी छोड़ने को राजी नहीं हुए और आखिरकार अपने बुद्धिचातुर्य से द्रौपदी से पहली सुहागरात उन्होंने ही मनाई।

धर्मराज की भोगलिप्सा के कारण द्रौपदी को अर्जुन के अलावा विशालकाय भीम, नकुल एवं सहदेव की भोग्या भी बनना पड़ा। इस प्रकार धर्मराज कहलाने वाले, भारतवर्ष के एक भावी सम्राट ने एक असहाय आर्य नारी को अत्याचार सहने को मजबूर किया और आर्य जाति को सदासदा के लिए कलंकित कर दिया। काश, श्रीकृष्ण इस समय द्रौपदी की लाज बचाने के लिए तंगे पैर दौड़ते! यह सत्य है कि बहुभोग्या नारी मुंहचड़ी हो जाती है। इसी का लाभ उठा कर उस ने युवराज दुर्योधन को अपमानित करने की हिम्मत की।

युधिष्ठिर आदि पांचों भाई उस का कुछ भी विरोध नहीं कर सके। जहां द्रौपदी ने उन की इस कमजोरी से उच्छृंखलता का प्रदर्शन किया वहां दुर्योधन ने भी उन की दूसरी कमजोरी से फायदा उठा कर स्वयं द्रौपदी से तथा उस के गुलाम पतियों से पूरापूरा बदला लिया। दुर्योधन का मामा शकुनि जुए में प्रवीण था। युधिष्ठिर जुए के शौकीन तो थे ही। आपस में जुआ खेला गया। युधिष्ठिर पहले अपनी संपत्ति हारे, राज्य भी हार गए।

द्रौपदी जुए में हारी

CC-0. Agamangam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उन्होंने सब भाइयों को दांव पर लगाया, उन्हें भी हारे। फिर लगाया द्रौपदी का दांव और पासा पलट गया। द्रौपदी ने काफी शोर मचाया। कुंती और माद्री से बहुपतियों द्वारा पैदा किए हुए पांचों कथित पांडुपुत्र द्रौपदी को, जब मोग सकते थे तो दुःशासन द्वारा, जो कि पांडुपुत्रों का भाई ही था, छूते ही द्रौपदी का यह चीखनाचिल्लाना कुछ युक्तिसंगत नहीं लगता। श्रीकृष्ण को जुए का समाचार मिल चुका था और वह मौके पर पहुंच भी गए जैसे वह इस मौके के लिए प्रस्तुत ही हों।

इस प्रकार श्रीकृष्ण को चिरकांक्षित अभिलाषा फलीभूत हुई। नाटक का प्रथम परिच्छेद पूरा हुआ। उपसंहार बाकी रहा। उस की योजना भी तैयार थी। इन दो कांडों से दोनों ओर की भावनाएं काफी उभर गईं और आपसी मेलमिलाप की सारी भावनाएं सदासदा के लिए नष्ट हो गईं। पांडुपुत्रों को एक बार फिर अपने महल छोड़ने पड़े। श्रीकृष्ण ने अपने को निष्पक्ष साबित करने के लिए—और यह दिखाने के लिए कि मेलमिलाप से फंसला हो जाए तो अच्छा है—एक और रंग खेला। वह पांडवों के दूत बन कर कौरवों की राज्य सभा में आए और सुलह का प्रस्ताव रखा।

स्वयं अपनी ही इच्छा से जुए में हारे हुए व्यक्ति का, वह भी धर्मराज कहलाने वाले न्यायप्रिय युधिष्ठिर का, फिर से राज्य का हक मांगना सिर्फ नाजायज ही नहीं था, बेशरमी का भी इजहार था। दुर्योधन ही क्या, संसार का कोई भी व्यक्ति इस को स्वीकार नहीं कर सकता। दुर्योधन ने यही कौन सी कम रियायत दे दी कि पांडव भाइयों और द्रौपदी को, जो कि जुए के निर्णय के अनुसार उस के अधिकार में थे, रिहा कर के आजाद कर दिया। क्या वह उन्हें कारागार में नहीं डाल सकता था?

फिर वह C-PTA की मदद से दुश्मन के दुर्ग को तोड़ने में सफल हो गया। इससे दुश्मन को बहुत नुकसान हुआ।
धर्मकी दी। इस पर दुर्योधन नाराज हो उठा और इस के लिए श्रीकृष्ण को राज्य सभा से भागना पड़ा। दोनों और युद्ध की तैयारी होने लगी। युद्ध के नियम बनाए गए। इस युद्ध को पांडवों की ओर से धर्म-युद्ध की संज्ञा दी गई। निश्चित समय पर दोनों ओर सेनाएं कुरुक्षेत्र के मैदान में इकट्ठी हुईं। कौरवों की सेना का संचालन भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा कर्ण जैसे महारथियों के हाथ में था जब कि पांडवों की सेना का प्रमुख संचालक केवल अर्जुन ही था। यद्यपि श्रीकृष्ण के बढावे में आ कर युद्ध में अर्जुन अग्रसर हो गया लेकिन कौरव सेना की ताकत देख कर, विशेषतया भीष्म, द्रोणाचार्य एवं कर्ण के शौर्य से, वह पूरी तरह भयाक्रांत हो गया। वह अपनी शक्ति भी पहचानता था। कौरव सेना की व्यूह रचना देख कर अर्जुन के मस्तिष्क में नाना प्रकार के विचार आने लगे। उसे धृतराष्ट्र भीष्म, द्रोण और स्वयं दुर्योधन आदि भाइयों का बचपन का स्नेह याद आने लगा। अर्जुन की विचार शृंखला मानव धर्म की ओर अग्रसर होने लगी।

सचमुच द्रौपदी बहुत मुंहचड़ी है। वे लोग भी तो कुछ नहीं बोले। उन्हें क्षमा जरूर मांगनी चाहिए थी। फिर उस के बाद युधिष्ठिर ने जुआ क्यों खेला और विवेक क्यों खो बैठे?

अर्जुन का युद्ध करने से इंकार

राज्य हार गए, तो द्रौपदी को क्यों दांव पर लगा दिया? उस के बाद भी दुर्योधन ने उन को और द्रौपदी को छोड़ दिया, क्या वह उन्हें कारागार में नहीं डाल सकता था? फिर युद्ध में वीर लोग मार दिए जाएंगे तो देश की सुरक्षा का क्या होगा? इसी प्रकार के विचारों से ग्रस्त हो कर अर्जुन ने धनुषबाण रख दिए और श्रीकृष्ण से कहा कि वह युद्ध नहीं करेगा। रथ को वापस ले चलने का आदेश भी दे दिया।

श्रीकृष्ण के लिए, जो इस अवसर के लिए विशेष सावधान थे, यह एक वरदान साबित हुआ। यही वह घटना है जिस के पहले श्रीकृष्ण अपने को राजपुत्र अर्जुन का मित्र कहलाने में गौरवान्वित होते थे और इस के बाद की स्थिति के पश्चात श्रीकृष्ण का स्थान एकदम ऊपर आ गया। यहां पर एक प्रश्न विचारणीय है कि श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी क्यों बने जब कि वह स्वयं भी एक सेनानी की तरह युद्ध जीतने में पांडवों को सहयोग दे सकते थे? श्रीकृष्ण स्वयं वीर तथा युद्धकला में पारंगत नहीं थे, नहीं तो राजा जरासंध के साथ किए गए युद्धों में श्रीकृष्ण कभी भी पलायनवादी नीति नहीं अपनाते। ११ की दिनों साथ रहने के कारण श्रीकृष्ण मोहित की समस्त आदतों से परिचित हो चुके थे। अर्जुन वीर था, सच्चा था, विज्ञविचारक भी था।

बेगुनाह लोग, जिन को इस युद्ध से कोई मतलब नहीं है, बेकार मारे जाएंगे और वह भी किस के लिए? उस के ओर उस के भाइयों के लिए। वह गलती भी उन की ही थी। द्रौपदी ने युवराज दुर्योधन को, जो कि उन का सब का बड़ा भाई था और द्रौपदी का ज्येष्ठ था, ऐसा कटु वचन क्यों कहा और वह भी केवल दुर्योधन का ही अपमान नहीं था, स्वयं उन के पिता

युद्ध का फैसला अधिकतर धनुर्विद्या पर ही अवलंबित है तथा पांडवों की ओर से केवल अर्जुन ही उस का जानकार है। यदि श्रीकृष्ण एक सेनानी की तरह उन की ओर आते तो उन्हें अर्जुन से अलग रहना पड़ता जब कि वह एक सारथी के रूप में अर्जुन के साथ बराबर रह सकते थे और तभी वह युद्ध के दौरान अपनी कूटनीतिक चालों का प्रयोग कर सकते थे।

श्रीकृष्ण को यह आशंका पहले से ही थी कि अर्जुन जब युद्ध के मैदान में आयागा और धनुर्विद्या के धुरंधरों भीष्म, कर्ण आदि के सामने अपने को तौलेंगा तो जरूर डरेगा। साथ ही साथ द्रौपदी द्वारा अपमान और युधिष्ठिर का जुआ खेलना आदि बातें सोच कर अपनी गलती महसूस करेगा। कौरवों के प्रेम और स्नेह की यादें भी उसे अस्थिर बनाने में सहयोग देंगी।

सचमुच यह ऐसी विषम परिस्थिति थी जिसे संभालना आसान नहीं था। पहले तो श्रीकृष्ण एकबारगी चिंतित हो उठे और सारा तानाबाना टूटता दिखाई देने लगा, पर निस्संदेह यह श्रीकृष्ण की हिम्मत थी जिस ने अर्जुन के हाथों में फिर से धनुष-बाण पकड़ा दिया और आखिरकार उसे युद्ध की विभीषिका में उतरना ही पड़ा। जब मनुष्य बहुत परेशान होता है और उस के दिमाग को नाना प्रकार की शंकाएं और कुशंकाएं झकझोरने लगती हैं तो उस समय साधारण से साधारण आदमी भी उस व्यक्ति को प्रभावित कर देता है। अर्जुन की मनःस्थिति उस अवसर पर ऐसी ही शोचनीय हो गई थी। उस की सारी इच्छाएं और आकांक्षाएं लुप्त हो गई थीं और वह जड़ बन गया था। श्रीकृष्ण ने उस की अर्जुन की भावनाओं को बुरी तरह झोरा और फिर उन को उभारा। उस के लिए उन्होंने मनोवैज्ञानिक ढंग से कायर और बहादुर जैसे शब्दों का साथ-साथ प्रयोग किया। मरने पर स्वर्ग और

जीतने पर राज्य पाने का लोभ कुछ इस प्रकार रखा कि उसे अपनी मौजूदा विचारधारा बड़ी घृणित और गहित महसूस हो।

अर्जुन के दिमाग में श्रीकृष्ण कुछ इस तरह समा गए कि वह यहां तक समझने लगा कि श्रीकृष्ण स्वयं सर्वसत्ताधारी भगवान हैं, द्रौपदी का दुर्योधन का अपमान करना और युधिष्ठिर का जुआ खेलना तक सब ही पूर्व निश्चित था।

भारत के इतिहास का निकृष्ट क्षण

यहां तक कि श्रीकृष्ण ने मनोविज्ञान का पूरा सहारा ले कर अपनी ऊंची और नीची, पर गंभीर आवाज से अनेक ब्रह्मांडों के कल्पित नक्शे बनाए और बिगाड़े। अर्जुन की उस समय की जड़ बुद्धि में यह सब उतरता चला गया। उस ने अपनी आंखों के सामने श्रीकृष्ण की आवाज के साथसाथ भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि योद्धाओं को मरा हुआ भी देखा। अर्जुन को सचमुच विश्वास हो गया कि ये सारे योद्धा और स्वयं वह भी सर्वशक्तिमान कलाधारी भगवान श्रीकृष्ण के नाटक के केवल पात्र भर हैं और यह जो कुछ अभी तक संसार में हुआ है एवं जो भविष्य में होने वाला है सब पूर्व निश्चित और भगवान श्रीकृष्ण की योजना मात्र है।

भारतवर्ष के इतिहास का यह एक निकृष्ट क्षण था जिस ने अर्जुन को ही विवेकहीन नहीं बनाया बल्कि सारी आर्य जाति को ही दूषित कर दिया और जिस के कारण आज भी हम भगवान के नाम पर भगवान के कथित भक्तों द्वारा किया गया अत्याचार, अनाचार और व्यभिचार देख रहे हैं और सहने को मजबूर हैं।

श्रीकृष्ण को इस से दो लाभ हुए। एक तो शीघ्र ही अर्जुन युद्ध के लिए मनोबल के साथ खड़ा हो गया और उन की कठपुतली बन कर उन के इशारों पर भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, जयद्रथ

और स्वयं दुर्योधन को धोखा और धोखा देकर उसे मार डाला।

भारतवर्ष के ही नहीं बल्कि सारे संसार के इतिहास में ऐसा अनोखा प्रतिस्पर्धी दृष्टांत नहीं मिलेगा—जहां एक और श्रीकृष्ण प्रेमावतार माने जाते हैं वहां दूसरी और वह अर्जुन को युद्ध की विभीषिका में धकेल देते हैं तथा भारत की बृद्धता को सदा के लिए नष्ट कर देते हैं।

विवेकहीन को धर्मराज की उपाधि

उसी प्रकार जो सज्जन थे और जिन्होंने आखिर तक संवेदना सहानुभूति तथा अपना कर्तव्य समझ कर अपने चचेरे भाइयों को पूरापूरा सहयोग दिया, उन को दुराचारी ठहराया, जिन्होंने एक आर्य नारी को बलात्कार सहने को मजबूर किया और जो विवेकहीन हो कर जुआ खेले व अपनी पत्नी तक को हार गए, उन को धर्मराज की उपाधि मिली और सोलह कलाधारी

दूसरा लाभ श्रीकृष्ण की वही चिर-महत्वाकांक्षा का था जिस का सपना वह कंस के मरने के बाद ही देखने लगे थे। जब अर्जुन ने, महाभारत के नायक और भारतवर्ष के सम्राट ने, उन को सर्वशक्तिमान भगवान और विधाता तक स्वीकार कर लिया फिर सर्वसाधारण की तो बात ही क्या थी? श्रीकृष्ण के द्वारा ही अर्जुन को राज्य मिला, सत्ता मिली और ऐश्वर्य मिला। स्वाभाविक ही था कि वह उन की पूजा सदा करते रहें। सम्राट द्वारा प्रचार कार्य भी करवाया गया। वेदव्यास और नारद का तो सहयोग पहले से ही प्राप्त था। फिर क्या था, भारतवर्ष की अबोध ग्रामीण जनता के दिमाग में श्रीकृष्ण की लीलाएं भर गईं। यहां पर सदा सत्य का गला घोंट कर 'सत्यं जयति नानृतं' का नारा लगाया गया है। क्या सत्य को कभी प्रतिष्ठा मिल सकेगी?

● ●

गीता : कर्मवाद की व्याख्या या कृष्ण का आत्मप्रचार

गंगासहाय 'प्रमो'

आज कृष्ण द्वारा गीता का उपदेश देने पर अपनी विभूतियों में कुछ तत्व बढ़ाने पड़ेंगे, 'हे अर्जुन मैं आयुधों में परमाणु बम हूँ.'

गीता का देशविदेश के शिक्षित समुदाय में पर्याप्त प्रचार है. गीता के विषय में चर्चा करना और स्वयं को गीता का पाठक प्रदर्शित करने का फैसला सा चल पड़ा है. गीता का एकमात्र गुण यही है कि उस में दार्शनिक बातें अत्यंत सरल भाषा में लिखी गई हैं.

गीता के पाठकों की संख्या कम नहीं है. पर मुझे विश्वास है कि गीता पढ़ने वालों को एक बात अवश्य खटकती होगी. अब तक यदि नहीं भी खटकी होगी तो मेरे हिसाब से गीता पढ़ने पर अवश्य खटकने लगेगी.

गीता में खटकने वाला यह तत्व है— कृष्ण का आत्मप्रचार. गीता में कृष्ण ने अर्जुन को अध्यात्मविद्या या दार्शनिक तत्व जितना समझाया उतना समझाया ही है पर अधिकांश समय आत्मप्रचार में लगाया है. गीता के अधिकांश श्लोकों में 'अस्मद्' शब्द का किसी न किसी विभक्ति में प्रयोग किया गया है. 'अस्मद्' शब्द उत्तम पुरुष के लिए प्रयोग किया जाता है, हिंदी में इस का स्थानापन्न शब्द 'मैं' है.

गीता में कुल 700 श्लोक हैं, जिन में कृष्ण के कहे हुए 620 श्लोक हैं.

'षट्' शतानि सर्वाणि श्लोकानां प्राह केशवः (महाभारत)

(कृष्ण ने 620 श्लोक कहे)

इन 620 श्लोकों में कृष्ण ने 77

बार अहम् (मैं), 76 बार माम् (मुझ को) 43 बार मैं (मेरा या मेरे लिए), 19 बार मम (मेरा), 12 बार मया (मैं ने), 18 बार मयि (मुझ में) शब्द का प्रयोग किया है. 47 ऐसे समास वाले पद हैं, जिन में 'मैं' का वाचक शब्द पाया जाता है. वयम् (हम सब), आवयोः (हम दोनों का, हम दोनों में) स्वाम् (अपनी को), मामिकाम् (मेरी को), मामकाः (मेरे लोग) तथा आत्मन् (अपना) शब्दों का प्रयोग एकएक बार हुआ है. दो बार 'वासुदेव' शब्द का प्रयोग किया है जिस का अर्थ स्वयं कृष्ण से है. इन के अतिरिक्त 51 क्रियाएं ऐसी हैं जिन के साथ 'मैं' या इसी प्रकार का शब्द प्रयोग किया जा सकता था पर किया नहीं गया है. जैसे:—

उत्सीदेयुरिमेलोका न कुर्याम् कर्मचेदहम्,
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः.

(3-24)

(यदि मैं कर्म न करूं तो ये लोक भ्रष्ट हो जाएं. मैं वर्णसंकर का करने वाला होऊं तथा इस सारी प्रजा का नाश करूं) यहां 'कुर्याम्' क्रिया के साथ जिस प्रकार 'अहम्' कर्ता का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार 'स्याम्' तथा 'उपहन्याम' क्रियाओं के साथ नहीं है. अर्थ करते समय इन के साथ अपनी ओर से 'अहम्' (मैं) जोड़ना पड़ता है. 24 वाक्य जिन में न अहम् आदि कर्ता शब्दों का प्रयोग है और न

उत्तम पुरुष को किया हो प्रयुक्त हुई है।
ये स्थल इस प्रकार हैं, जैसे कोई कहें,
“मैं किताब पढ़ता हूँ और पत्र भी।” यहाँ
‘पत्र भी’ का तात्पर्य हुआ—‘मैं पत्र भी
पढ़ता हूँ।’ उदाहरण नीचे देखिए :

महर्षिणा भृगुरहम् गिरामस्येकमक्षरम्,
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्वावराणां हिमालयः

(25)

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षिणां च नारदः,
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कलियो मुनिः.

(26) अध्याय 10

(हे अर्जुन! मैं महर्षियों में भृगु और
वचनों में एकाक्षर ओम् हूँ। यज्ञों में जप-
यज्ञ हूँ और स्थिर रहने वालों में मैं
हिमालय पर्वत हूँ।)

(सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष और देव
ऋषियों में नारद मुनि हूँ। गंधर्वों में चित्र-
रथ तथा सिद्धियों में कपिल मुनि हूँ।)

375 बार मैं का प्रयोग

ऊपर छब्बीसवें श्लोक में चारों
वाक्य ऐसे हैं जिन्हें ‘अहम्’ तथा ‘अस्मि’
रूप में कर्ता तथा क्रिया की आवश्यकता
पड़ती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि
कृष्ण ने 620 श्लोकों में 375 बार
किसी न किसी रूप में ‘मैं’ शब्द या इस
के वाचक अन्य शब्द का प्रयोग किया है।

कृष्ण, अर्जुन को गीता सुना रहे थे।
इसलिए मध्यम पुरुष अर्थात् ‘युस्मद्’ शब्द
का प्रयोग भी स्वाभाविक था। होना तो
यह चाहिए था कि उत्तम पुरुष की अपेक्षा
मध्यम पुरुष का प्रयोग अधिक किया जाता।
पर हुआ यह लगभग आधा है। गीता में
कृष्ण द्वारा कहे हुए 620 श्लोकों में 14
बार त्वम् (तुम), तीन बार त्वाम् (तुम
को), एक बार त्वया (तुम ने), चार
बार ते (तुम्हारे लिए), पांच बार तव
(तुम्हारा) शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक
जगह अर्जुन का नाम ‘धनंजय’ लिया
गया है। 138 संबोधन तथा दो समास
वाले स्थल हैं। 111 क्रियाएं ऐसी हैं जिन

का कर्ता ‘त्वम्’ हो सकता है और छः
स्थल ऐसे हैं जिन में मध्यम पुरुष की
क्रिया तथा कर्ता प्रयुक्त हो सकते हैं। इस
प्रकार मध्यम पुरुष वाले स्थल कुल 202
होते हैं। लुप्त क्रियाओं में 11 बार विद्धि
(जानो) दस बार शृणु (सुनो) पांच बार
पश्य (देखो) दो बार निबोध (समझो)
आठ बार अस्मि (हो) जैसी क्रियाएं हैं जो
या तो कोई अर्थ नहीं रखतीं या जिन का
प्रयोग अपनी बात समझाने के लिए किया
गया है।

मध्यम पुरुष के प्रयोग में संबोधनों
और लुप्तकर्ता वाली क्रियाओं की भरमार
है। तात्पर्य यह है कि या तो कृष्ण ने
अर्जुन को संबोधित किया है या अपनी
बात समझने को कहा है। दोनों का अर्थ
एक ही है। किसी को संबोधित भी तभी
करते हैं, जब उस का ध्यान कहने वाले
की बात की ओर नहीं जान पड़ता।

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है
कि पूरी गीता में कृष्ण मैं, मुझ को, मैं ने,
मेरे लिए, मेरा आदि शब्दों द्वारा अपनी
ही बात कहते रहे हैं। अर्जुन के लिए
उन्होंने कुछ कहा भी है तो उस का ध्यान
अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए या
उस पर अपनी बात समझने का जोर
डालने के लिए।

हम गीता के कुछ स्थलों का दर्शन
कराते हैं जिन में कृष्ण द्वारा प्रयुक्त ‘मैं’
की भरमार से आप प्रभावित (बोर) हुए
बिना नहीं रहेंगे। तब आप लोग सरलता
से अनुमान लगा सकेंगे कि गीता का निय-
मित पाठ करने वाले कितने बोर होते
होंगे या उस का अर्थ जानेंसमते बिना
पढ़ते जाते होंगे।

सातवें अध्याय में 30 श्लोक हैं। इन
में से दो श्लोकों (20, 26) को छोड़
कर शेष सब के साथ ‘मैं’ मौजूद है। कुछ
पंक्तियां देखिए:

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा
मत्तः परतरान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय,

—6

रसोऽहमस्मि कौतेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः,
प्रणवः सर्वविशेष शब्दः ख पौरुषं नृषु — 8
पुण्यः गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ,
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु
— 9

सारे संसार का प्रलय स्थान

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्,
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्
— 10

बलं बलवतां चाहं कामराग विवर्जितम्,
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ
— 11

(मैं सारे संसार का उत्पत्ति और प्रलय स्थान अर्थात् मूल कारण हूं। — 6 मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु कुछ भी नहीं है। यह सारा संसार मुझ में इस प्रकार गुंथा हुआ है जैसे धागे में मणियां पिरोई रहती हैं— 7. हे अर्जुन! मैं जल में रस हूं तथा सूर्यचंद्रमा में प्रकाश हूं। मैं सारे वेदों में ओंकार हूं। मैं आकाश में शब्द हूं। मैं मनुष्यों में पुरुषार्थ हूं— 8. मैं धरती में पवित्र गंध हूं और मैं अग्नि में तेज हूं। मैं सारे प्राणियों में जीवन तथा तपस्वियों में तप हूं। — 9 हे पार्थ! मुझे सारे प्राणियों का सनातन कारण समझ। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और मैं तेज वालों का तेज हूं— 10. मैं बलवानों का काम तथा राग रहित बल हूं। मैं प्राणियों में धर्मानुकूल कामवासना हूं— 11.

क्या कृष्णजी से यह पूछा जा सकता है कि जब आप के सिवा सारे संसार में कुछ है ही नहीं तो ये बढ़िया वस्तुएं छांटने से क्या लाभ? यदि अच्छी-अच्छी वस्तुएं आप हैं तो शेष जो बुरी बच रही हैं, वे क्या हैं? क्या इस बात में भी कोई दर्शन या अध्यात्म तत्व है कि कोई आदमी पहले तो अपने को सारे शहर का मालिक बताए और बाद में प्रत्येक महल्ले की

थोड़ा बिल्डिंग अपनी बता कर गिनाते हैं!

नवें अध्याय में 34 श्लोक हैं और सब के सब कृष्ण की 'मैं' से भरे पड़े हैं। कुछ श्लोकों का पाठ कर लीजिए:
अहं ऋतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्,
मंत्रोऽमहमे वाज्य महमग्निरहं हुतम्— 16
पिताहमस्य जगतो धातामाता पितामहः,
वेद्यं पवित्रमोंकारः रिक्साय यजुरेव च.
— 17

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्,
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्.
— 18

तपास्यहमहं वर्षं निगूहणामि उत्सृजामि च,
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन— 19
अहं हि सर्वज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च,
न तु मामाभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवंति ते
— 24

समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः,
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्
— 29

मन्मता भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुर्व,
मामे वैष्णवि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः
— 34

(मैं ऋतु हूं, मैं यज्ञ हूं, मैं स्वधा हूं, मैं ओषधि हूं, मैं मंत्र हूं, मैं ही आज्य हूं। मैं अग्नि हूं, मैं ही हुत हूं। — 16 मैं इस संसार का पिता हूं, मैं माता हूं, मैं धारण करने वाला हूं, मैं पितामह हूं, मैं जानने योग्य पवित्र ओंकार हूं, मैं ऋग्वेद हूं, मैं सामवेद हूं, मैं यजुर्वेद हूं— 17. मैं सब की गति हूं, मैं सब का भरण करने वाला हूं, मैं सब का स्वामी हूं, मैं शुभाशुभ का देखने वाला हूं, मैं सब का निवास हूं, मैं सब को शरण देने वाला हूं, मैं सब का मित्र हूं, मैं सब की उत्पत्ति हूं, मैं प्रलय हूं, मैं स्थान हूं, मैं विधान हूं, मैं सब का अविनाशी कारण हूं— 18. मैं सूर्य रूप में तपता हूं, मैं वर्षा को खींचता हूं, मैं ही उसे छोड़ता हूं, मैं अमृत हूं, मैं मृत्यु हूं। हे अर्जुन! मैं सत हूं, मैं असत हूं— 19. मैं सब यज्ञों का भोक्ता हूं, मैं ही स्वामी हूं,

के पुत्रों में—20. अशुभान्, दुष्टान्, विविधान्, के वीर्य विजयान्, मे, अश्विनान्, मे, सात्त्विक पुरुषों में सत्व हं—36. मैं कृष्णवंशियों में कृष्ण हं, मैं पांडवों में अर्जुन हं, मैं मुनियों में व्यास हं, मैं कवियों में शुक्राचार्य हं—37. मैं बंड पाने वालों में बंड हं, मैं जीतने की इच्छा वालों में नीति हं, मैं गुप्त रखने योग्य भावों में मौन हं, मैं ज्ञान वालों में ज्ञान हं—38.)

नारी बनने में क्या बिगड़ता

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उस से क्या ज्ञानबुद्धि होती है, इसे गीता भक्त लोग ही जानें। 'मैं नारियों में कीर्ति, श्री, वाक, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हं,' इस बात का क्या तात्पर्य है? क्या इन नामों की प्रसिद्ध नारियां हो गई हैं? क्या ये गुण नारियों में ही होते हैं? कृष्ण के समय तक हजारों प्रसिद्ध नारियां हो गई थीं। क्या उन्हें एक का नाम लेते भी लज्जा आती थी? वे पशु, पक्षी, सर्प, वृक्षादि बन सकते थे तो नारी बनने में क्या बिगड़ जाता था?

मालूम होता है, अर्जुन को साधारण बातों का भी ज्ञान नहीं था। एक सीधी बात कह देते कि सभी प्रकार की प्रसिद्ध वस्तुओं में जो प्रमुख है, वह मैं हं। इतने उदाहरणों से क्या तात्पर्य निकला? सब वस्तुएं तो कृष्ण गिना नहीं सके। अंत में कहना ही पड़ा।

यद्यद् विस्मृतिस्तत्त्वं श्रीमर्दजितमेववा, तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशं संभवम्। (10/41)

(हे अर्जुन! जो भी वस्तु ऐश्वर्य, सुंदरता और शक्ति वाली है, वह मैं हं।)

कृष्ण ने जब कहा कि मैं यदुवंशियों में कृष्ण तथा पांडवों में अर्जुन हं। तो मूर्खता की हद ही हो गई। क्या अर्जुन इतना भी नहीं जानता था कि यदुवंशियों में कृष्ण श्रेष्ठ हैं। कृष्ण यदुवंशियों में ही क्या, सारे विश्व में श्रेष्ठ थे। अर्जुन उन के यदुकुल श्रेष्ठ होने में शंका न कर इसलिए

तुरंत हो उसे भी पांडित्य प्रदान किया। संशयः — 8

आप की प्रशंसा जो व्यक्ति बिना बोर हुए घंटों से सुन रहा है, उस की भी प्रशंसा कुछ तो करनी ही पड़ेगी. यदि कृष्ण अर्जुन के स्थान पर राधा को गीता सुनाते तो निश्चय ही कहते, “मैं गोपियों में राधा हूँ.”

‘मैं मुनियों में व्यास हूँ,’ इस उक्ति से जान पड़ता है कि महाभारत में लेखक व्यास ने अपनी प्रशंसा के लिए गीता में उसे जोड़ा है. कृष्ण से उस का संबंध नहीं है.

यदि आजकल कृष्ण किसी को गीता का उपदेश दें तो उन्हें अपनी विभूतियों में निम्नलिखित तत्व और बढ़ाने पड़ेंगे, “हे अर्जुन! मैं आयुधों में परमाणु बम हूँ, रेलगाड़ियों में डीलक्स हूँ, नेताओं में जवाहरलाल नेहरू हूँ, सिने गायिकाओं में लतामंगेशकर हूँ, होटलों में ‘अशोका होटल’ हूँ, चीनियों में माओत्से तुंग हूँ, प्रधानमंत्रियों में चर्चिल हूँ, फिल्मों में ‘संगम’ हूँ, मदिराओं में ह्विस्की हूँ, पर्वतारोहियों में तेर्नासह हूँ, ठगों में नटवरलाल हूँ.”

दूसरी पार्टियों की निंदा

कृष्ण ने गीता में ‘मैं’ की भरमार के साथसाथ दूसरे प्रकार से भी अपना प्रचार किया है. उन्होंने लोगों को अपना भक्त बनाने के लिए दूसरी पार्टियों की निंदा करने के साथसाथ अपने भक्तों को अनेक सुविधाएं तथा लालच दिए हैं :

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तांसक्तचेतसाम्
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिर वाप्यते — 5.

ये तु सर्वाणिकर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः,
अनन्येनैव योगेन मां, ध्यायंत उपासते — 6

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसार सागरात्,
भवामि न चिरात् पार्थ मच्चाकेशित चेत
साम् — 7

मच्चेवमनः आधत्स्व मयि बुद्धि निवेय,

अयचित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्,
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छातुं धनंजय — 9

अभ्यासे ऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव,
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिं मवाप्स्यसि — 10

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मम योगमाश्रितः,
सर्वकर्मफल त्यागं ततः कुरुपतालम्बवान् — 11 (अध्याय 12)

(निराकार ईश्वर में मन लगाने वालों को बहुत क्लेश होता है. देहधारी निराकार गति को दुख से पा सकते हैं—5. जो लोग मेरे आश्रित हो कर संपूर्ण कर्मों को मुझ में अर्पित कर के अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, मुझ में चित्त लगाने वाले उन भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार से उद्धार करता हूँ (6 व 7). इसलिए मुझ में ही मन लगा, मुझ में ही बुद्धि लगा. इस के पश्चात् मुझ में ही निवास करेगा, इस में संशय नहीं है—8. यदि मन को अचल कर के मुझ में न लगा सकता हो तो, हे अर्जुन! अभ्यास रूपी योग से मुझे पाने की इच्छा कर—9. यदि अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्म कर. मेरे लिए कर्म कर के भी सिद्धि पा लेगा—10. यदि इसे करने में भी तू अशक्त है तो मेरे योग का आश्रय ले तथा मन को जीत कर सारे कर्म के फलों का त्याग कर—11.

अन्य देवताओं की भक्ति का फल नाशवान

कृष्ण ने इसी प्रकार का प्रचार करते हुए अन्य देवताओं की भक्ति का फल थोड़े दिन बाद नष्ट होने वाला तथा अपनी भक्ति का फल स्थायी बताया है :

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सद्गुणैः
— 19.

कामैस्तैस्तैर्हृत्तज्जानाः अपद्यन्तेऽन्य देवताः,

—20.

योयो यांयां तनुं भक्तः श्रद्धयाचिपुमिच्छति,
तस्य तस्याचलां श्रद्धधातामेव विद्या म्यहम्
—21.

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधीनमीहते,
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्
हितान्—22.

अंतवत्तु फलं तेषां तदभवत्यल्पमेधसाम्,
देवान् देवयजो याति मदभक्ता याति
मामपि—23. (अध्याय 7)

(हे अर्जुन! ऐसा महात्मा मिलना कठिन है जो मुझ कृष्ण को ही सब कुछ समझता हो—19. विभिन्न कामनाओं से नष्ट, ज्ञान वाले लोग अन्य देवताओं का भजन करते हैं. वे अपने स्वभाव से प्रेरित हो मित्रमित्र नियमों का पालन करते हैं—20. जो व्यक्ति मेरे जिस शरीर का भक्त बन कर श्रद्धा से पूजा करना चाहता है, उस की वही श्रद्धा में स्थिर कर देता हूँ—21. वह व्यक्ति उस श्रद्धा से युक्त हो कर उस देवता की पूजा करता है पर मेरे द्वारा बनाए गए कामों को उन देवताओं से प्राप्त करता है—22. उन अल्पबुद्धि वालों का फल अंत वाला होता है. देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं के पास जाते हैं और भक्त मेरे पास आते हैं—23).

कृष्ण को उक्त बात इस प्रकार की है, जैसे कोई थोक व्यापारी ग्राहक से कहे, “माल आप चाहे यहां से लें, चाहे खुदरा दुकानदार से, भाव और चोज एक ही है. सभी प्रकार मेरा माल बिकेगा और मेरे ही पास पैसे आएंगे. अंतर केवल इतना है कि अगर आप मेरे यहां से सौदा लेंगे तो बढ़िया वाला बड़ा कलेंडर मिलेगा. खुदरा दुकानदार आप को अपना कलेंडर देगा जो एकदम घटिया है और जल्दी फट जाएगा.”

कृष्ण ने अपनी पाटी में प्रवेश के लिए कोई शर्त नहीं रखी है. उन का भक्त बन कर पापी भी साधु हो जाता है :

यदि तेऽसुर आदौ ब्रह्मते मामनन्यभाक्,
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्ज्यवसितो हि सः
—30.

क्षिणुं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांति निगच्छति,
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति
—31.

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य पेऽपि स्युः पापयोनयः,
स्त्रियो वंश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां
गतिम्—32.

किं पुन ब्राह्मिणाः पुण्या भक्ता राजवंशस्तथा,
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्
—33.

(यदि कोई व्यक्ति अत्यंत दुराचारी है किंतु अनन्य भाव से मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिए. क्योंकि वह ठीक काम कर रहा है—30. वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली शांति प्राप्त कर लेता है. हे अर्जुन! तू यह जान ले कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है—31. हे अर्जुन! मेरी शरण ले कर पाप योनि, स्त्रियां, वंश्य तथा शूद्र भी परम गति को प्राप्त कर लेते हैं—32. फिर पुण्य करने वाले ब्राह्मणों और भक्त क्षत्रियों की क्या बात है! इस अनित्य और दुःखकारक संसार को पा कर मेरा भजन कर—33.

न जाने कैसा विचित्र समय था और कैसे अज्ञानी लोग थे. ईश्वर को भी जानने वाला कोई नहीं था. उसे अपना परिचय स्वयं कराना पड़ा. अपनी एक-एक बात विस्तारपूर्वक बतानी पड़ी. नीति तो यह बताती है कि अपने गुणों का स्वयं बखान करने से इंद्र भी छोटा बन जाता है : ‘इंद्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितेर्गुणैः’ क्या कृष्ण को इतनी सी बात का भी ध्यान नहीं रहा?

कृष्ण ने सारी गीता में ईश्वर के स्थान पर अपना ही उल्लेख किया है. लगता है इस ‘मैं’ की अधिकता से कृष्ण स्वयं ही सहम गए होंगे. इसी लिए गीता के अंतिम अध्याय में ईश्वर, ब्रह्म आदि का उल्लेख कर दिया गया है :

यतः प्रवृत्तिभूतानायेन सर्वमिदं ततम्,
स्वकर्मेणा तमसि स्थितिं विप्रमोक्षेन

—46.

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोधने,
समासेनैव कौतये निष्ठा ज्ञानस्थ या परा

—50.

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्,
विमुच्य निर्ममः शान्तो, ब्रह्मभूपायकल्पते

—53.

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति,
समः सर्वेषु भूतेषु मदभिवक्तं लभते पराम्

—54.

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्वाह्वाय मायया

—61.

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत,
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि

शश्वतम्—62. (अध्याय 18)

(हे अर्जुन! जिस परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिस ने यह सारा संसार व्याप्त कर लिया है, उस परमेश्वर की पूजा, अपने कर्मों से कर के मनुष्य सिद्धि प्राप्त करते हैं—46. हे कुंतो पुत्र! सिद्धि को प्राप्त करने वाला व्यक्ति जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है, वह बात तू संक्षेप में मुझ से जान ले. वही ज्ञान की परानिष्ठा है—50. व्यक्ति अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और संग्रह को छोड़ कर ममता रहित और शान्तचित्त हो कर ब्रह्म बनने योग्य होता है—53. वह व्यक्ति ब्रह्म हो कर प्रसन्न आत्मा वाला हो जाता है. फिर वह न किसी बात का शोक करता है, न इच्छा करता है. वह सब भूतों में समभाव रखता हुआ मेरी पराभक्ति प्राप्त करता है—54. हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है. वह अपनी माया से सब को इस प्रकार घुमा रहा है जैसे यंत्र (चबूत) पर बैठे लोगों को बीच वाला आदमी घुमाता है—61. हे अर्जुन सब प्रकार से उसी परमेश्वर की शरण जा. उस की

सहायता से परम शान्ति और नित्य स्थान प्राप्त होगा—62. Foundation, Chandigarh

एक स्थल की चर्चा और कर के हम यह निबंध समाप्त करेंगे. कृष्ण ज्ञान का लक्षण बता रहे हैं:

अमानित्वं मदभित्त्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्,
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः

—7.

इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च,
जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम्

—8.

असक्तिरनभिध्वंगः पुत्रदारगृहादिषु,
नित्यं च समचित्तत्वं मिष्टानिष्टोपपत्तिषु

—9.

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी,
विविक्त देश सेवित्वमरति जर्न संसदि

—10.

अध्यात्मज्ञानं नित्यप्रत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्,
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं वदतोऽन्यथा

—11. अध्याय 13

(श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भ का अभाव, अहिंसा, क्षमा, सीधापन, गुरु की सेवा, पवित्रता, मन की दृढ़ता, स्वयं को अधिकार में रखना—7. इंद्रियों के अर्थ-अर्थार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द में आसक्ति न होना, अहंकार का अभाव, जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग और दुख में दोषों का बारबार विचार करना—8. पुत्र, पत्नी, घर आदि में आसक्ति और ममता का अभाव, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में नित्य समचित्त रहना—9. मुझ में अनन्यतापूर्वक अव्यभिचारिणी भक्ति, एकांत स्थान में रहना, भौड़भाड़ से अरुचि—10. अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति, तत्त्व ज्ञान का अर्थ देखना, यह सब ज्ञान है. इस से भिन्न अज्ञान है—11.

ऊपर जो गुण भी गिनाए गए हैं, वे सब उच्च हैं. कृष्ण ने अपनी भक्ति वाली बात जबरदस्ती घुसेड़ी है. इसे निकाल देने से इस स्थल की श्रेष्ठता में कोई अंतर नहीं पड़ता.

क्या कौमार्य रक्षा दकियानूसी है?

कंचन

आधुनिकता का मतलब उच्छूलता तो नहीं!

आप ने पढ़ा होगा कि जीवन में व्यक्ति कई तरह की गलतियां कर बैठता है. बहुत सी गलतियों का नतीजा तो तुरंत ही भुगत लिया जाता है अथवा कुछ समय बाद उन का प्रभाव समाप्त हो जाता है. लेकिन कुछ गलतियां ऐसी होती हैं, जिन का प्रभाव फिर जिंदगी भर खत्म नहीं होता और उन की सजा हमेशा भुगतनी पड़ती है. ऐसी गलतियों को बुद्धिमान लोग 'स्थायी गलतियां' कहते हैं. इन में से एक गलती है, युवती का विवाह से पूर्व अपने कौमार्य से वंचित हो जाना.

इस में शक नहीं कि आज के जमाने में 'कौमार्य' (या सतीत्व) शब्द का उच्चारण करने वाले को दकियानूसी समझा जाने लगा है. आज के लड़के और लड़कियां, दोनों इस प्रकार की चर्चा सुन कर केवल मुसकरा देते हैं. किसी समय बहस के मूड में हों तो वे ऐसी चर्चा करने वालों का ध्यान पत्रपत्रिकाओं में छपने वाले उन बेशुमार विज्ञापनों की ओर आकृष्ट करते हैं, जिन में कभी शीला को मदन की नई टाई पर जान छिड़कते और कभी कमलकांत को मृगनयनी के नए मेकअप पर लट्टू होते दिखाया जाता है.

वे कहते हैं, "ये आप ही जैसे बूजुगों द्वारा चलाई जाने वाली फैशन कंपनियां और प्रकाशित की जाने वाली पत्रपत्रिकाएं रातदिन हमें यह पट्टी पढ़ाती हैं कि जिस युवा जीवन में प्रेम नहीं, यौन नहीं, वह

जीवन व्यर्थ है! और जब हम इस जीवन की ओर कुछ प्रवृत्ति दिखाते हैं तो आप हमें कौमार्य का हाँआ दिखाते हैं! भला यह कहां की ईमानदारी है?"

इसलिए मैं शुरू में ही यह मान लेती हूं कि 'कौमार्य' शब्द सचमुच एक पुराना, घिसापिटा और बेमानी शब्द है. लेकिन एक बात मैं आप को, यानी केवल युवतियों को, यह बता दूं कि यह शब्द एक शब्द के रूप में चाहे कितना ही पुराना हो गया है, पर इस के भीतर जो सिद्धांत है, वह उस समय तक पुराना नहीं हो सकता, जब तक कि हमारे समाज में विवाह व परिवार की परिपाटियां बनी हुई हैं.

विवाह से पूर्व यौन संबंधों से पूरी तरह बचना शायद हमारे आज के स्वतंत्र, प्रगतिवादी और फैशनेबल समाज में काफी कठिन काम है. हमारा आधुनिक समाज कुछ ऐसा रूप ले रहा है कि इस में पुराने समाज की तरह किसी प्रकार के बाल-विवाह की तो बात ही क्या, अकसर विवाह की उमर हो जाने के बाद भी काफी अरसे तक विवाह की नौबत नहीं आती.

आज आमतौर से संयुक्त परिवार नहीं रहे हैं. ज्यादातर केवल पतिपत्नी और बच्चों तक सीमित हैं, बहुत हुआ तो कोई विधवा या बड़ाबूढ़ा रिश्तेदार साथ रहता है. शिक्षा का क्रम भी पहले

से कहीं ज्यादा लंबा हो गया है। अक्सर शहरी नौजवान कम से कम बी. ए. पास करना जरूरी समझते हैं, जबकि ग्रामीणों तक भी बहुत कम पहुंचते थे।

विवाह के लिए प्रतीक्षा

ऐसी हालत में शिक्षित लड़कों के विवाह का प्रश्न उस समय तक उठ नहीं सकता जब तक वे अपनी शिक्षा पूरी कर के किसी कामधंधे में न लग जाएं और अपने तौर पर घरगृहस्थी का भार उठाने के लायक न हो जाएं। ऐसी तैयारी में कितने ही नौजवानों की उमर 25 से 30 साल तक पहुंच जाती है, और दुल्हन का मुखमंडल देखने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं होता।

तब इसी हिसाब से लड़कियों की भी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वास्तव में इसी प्रतीक्षा के कारण आज हमारे यहां लड़कियों की कालिज शिक्षा का व्यापक प्रसार हो गया है। जब 14-15 वर्ष की उमर में उन के योग्य लगभग 25 वर्ष या उस से कम उमर का कोई स्वावलंबी घर नहीं मिलता तो उन के मातापिता उन्हें कालिज में भेजने के सिवा और क्या कर सकते हैं? फिर आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियां भी कुछ ऐसा रूप ले रही हैं कि युवकों के साथसाथ युवतियों के लिए भी खुद कमाने या कम से कम कमाने लायक बनने की जरूरत दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इस कारण भी लड़कियों में कालिज की शिक्षा का अधिक प्रसार हुआ है।

इन्हीं सब बातों का परिणाम है कि आज आधुनिक युवा वर्ग को अपने विवाह के लिए पिछले जमाने की अपेक्षा कहीं ज्यादा अरसे तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। और इसी लंबे अरसे में, जब वे शारीरिक रूप से मातापिता बनने योग्य होते हैं पर विवाह नहीं कर सकते, वह टेढ़ी समस्या खड़ी होती है। जिस की चर्चा युवकों से

ज्यादा युवतियों से करना आवश्यक है।

आप समझदार हैं। आप को यह बताने पुरुष के शरीर में जो अंतर रखा है उस का असली उद्देश्य केवल संतान उत्पन्न करना है। प्रकृति केवल यह चाहती है कि मनुष्य जाति का संततिक्रम कभी खत्म होने में न आए। हां, नरनारी संबंधों के साथ प्रेम व रोमांस की जो सुखद भावनाएं और चांदचोर की जो कविता जुड़ी हुई है, उस के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता।

लेकिन जहां तक खुद प्रकृति का संबंध है, वह इस विषय में किसी भावुकता या कविता को महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं होती। वह सीधी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है, जो केवल यह है कि जब कभी दो प्यार करने वाले नर व नारी शरीर एकदूसरे का स्पर्श करें, तभी वे तमाम क्रियाएं चालू हो जाएं जिन का अंतिम निष्कर्ष एक नए व्यक्ति की रचना कर के उसे इस दुनिया में लाना है।

शारीरिक नुकसान

इसलिए यदि प्रेम और रोमांस को केवल प्रेम और रोमांस पर ही खत्म कर दिया जाए तो प्रकृति रूष्ट हो जाती है! और इस नाराजगी में वह तुरंत अपना बदला लेती है उन दो शरीरों को नुकसान पहुंचा कर, जो केवल थोड़ा रोमांस ही करना चाहते थे।

आप समझिए कि प्रेमकिड़ाओं के दौरान, जो आम तौर से आलिंगन व चुंबन आदि के रूप में की जाती हैं, शरीर को तमाम ग्रंथियां उस अंतिम क्रिया के लिए तैयार होने लगती हैं जो इस सारी व्यस्तता में प्रकृति का असली उद्देश्य है, अर्थात् संतान उत्पत्ति। लेकिन जब अचानक ही इस सिलसिले को अधूरा छोड़ दिया जाता है—वाहे भय से या संकोच से अथवा पूरी सुविधा न होने से—तो

इस अधूरेपन का प्रभाव न सिर्फ दोनों के शरीर पर बल्कि उस से भी ज्यादा उन के मन व भावनाओं पर पड़ता है। अस्थायी तनाव और बेचैनी तो अनुभव होती ही है, पर कभीकभी यह स्थिति अधिक छूट पा कर एक अस्थायी विकार का रूप धारण कर जाती है, और दोनों के मन व शरीर सदा के लिए रोगग्रस्त हो जाते हैं।

अब अगली बात यह है कि कभी किसी समय, मान लीजिए कि किसी परिस्थिति विशेष में, इस क्रम को अधूरा छोड़ना असंभव भी हो सकता है, अथवा यों कह लीजिए कि इसे 'अधूरा न छोड़ना' अर्थात् प्रकृति की मांग के अनुसार पूरा कर देना संभव हो सकता है, तथा कौमार्य के सवाल का वास्तविक महत्त्व क्या बनता है?

कुसूर प्रकृति का

मान लीजिए, एक पक्ष के अधिक भावावेश से अथवा दोनों ही पक्षों के समान भावावेश से वह गलती हो जाती है, जिसे हम ने 'जीवन की एक स्थायी गलती' का नाम दिया है। लेकिन इस भावावेश में भी वे दोनों इस हद तक सतर्कता से काम लेते हैं कि अपने इस आकस्मिक मिलन को प्राकृतिक रूप से पूरा मिलन नहीं होने देते—जिस का अर्थ यह है कि वे किसी गर्भनिरोधक बाहरी साधन या व्यावहारिक युक्ति का प्रयोग करते हैं। क्या ऐसी स्थिति में भी कौमार्य की रक्षा का सवाल उठता है?

एक तथाकथित पश्चिमी धारणा है कि जब तक गर्भ का डर न हो तब तक कौमार्य की चिंता नहीं होनी चाहिए! भारत में इस धारणा के पक्षधर यह कहते हैं कि आखिर इसी चिंता से मुक्त होने के कारण ही तो पुरुष के लिए शील का प्रश्न किसी काल में भी नहीं उठाया गया। श्री राम ने सीता उद्धार के बाद उन के

सतीत्व की अग्नि परीक्षा ली थी, लेकिन क्या उन्होंने पुरुषोत्तम होने के बावजूद खुद अपने एक पतिव्रत की अग्नि परीक्षा कराई थी? तो फिर सिर्फ स्त्री के लिए यह सजबूरी क्यों कि वह सुहागरात की घड़ी तक अपने कौमार्य की रक्षा करती रहे?

पुरुष द्वारा अधूरेपन का दावा

कितने पुरुष अपने प्रथम विवाह के अवसर पर यह दावा करने की स्थिति में रहते हैं कि वे एकदम अधूरे हैं?

लेकिन सच्ची बात यह है कि इस विषय में कुसूर दरअसल पुरुष का नहीं, स्वयं प्रकृति का है। यदि पुरुष को एक पति व पिता के रूप में अपने कर्तव्य का सहोसही पालन करना है तो उसे विवाह से पहले कुछ न कुछ व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करना ही होता है, अथवा यों कह लीजिए कि ऐसा अनुभव उसे प्राप्त हो जाता है। प्रकृति ने ही स्त्री और पुरुष को इस ढंग से बनाया है कि उन के बीच हर विषय में पूर्ण समानता स्थापित नहीं की जा सकती—और यौन विषय में तो बिल्कुल नहीं की जा सकती।

उदाहरण के लिए, कोई स्त्री यह शिकायत नहीं कर सकती कि केवल उसी को हर महीने चारपांच दिनों तक कष्ट व असुविधा क्यों भुगतनी पड़े, पुरुष को भी कोई ऐसी दिक्कत क्यों न आए? यदि समता के इस सिद्धांत को उस के तार्किक परिणाम तक ही पहुंचाना है तब तो स्त्रियां किसी दिन यह दावा भी करने लगेंगी कि आधे बच्चे वे अपने पेट से पैदा करें और बाकी आधे उन के पति! इसलिए हमें समता को मजाक नहीं बनाना चाहिए, और शील के प्रश्न को भी केवल स्त्रीहित के दृष्टिकोण से ही जांचना परखना चाहिए।

व्यावहारिक बात यह है कि गर्भ-निरोध के चाहे कितने ही आधुनिकतम व अचूक साधनों का प्रयोग क्यों न किया

जाए, गर्भ से बच्चा को कोई सौ फी सदी गारंटी कभी नहीं मिल सकती. कितने ही प्रेमियों को अपनी पत्नी के गर्भ में अग्निकण्डू के रूप में अग्नि करनी पड़ी है—विशेषकर युवतियों को. क्योंकि युवक तो ऐसी घटना के बाद आमतौर से 'लापता' हो जाते हैं. इसलिए विवाह से पूर्व यौन संबंधों के मामलों में इन निरोधक उपायों पर भरोसा करना एक प्रकार से आग में हाथ डालने के बराबर है. वास्तव में, जिसे अंगरेजी में 'फ्री लव' कहते हैं, वह व्यवहार में अक्सर बहुत महंगा पड़ता है.

अनचाहा गर्भ

विवाह पूर्व गर्भ गलत है, इसलिए नहीं कि प्रकृति ने कोई ऐसा अध्यादेश कर रखा है बल्कि इसलिए कि हमारे समाज के—और इस समय लगभग सारी ही सभ्य दुनिया के समाजों के—दो बुनियादी स्तंभ विवाह और पतिपत्नी परिवार हैं. आज से सौ वर्ष बाद क्या होगा यह सौ वर्ष बाद देखा जाएगा. अभी तो यह स्थिति है, और यह बिल्कुल निर्विवाद है कि बच्चे को सामाजिक स्वीकृति केवल पतिपत्नी परिवार में ही मिल सकती है. इसलिए यदि उसे जन्म देने वाले पिता व माता पतिपत्नी नहीं हैं तो बच्चे को बच्चा नहीं माना जाता, और इस प्रकार उस का जीवन बरबाद होता है. ऐसी हालत में कोई हृद दर्जा गैरजिम्मेदार व्यक्ति ही यह कह सकता है कि यदि विवाहपूर्व गर्भ हो गया तो कौन आसमान टूट पड़ा! आसमान सचमुच टूटता है—बच्चे पर, और उस से ज्यादा उस की माता पर.

अवश्य कोई यह कह सकता है कि अविवाहित स्त्रियों से उत्पन्न बच्चों को भी समाज मान्यता क्यों न दे? पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समाज की ये मान्यताएं बदलने में काफी समय लगेगी, और तब तक आप को समाज के

साथ चलना पड़ेगा. हां, अगर कोई युवती बिना 'कानूनी' बाप के बच्चे को खुलेआम दूसरी है. पर ऐसा साहस आज कितनी भारतीय युवतियां दिखा सकती हैं?

इसलिए कौमार्य रक्षा के पक्ष में पहली और व्यावहारिक दलील वह बनती है कि यौन संबंध का कोई भी अवसर चाहे वह केवल एक बार ही क्यों न हो, अनचाहे गर्भ का कारण बन सकता है. अतः स्त्री के दृष्टिकोण से, विशेषकर, उस से बचना ही एकमात्र सही और पूरी सुरक्षा है.

लेकिन, मान लीजिए, गर्भ नहीं होता, अथवा यदि होता है तो उसे आजकल के लगभग निरापद उपायों से शुरू में ही गिरा दिया जाता है, किसी को कानों-कान खबर नहीं होती, तब क्या? बस, जिन दो व्यक्तियों की यह गलती है, वही इस की जानकारी रखते हैं, समाज तो दूर, घरवालों को भी कुछ पता नहीं चलता, तब क्या? जब गर्भ ही नहीं है, अथवा गर्भ को तुरंत ही नष्ट कर दिया गया, तब भय कैसा? और हर्ज ही क्या है?

शील का महत्व

नहीं, हर्ज है—और इसी में शील का सारा महत्व छिपा है. सब से बड़ा हर्ज है मन में एक तरह का बिगाड़ पैदा होना और दिमाग की गहराइयों में एक स्थायी अपराध भावना का घर कर जाना.

हम आधुनिकता, स्वतंत्रता और स्वच्छंदता की चाहे कितनी ही बातें बनाएं पर हम समाज के उन बुनियादी मूल्यों और विशेषकर विवाह व परिवार संबंधी उन मान्यताओं से एकदम मुक्त नहीं हो सकते, जिन के बीच हम रहते हैं.

इसी लिए तो हम व्यभिचार को छिपाते हैं, और विवाहपूर्व गर्भ से पिंड छुड़ाने की कोशिश करते हैं, अन्यथा इस

लुकछप की जरूरत ही क्या है? यही प्रभाव, जिसे हम एक 'समाजिक मान' दे डे के रूप में अपने 'संस्कार' कहते हैं, विवाह-पूर्व यौन अनुभव रखने वाली स्त्री के मन में एक जहरीली गांठ बन कर बँठ जाता है, और जीवन भर उस की मानसिक शांति को भंग करता रहता है।

आत्मा की अशांति और हानिकर परिणाम

लेकिन सिर्फ आत्मा की अशांति ही एकमात्र खराब प्रभाव नहीं, इस के और भी अधिक हानिकर व गहरे परिणाम होते हैं। यह अनुभव और उस की अमिट याद स्त्री के अवचेतन में बहुत गहरी जड़ पकड़ लेती है, और स्वयं यौन संबंधों के विषय में ही—अर्थात् विवाह के बाद खुद अपने पति के साथ ऐसे संबंधों के विषय में—उस की भावनाएं प्रायः विकृत हो जाती हैं। अक्सर इन संबंधों के बारे में वह कुछ उलझन सी, कुछ अजीब परेशानी और अरुचि अनुभव करती रहती है। कई बार तो उसे पतिपत्नी संबंध से ही घृणा हो जाती है, और इस के नतीजे में वह अपने वैवाहिक जीवन में खुद तो दुख उठाती ही है, साथ ही अपने पति को भी आजीवन दुखी रखती है।

इसलिए कोई युवती यह सोच कर अपनेआप सात्वना नहीं दे सकती कि जब तक मामला गुप्त रहा तब तक शील का महत्व ही क्या है! प्रकृति बड़ी निर्दयी निरीक्षक है, वह अक्सर मामले को ही गुप्त नहीं रहने देती! और यदि किसी प्रकार प्रकृति को चकमा दे भी दिया जाए तो दूसरा जांचकर्ता पीछा नहीं छोड़ता! वह है समाज। समाज की मान्यताएं और उन के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले संस्कार स्त्री को जिंदगी भर चैन नहीं लेने देते।

लेकिन पूरी बात केवल मान्यताओं व संस्कारों की भी नहीं है। विज्ञान, शरीर विज्ञान व यौन विज्ञान भी यह बताते हैं

कि अनियमित यौन संबंध कई प्रकार के शारीरिक रोगों के कारण भी बन सकते हैं, विशेषकर सिफिलिस व गनोरिया जैसे भयंकर यौन रोगों के एक सर्व से पता चला कि हर युवक जोड़ा अपने एक बार के अनियमित यौन संबंध से 20 अन्य स्त्रीपुरुषों के लिए यौन रोगों का खतरा उपस्थित करता है। और महत्व की बात यह है कि इन रोगों का अभी तक कोई पक्का विश्वसनीय और दीर्घकालीन इलाज नहीं है, न ही इन से किसी प्रकार की दवाइयां इस्तेमाल कर के पूरी तरह बचा जा सकता है। अतः इस प्रत्यक्ष खतरे को स्वच्छंद यौन संबंधों के खिलाफ एक कतई और अंतिम दलील समझा जाना चाहिए।

विवाहपूर्व संबंधों का पति पर प्रभाव

फिर एक और व्यावहारिक बात भी है। हो सकता है कि कोई युवती इतने कड़े दिल की हो कि वह विवाहपूर्व यौन संबंधों का कोई संस्कारगत या मनोवैज्ञानिक या शारीरिक प्रभाव ग्रहण न करे, और ऐसे अनुभव के बावजूद सुखसंतोष के साथ ही अपना वैवाहिक जीवन बिताने के लिए तैयार हो। लेकिन मान लीजिए, उस के पति को किसी प्रकार उस के विवाहपूर्व संबंधों का पता चल जाता है, तब पति की दृष्टि में उस की क्या इज्जत रह जाएगी? यह अवश्य कहा जा सकता है कि पति को ऐसी जानकारी के बावजूद महज न्याय की दृष्टि से अपनी पत्नी से विमुख नहीं होना चाहिए। लेकिन यह तो केवल एक सूक्ष्म नैतिक बात हुई, ऐसी महानता का प्रदर्शन कितने पति कर सकते हैं? व्यवहार में तो उस का दिल पत्नी की ओर से फिर ही जाता है। तब इस हालत में वैवाहिक जीवन कितना कष्टमय हो जाता है, इस का अनुमान लगाना कठिन नहीं।

एक आखिरी बात स्थायी खतरे की है कि जिस के साथ ऐसे संबंध रहे हों, उस की ओर से ब्लैकमेल की संभावना बनी

रहती है। इनसान में जहां मित्रता, प्रेम व भलाई का तत्व है वही बुराई का तत्व भी रहता है और कोई नहीं कह सकता कि मनुष्य का दानव रूप किस समय अधिक प्रकट हो जाएगा। अतः कौन युवती चाहेगी कि विवाह के बाद उस के सिर पर ब्लैकमेल की ऐसी तलवार सदा लटकती रहे?!

यौन का दुरुपयोग

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी युगों के नैतिक उपदेशक यौन संबंधों के विषय में जो एक बुनियादी बात कहते रहे हैं वह एकदम सही है। वह बुनियादी बात यह है कि स्त्रीपुरुष संबंधों द्वारा संतान उत्पत्ति का स्वीकृत तरीका चाहे जो हो, पर यौन का दुरुपयोग—अर्थात् समाज से

छिपा कर उस का मनमाने ढंग से उपयोग करना ही हानिकारक है। अब चाहे आप इस दुरुपयोग को किसी धार्मिक या नैतिक विश्वास के अंतर्गत एक पाप समझें, अथवा आज के शरीर-वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर उसे शरीर, मन और भावनाओं के लिए हानिकारक जानें, सचाई एक ही है और वह यह कि यह एक बहुत बड़ी बुराई और बहुत बड़ी मूर्खता है, और इस से हर हालत में बचना चाहिए।

शील की धारणा कोई घिसीपिटी या दकियानूसी धारणा नहीं है, वह हमेशा की तरह आज भी सत्य है। शील का महत्व शाश्वत है, वह स्त्री की सब से मूल्यवान संपत्ति है, अतः स्त्री को हर हालत में इस की रक्षा करनी होगी। ●

कृष्ण और राधा

डा. गंगासहाय 'प्रेमी'

कृष्ण के साथ राधा का ही नाम अधिक प्रचलित है.

यह राधा कौन थी? इस का कृष्ण से क्या संबंध था?

कृष्ण का संबंध अनेक नारियों से रहा था. इन में स्वकीया और परकीया सभी प्रकार की नारियां हैं. कृष्ण की विवाहिता पत्नियों की संख्या सोलह हजार एक सौ आठ बताई जाती है. परकीयाओं में ब्रज की असंख्य गोपियां गिनाई जाती हैं. धार्मिक क्षेत्र में कृष्ण के साथ राधा का नाम ही अधिक प्रचलित है. कृष्ण की मूर्ति के साथ प्रायः सभी मंदिरों में राधा की मूर्ति है. कृष्ण से संबंधित अभिवादनों में 'राधेश्याम' ही सब से अधिक प्रचलित है. रासलीला के नाम पर जो नृत्य प्रचलित हैं, उन में भी कृष्ण के साथ राधा का होना अनिवार्य है.

राधा कौन थी?

यह राधा कौन थी? इस का कृष्ण के साथ क्या संबंध था? ये प्रश्न प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मन में उठ सकते हैं. भागवत में कृष्ण का अनेक गोपियों के साथ नाचना और यौन संबंध स्थापित करना तो लिखा है, पर राधा का नाम कहीं भी नहीं है. 'रास पंचाध्यायी' में एक गोपी विशेष का उल्लेख अवश्य आता है. कृष्ण के साथ रास करती हुई गोपियों ने स्वयं को अत्यंत भाग्यशालिनी तथा कृष्ण के अधीन समझा. कृष्ण सहसा अंतर्धान हो गए तो गोपियां उन के वियोग में दुखी हो कर पेड़पौधों से पूछती डोलतीं. तभी उन्होंने

बालू पर कृष्ण के साथसाथ एक नारी के चरण देखे :

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृंदावन लतातरुन ।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ 24 ॥
पदानि व्यक्तिमेतानि नंदूसूनोर्महात्मनः ।
लक्ष्यन्ते हिध्वजाम्भोजवज्राकुश यवादिभिः ॥ 25 ॥

तैस्तेः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबला ।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्तः ममब्रु वन् ॥ 26 ॥

कस्याः पदानिचंतानि यातापाः नन्दसूनुना ।
असन्त्यस्त प्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ 27 ॥

अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्मो विहाय गोविदः प्रीतो यामनपद रहः ॥ 28 ॥

राधा कृष्ण को भगा ले गई

तस्या अमून नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानियत्
यैकापहत्य गोपीनां रहो भुक्तोऽच्युताधरम् ॥ 30 ॥

नः लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्याः नूनं तृणाकुरैः ।
खिद्यन्ते मुजातांधिततामुन्नित्ये प्रेयसी प्रियः ॥ 31 ॥

इमान्यधिकमग्नानि पदानि बहतो वधूम् ।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराकान्तस्य कामिनः ॥ 32 ॥

अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।
अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।

प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३३॥
 केश प्रसाधनं त्वत्र कामिन्या कामिना
 कृतम् ।
 तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्
 ॥३४॥

CC-0. Agamnigam Digital

—श्रीमद्भागवत स्कंध, १०, अध्याय ३०

कृष्ण के साथ नारी के चरण चिह्न

(वे गोपियां वृंदावन की लताओं और वृक्षों से कृष्ण के बारे में पूछती फिरीं. उन्होंने वन में भगवान कृष्ण के चरणचिह्न देखे. वे कहने लगीं, 'ये नंदनंदन कृष्ण के चरण, ध्वजा, कमल, वज्र, अंकुश, जौ आदि के चिह्नों से स्पष्ट दिखाई देते हैं.' कृष्ण के चरणचिह्नों के सहारे वे नारियां आगे गईं. आगे उन्होंने कृष्ण के साथ ही किसी नारी के चरणचिह्न देखे, जिन्हें देखने से दुखी हो कर वे बोलीं, 'नंदनंदन के साथ गई हुई यह कौन है, जिस के ये चरणचिह्न हैं? वह कृष्ण के कंधे पर हाथ रख कर ऐसी चली है, जैसे हथिनी हाथी के साथ चले. इस ने निश्चय ही कृष्ण की पूजा की है, जिस से कृष्ण हम सब को छोड़ कर प्रेम के कारण उसे एकांत में ले गए हैं.

'उस के ये चरणचिह्न हमें अत्यंत दुख दे रहे हैं. वह गोपियों में अकेली कृष्ण को भगा ले गई है और उन के अधर का उपभोग कर रही है. यहां लता और अंकुरों के कारण उस के चरणचिह्न दिखाई नहीं पड़ रहे हैं. लगता है थकी होने के कारण उसे कृष्ण ने कंधे पर बैठा लिया है. उसे उठाने के कारण कृष्ण के चरणचिह्न अधिक गहरे हो गए हैं. यहां महात्मा कृष्ण ने फूलों के लिए प्यारी को उतारा है. यहां प्रिय ने प्यारी के लिए फूल तोड़े हैं. पंजों के सहारे उच्चकने के कारण यहां उन के चरणों के चिह्न अधूरे हैं. यहां कामी कृष्ण ने कामिनी का केशप्रसाधन किया है. यहां उस के बालों का जूड़ा बनाते हुए कृष्ण बैठे हैं.)

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भागवत के

लेखक को गोपीविशेष की नाम मालूम नहीं था, अन्यथा अवश्य उल्लेख करता. लगता है भागवत के पहले गोपियों के साथ कृष्ण के रमण की सामान्य कल्पना रही होगी. भागवत लेखक ने अपनी ओर से उस का वर्णन करते हुए गोपीविशेष को अलग ले जाने की कल्पना कर ली. बाद में इसी गोपीविशेष का नाम राधा रख लिया गया और कृष्ण के बचपन से उस का संबंध जोड़ दिया गया. कुछ लोगों का कहना है कि २८ वें श्लोक के 'अनयाराधितो' शब्द से ही गोपीविशेष का नाम 'राधा' रखने की प्रेरणा मिली है. इस बात में कुछ तथ्य हो सकता है. पर इस बात में कोई संदेह नहीं कि भागवत में कहीं 'राधा' शब्द या व्यक्ति का उल्लेख नहीं है. तात्पर्य यह है कि न सीधी तरह राधा का नाम आया है और न बरसाने में रहने वाले वृषभानु की पुत्री का वर्णन है.

कृष्ण राधा के संबंध आपत्तिजनक

भागवत कृष्णचरित का प्रमुख ग्रंथ है. उस में राधा का नामोल्लेख न होना, यह बताता है कि बाद की सभी कथाएं और प्रसंग कल्पित हैं. पर राधा के संबंध में पौराणिक साहित्य में जो भी उल्लेख मिलता है, वह आज की दृष्टि से अत्यंत असामाजिक तथा आपत्तिजनक है.

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार राधा कृष्ण की पत्नी थी और उन के साथ सदा गोलोक में रहती थी. सुदामा के शाप के कारण वह तीस करोड़ गोपियों के साथ कृष्ण की आज्ञा से पवित्र भारतभूमि में आई. कृष्ण ने राधा सहित अपनी उन पत्नियों (गोपियों) से प्रसन्नतापूर्वक रमण किया, कृष्ण ने गोपियों से तो विवाह नहीं किया पर राधा का हाथ अवश्य पकड़ा था. ब्रह्मा उस विवाह के पुरोहित बने थे :
 वृषभानु सुता राधा सुदाम्नः शापकारणात्
 ॥८६॥

पुण्यं च भारतं क्षेत्रं गोलोकादाजगाम सा ।

त्रिंशत् कोटिं च गोपीनां गृहीत्वा भर्तृसूत्र्या

॥८७॥

ताभिः सादर्थ्यं स रेमे च स्वपत्नीभिर्मु
दान्वितः ।

पाणिं जग्राह राधायाः स्वयं ब्रह्मा पुरोहितः
॥८८॥

—कृष्ण जन्म, खंड ४, अध्याय ११५

जब गोपियों के साथ विवाह किए
बिना ही काम चल गया तो कृष्ण ने राधा
से विवाह करने का कष्ट व्यर्थ किया। अपनी
पत्नियों से भी कोई विवाह करता है? पर
दुनिया के पापी लोगों को क्या कहा जाए
जो इतने पर भी राधा तथा गोपियों को
परकीया समझते हैं।

राधा कृष्ण का विवाह विशेष परिस्थिति में

ब्रह्मा को राधा और कृष्ण का विवाह
किस परिस्थिति में कराना पड़ा, इस के
लिए हम एक कथा का उल्लेख कर रहे हैं।
कथा अत्यंत अश्लील है, पर हमें विवश
हो कर ऐसा करना पड़ रहा है। बिना
इस के हमारा विवेचन अधूरा रहेगा।
पाठक क्षमा करें :

एकदा कृष्ण सहितो नंदो वृंदावनं ययौ ॥१॥
चकार माययाऽकस्मान्मेघाच्छन्न नभो मुने
॥३॥

एतस्मिन्नंतरे राधा जगाम कृष्ण संनिधिम्
॥८॥

जग्राह बालकं राधा जहास मधुरं मुखात्
॥२८॥

कृत्वा वक्षसि तं कामात् श्लेषंश्लेषं चुचुंब च
॥३८॥

एतस्मिन्नंतरे राधा माया सद्रतनमंडपम् ।
ददर्श रत्न कलशशतेन च मन्वितम् ॥३९॥
सा देवी मण्डपं दृष्ट्वा जगामाभ्यंतरं मुद्रा
॥४४॥

ददर्श तत्र तांबूलं कर्पूरादि समन्वितम् ॥४५॥
पुरुषं कमनीयं च किशोरं श्याम सुंदरम्
॥४६॥

श्यामं पुष्पशय्यायां सस्मितं सुमनोहरम्
॥४७॥

कोटं बालकं शन्यं च दृष्ट्वा तं नवयौवनम्
॥५१॥

सर्वस्मृति स्वरूपा सा तथापि विस्मयं ययौ
॥५३॥

तामुवाच हरिस्तत्र स्मेराननसरोरुहाम्
॥५५॥

आगच्छ शयने साधिव ! कुरु वक्षस्थले हि
माम् ॥६१॥

तिष्ठाम्यहं शयानस्त्वम् कथाभिर्यत् क्षणं-
गतम् ॥८१॥

वक्षस्थले च शिरसि देहि मे चरणांबुजम्
॥८२॥

चार प्रकार के चुंबन

एतस्मिन्नंतरे ब्रह्मा जगाम पुरतो हरेः
॥८९॥

तस्याः हस्तं च श्रीकृष्णं ग्राहयामास तं विधिः
॥१२४॥

प्रणम्य राधां कृष्णं च जगाम स्वालपं मुदा
॥१३७॥

प्रणम्य श्रीहरिं भक्तयां जगाम शयनं हरेः
॥१३९॥

कृष्णश्चवित ताम्बूलं राधिकायै ददौ मुदा
॥१४३॥

राधाचवित ताम्बूलं ययाचे मधुसूदनः
॥१४४॥

यः कामो ध्यायते नित्यं यस्यैकं चरणाम्बुजम्।
बभूव तस्य स वशो राधा सन्तोष कारणात्
॥१४६॥

करे धृत्वा च तां कृष्णः स्थपयामास वक्षसि ।
चकार शिथिलं वस्त्रं चुचुम्ब च चतुर्विधम्
॥१४८॥

बभूव रतियुद्धेन विच्छिन्ना क्षुद्रा घंटिका ।
चुम्बने नौष्ट रागश्च ह्याश्लेषेण च पवकम्
॥१४९॥

पुलकांकित सर्वांगी बभूव नव संगमात् ।
मूर्छामवाप सा राधा बुबुधे न दिवानिशम्
॥१५१॥

प्रत्यंगेनैव प्रत्यंग मंगेनांगं समश्लिषत् ।
शृंगाराष्टविधं कृष्णश्चकार कामशस्त्रवित्
॥१५२॥

पुनस्तं च समाहितस्य सस्मितां वक्र-
लोचनाम् ।

क्षतविक्षत सर्वांगीं नखदन्तैश्चकार ह
॥153॥

बभूव शब्दस्तत्रैव शृंगार समरोद्भवः
॥154॥

निर्जने कौतुकात् कृष्णः कामशास्त्र विशारदः
॥156॥

निवृत्ते कामयुद्धे च सस्मिता वक्रलोचना
॥159॥

बभूव शिशुरूपश्च केशोरं च विहाय च ।
ददर्श बालरूपं तं रुदतं पीडितं क्षुधा ॥163॥

यशोदायं शिशुं दातुमुद्यता सेत्युवाच ह
॥173॥

यशोदा बालक नीत्वा चुचुम्ब च स्तनं ददौ ।
बहिर्निर्गता राधा सा स्वगृहे गृह कर्मणि
॥177॥

नित्यं नक्तं रतिं तत्र चकार हरिणा सह
॥178॥

—ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्ण जन्म, खंड 4,
अध्याय 15

बालक कृष्ण को गोद में लिया

(एक बार नंदजी कृष्ण के साथ वृंदा-
वन में गए. कृष्ण ने अपनी माया के बल से
सहसा आकाश बादलों से घिरा बना दिया.
इसी समय राधा कृष्ण के समीप आई और
बालक को गोद में ले कर मधुरमधुर हंसने
लगी. राधा ने काम के वशीभूत हो कर
बालक को कई बार छाती से लगा कर चूम
लिया. इसी बीच राधा ने माया से बना
सुंदर रत्नों का एक मंडप देखा जो सैकड़ों
रत्नकलशों से सुशोभित था. राधा मंडप
को देख कर प्रसन्नतापूर्वक भीतर चली गई.

वहां कपूर आदि से युक्त पान देखा
और एक सांवले रंग का सुंदर नवयुवक.
वह पुरुष फूलों की शय्या पर लेटा हुआ
मुसकरा रहा था. राधा अपनी गोद को
बालक से सूना देख और उस नवयुवक को
वहां देख कर आश्चर्य में पड़ गई. कृष्ण
विकसित कमल के समान मुख वाली राधा

से बोले, "भलोमानस, चारपाई पर आजा
और मुझे अपनी छाती पर लेट ले. राधा
बोली, "मैं बैठे हूं और आप लेटे हैं. इतना
समय बातों में व्यर्थ ही गया. मेरे सोने
और शीश पर अपने चरण-कमल रखिए."

इसी समय ब्रह्माजी कृष्ण के सामने
आए और राधा का हाथ कृष्ण के हाथ में
थमा दिया. वह राधा और कृष्ण को
प्रणाम कर के प्रसन्नता से अपने घर चले
गए. राधा ने भक्तिपूर्वक कृष्ण को प्रणाम
किया और उन के विस्तर पर गई. कृष्ण
ने अपना चबाया हुआ पान राधा को दिया
और उस का चबाया हुआ पान मांगा. जो
काम नित्य ही कृष्ण के एक चरण कमल
का ध्यान करता रहता है, कृष्ण राधा के
संतोष के कारण उस के वश में हो गए.
कृष्ण ने हाथ पकड़ कर राधा को सोने से
लगा लिया. उस के कपड़े ढीले कर के चार
प्रकार का चुंबन किया. संभोगरूपी युद्ध
से छोटेछोटे घुघुराओं वाली करधनी टूट गई.
चुंबन से होंठ का रंग और आलिंगन से पत्रक
नष्ट हो गए. नव संगम के कारण उस
राधा का सारा अंग पुलकित हो गया. वह
वेहोश हो गई. उसे रातदिन का ज्ञान नहीं
रहा. कामशास्त्र के ज्ञाता कृष्ण ने प्रत्यंग
से प्रत्यंग का और अंग से अंग का आलिंगन
कर के राधा से आठ प्रकार का संभोग
किया.

अंग घायल कर दिया

कृष्ण ने उस मुसकराती हुई तथा
तिरछी नजर वाली राधा को चिपटा लिया
और नख तथा दांतों से उस का सारा अंग
घायल कर डाला. वहां संभोगरूपी युद्ध
के कारण बड़ी हलचल हुई. कामशास्त्र
विशेषज्ञ कृष्ण ने निर्जन में राधा से संभोग
किया. कामयुद्ध अर्थात् संभोग समाप्त
होने पर तिरछी चितवन वाली राधा मुस-
कराने लगी. कृष्ण अपना युवारूप छोड़
कर बालक बन गए और भूख से रोते हुए
बालरूप दिखाया. राधा बालक को यशोदा

को देने को तैयार हो गई। यशोदा ने बालक को ले कर लुप्त और उस के मुँह में स्तन दे दिया। राधा वहाँ से बाहर निकल आई और अपने घर के काम में लग गई। राधा कृष्ण के साथ नित्य ही संभोग करती थी।)

इस प्रकार राधा का कृष्ण के साथ विवाह हुआ था, जिस में ब्रह्माजी पुरोहित बने थे। क्या अनुचित संबंध को विवाह कहा जा सकता है? यदि ब्रह्माजी बिना बुलाए वहाँ न पहुँच जाते तो क्या राधाकृष्ण वहाँ गायत्रीमंत्र जपते रहते? स्पष्ट है कि ब्रह्मा के आने की कल्पना केवल इस संबंध में अनौचित्य पर परदा डालने के लिए की गई है। इस संबंध की कल्पना जितनी धूर्ततापूर्वक की गई है, उस से सब को लज्जा आएगी। एक दूध पीते बालक का युवती से संभोग इन पुराणों में ही संभव है। साधारण मानव दो-तीस वर्ष के लगभग नारी का सहवास आरंभ करता है। पर ईश्वर के पूर्ण अवतार कृष्ण ने यह काम एक या दो वर्ष की अवस्था में ही आरंभ कर दिया। संसार की दृष्टि से बचने का कितना सरल उपाय निकाला राधाकृष्ण ने। लोग समझते थे कि राधा बच्चे को खिलाने जा रही है पर वहाँ कुछ और ही होता था।

राधा और कृष्ण की अवस्था का अंतर सकारण था। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा कृष्ण की मामी बताई गई है। इसी पुराण में राधा की उत्पत्ति कृष्ण के बाएं अंग से बताई गई है।

अविभूत कन्यका कृष्णस्य वामपद्मंतः

॥२५॥

तेन राधा समाख्याता गुणवद्भिद्विजोत्तम

॥२६॥

—ब्रह्मपर्व, अध्याय ५

सार्धं रायाण वंश्येन तत्संबंधं चकार सः

॥३९॥

कृष्णस्य माता यशोदाया रायाणस्तस्सहोदरः

॥४१॥

गोलोके गोपकृष्णांशः संबन्धात् कृष्णमातुलः

॥४९॥

—ब्रह्मपर्व, अध्याय ४९

राधा कृष्ण की मामी

कृष्ण के बाएं पाँख से एक कन्या उत्पन्न हुई। गुणवानों ने उस का नाम राधा रखा। उस राधा का विवाह रायाण नामक वंश्य के साथ कर दिया गया। कृष्ण की जो माता यशोदा थीं, रायाण उन का सगा भाई था। गोलोक में तो रायाण कृष्ण का अंश था, पर ब्रज के संबंध से मामा लगता था।)

यदि राधा को कृष्ण के अंग से उत्पन्न मानें तो उन की पुत्री हुई। यदि यशोदा के नाते से विचार करें तो वह कृष्ण की मामी हुई। दोनों ही दृष्टियों से राधा का कृष्ण के साथ प्रेम अनुचित था। ब्रह्मवैवर्त पुराण की किस बात पर विश्वास किया जाए? कभी वह राधा को कृष्ण के अंग से उत्पन्न मानता है और कभी कृष्ण के बचपन के समय उसे युवती बताता है। यदि राधा कृष्ण की मामी थी, तब भी उन के दूध पीने के समय अवश्य युवती रही होगी।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा के साथसाथ उस की माता को भी कामुकी बताया गया है।

तत्कन्या राधिका देवी मातृतुल्या च कामुकी ।
चकार नाना भावं स मुशीला स्वामिनं प्रति ॥८॥

चतुष्पष्टिठ कलामानं शृंगारं च चकार सः
तया विशिष्टया साकं रासे रसरसोत्सुकः ॥९॥

तां नखाग्र क्षतश्रोणी नखक्षतपयोधराम् ।
लुप्त चंदन सिन्दूरां कबरी शिथिलां सतीम् ॥१०॥

सुख सम्भोग मग्नां च नग्नां च शोकमूर्च्छिताम् ।

पुलकांचित सर्वांगीं निद्रादेवीं समाययौ ॥११॥ —ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्ण जन्म खंड, अध्याय ६९

चौंसठ कलाओं का ज्ञाता

(उस की कन्या राधिका देवी, अपनी माता के समान ही कामुकी थी। वह अच्छे स्वभाव वाली राधा अपने पति के प्रति

कलाश्रो के अनुसार राधा के साथ संभोग किया. उस राधा के साथ कृष्ण रास के आनंद के लिए उत्सुक रहते थे. नाखूनो के घावों के कारण राधा के नितंब तथा स्तन घायल हो गए. उस का चंदन और सिंदूर लुप्त हो गया तथा उस सती का जूड़ा ढोला हो गया. राधा सुखकारी संभोग में तल्लीन हो कर नंगी हो गई और कष्ट के कारण उसे मूर्च्छा आ गई. पुलक के कारण राधा का सारा श्रंग भर गया. राधा को नींद आ गई.)

उक्त प्रसंग में राधा को सुशीला और सती कहा गया है। यदि सुशीला और सती नारियाँ ऐसी होती थीं तो दुःशीला और असती कैसी होती होंगी! ब्रह्मवैवर्त पुराण से एक प्रसंग और :

एकदा हरिर्नक्तं वनं वृंदावनं ययौ ॥६॥
चकार तत्र कुतुकाद् विनोद मुरलीरवम्
॥१८॥

तच्छ्रुत्वा राधिका सद्यो मुमोह मदनातुरा ।
बभूव स्थाणुवद्देहा ध्यानैकतान मानसा
॥१९॥

मूर्च्छयिवाप सा सद्यः कामवाण प्रपीडिता
पुलकांचित सर्वांगी बभूव हतचेतन
॥ २१ ॥

कटाक्ष कामवाणेश्च विद्धः क्रीडा रसोन्मुखः
मूर्च्छां प्राप्य न पपात तस्थौ स्थाणु समोहरि
॥६२॥

क्षणेन चेतनां प्राप्य ययौ राधांतिक मुदा
कृत्वा वक्षसि तां प्रीत्या समाश्लिष्य चुचुमु-
सः ॥६४॥

कृष्ण के छूते से राधा होश में आ गई

श्रीकृष्ण स्पर्श मात्रेण संप्राप्य चेतनां सती
प्राणाधिकं प्राणनाथं समाश्लिष्य चुचुम्ब
॥६५॥

एतस्मिन्नतरे तत्र सकामः सुरतोन्मुखः
सुष्वाप राधया सार्धं रति तल्पे मनोह
॥७२॥

शृंगाराष्ट प्रकारं च विपरीतादिकं विभु

Preservation Foundation, Chandigarh

॥७३॥
शृंगार कुशलौ तौतु कामशास्त्र सुपंडितौ ।
रति युद्धविरामश्च न बभूव द्वयोरपि

117611
कृष्णो राधां समाकृष्ण वासयामास वक्षसि
119411

॥१००॥
चकार दंत दलनं पक्वविम्बा धरेवरे

1110111
--कण्ठ जन्म खंड 4, अध्याय 28

(एक बार कृष्ण रात में वृंदावन गए वहाँ उन्होंने कौतुक करते हुए मुरली बजाई मुरली को सुन कर कामानुरा राधा वेहोश हो गई. कृष्ण में ध्यान लगा होने के कारण राधा का शरीर खंबे के समान हो गया. (राधा होश आने पर कृष्ण के पास गई. काम के बाणों से पीड़ित हो कर राधा शीघ्र ही मूर्च्छित हो गई. राधा का सारा शरीर पुलकित हो गया तथा उस की चेतना जात रही. कामक्रीड़ा का आनंद लेने को उतावले कृष्ण कटाक्षरूपी कामबाणों से बिंध गए कृष्ण मूर्च्छित हो कर भी गिरे नहीं, खंबे के समान खड़े रहे. एक क्षण में होश आने पर प्रसन्नता से राधा के पास गए. राधा को प्रेम से सीने पर कर के आलिंगन किए और चूमा.

आठ प्रकार का संभोग

सती राधा को श्रीकृष्ण के छूने से होश आ गया। राधा ने भी प्राणप्यारे कृष्ण को आलिंगन कर के चूम लिया। इस बाद कामवासनायुक्त संभोग करने को प्रसन्न कृष्ण राधा के साथ सुंदर शैया पर सो गये। कृष्ण ने विपरीत आदि आठ प्रकार के संभोग किया तथा नख और दांतों यथोचित चोटें भी कीं। राधा और कृष्ण दोनों संभोग करने में कुशल तथा कामशरीर के ज्ञाता थे, इसलिए दोनों का संभोग युद्ध रुक नहीं रहा था। कृष्ण ने राधा

और स्तनों पर नाखूनों से छेद कर दिए।
राधा के बिबाफल जैसे होंठों पर कृष्ण ने
दांतों से घाव किए।)

पता नहीं राधाकृष्ण संभोग करते थे
या लड़ाई लड़ते थे कि संभोग के बाद बेचारी
राधा लहलुहान हो जाती थी। उस के
नितंब, स्तन और अधर बुरी तरह घायल
हो जाते थे। राधा मरहमपट्टी का सामान
साथ रखती होगी। राधा इतनी घायल होने
पर प्रति रात कैसे संभोग कराती थी, इसे
बेचारी बही जाने।

पहले तो राधाकृष्ण का यौन संबंध
ही अनूचित एवं आपत्तिजनक था। दूसरे
जिस दिलचस्पी और विस्तार के साथ उस
का वर्णन किया गया, उस पर किसे आपत्ति
न होगी? 'राधाकृष्ण का अनूचित संबंध
था,' इतना कहने मात्र से ही काम चल
सकता था। इस बात के लिए पूरा काम-
शास्त्र काम में लाने की क्या आवश्यकता
थी? मेरी समझ में, इस प्रकार की धार्मिक
पुस्तकों पढ़ने के पश्चात् कामशास्त्र फीका
और निरर्थक लगता होगा। हमारी सरकार
यदि अश्लील साहित्य पर प्रतिबंध लगाती
है तो उसे सब से पहले पुराणों पर रोक
लगानी चाहिए। लगता है इस प्रकार के
प्रसंगों की भरमार से नीरस धर्मचर्चा को
सरस बनाया गया है।

पार्वती कृष्ण बनी

महाभागवत में राधा और कृष्ण के
लिए एक विचित्र बात कही गई है। संभोग
का एक प्रकार 'विपरीत रति' कहलाता है।
साधारण मानव का मन एकदो बार की
विपरीत रति से भर जाता है। पर देवताओं
का इस से कुछ नहीं बनता। विपरीत रति
का स्थायी आनंद लेने के लिए पार्वती कृष्ण
बन गई और शिवजी ने राधा का रूप
धारण किया :

कृष्णो भूत्वा स्वयं गौरी चक्रे विहरणं मुने !
पुरुषेण जगद्धात्रि! प्राप्तायां कृष्णतां

वृषभानोः मुता राधा स्वरूपाऽहं स्वयं शिवे ।

—महाभागवत, अध्याय 49-20

(देवताओं, गौरी ने कृष्ण बन
कर विहार किया। शिवजी पार्वती से
कहते हैं, 'हे जगद्धात्रि, जब तुम कृष्ण बन
जाओगी तो मैं वृषभानु की लड़की राधा
के रूप में जन्म लूंगा।')

महाभागवत में यह भी बताया गया है
कि राधा ने कृष्ण के साथ खुल कर प्रेम करने
के विचार से अपने पति को नपुंसक बना
दिया था :

शंयस्तु जन्म संप्राप्य वृषभानु गृहेततः ।
स्त्रीरूपं लीलयास्थाम राधेत्याख्या मुपा-
गतम् ॥34॥

तां राधामुपसंयमे कोऽपिगोपो महामुने ।
क्लीवत्वं सहसा प्राप शंभोरिच्छानुसारतः
॥35॥

सा राधानुदिनं गत्वा कृष्णं कमल लोचनम्
॥36॥

—महाभागवत, अध्याय 51

शिवजी ने वृषभानु के घर जन्म लिया

(फिर शिवजी ने वृषभानु के घर में
जन्म लिया और राधा के नाम से प्रसिद्ध
हुए। किसी गोप ने उस राधा के साथ विवाह
किया। शिवजी की इच्छानुसार वह नपुं-
सक हो गया। वह राधा कमलनयन कृष्ण के
पास प्रतिदिन जाती थी।)

ईश्वर और देवताओं को अपने आनंद
से काम ! किसी को नपुंसक बनाने में उन्हें
क्या संकोच हो सकता है?

इस प्रकार राधा और कृष्ण के यौन
संबंध को न्यायसंगत बनाने के लिए तथा-
कथित धार्मिक पुस्तकों में अनर्गल एवं
परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं। राधा और
कृष्ण से संबंधित किसी भी पुस्तक को
पढ़ने के बाद विचारशील पाठक उन के
प्रेम को उचित नहीं कह सकता।

इस प्रकार की समाज विरोधी व
अनैतिक कहानियां धर्मशास्त्र के नाम पर

नानाभाव दिखती थी। कृष्ण ने वसिष्ठ ने दन्त करणों च प्रहार च यथोचितम्
 कलाओं के अनुसार राधा के साथ संभोग
 किया। उस राधा के साथ कृष्ण रास के
 आनंद के लिए उत्सुक रहते थे। नाखूनों
 के घावों के कारण राधा के नितंब तथा
 स्तन घायल हो गए। उस का चंदन और
 सिंदूर लुप्त हो गया तथा उस सती का जूड़ा
 ढीला हो गया। राधा सुखकारी संभोग में
 तल्लीन हो कर नंगी हो गई और कष्ट के
 कारण उसे मूर्च्छा आ गई। पुलक के कारण
 राधा का सारा अंग भर गया। राधा को
 नींद आ गई।)

उक्त प्रसंग में राधा को सुशीला और
 सती कहा गया है। यदि सुशीला और सती
 नारियाँ ऐसी होती थीं तो दुःशीला और
 असती कंसी होती होंगी! ब्रह्मवैवर्त पुराण
 से एक प्रसंग और :

एकदा हरिर्नक्तं वनं वृंदावनं ययौ ॥६॥
 चकार तत्र कुतुकाद् विनोद मुरलीरवम्
 ॥१८॥

तच्छ्रुत्वा राधिका सद्यो मुमोह मदनातुरा ।
 बभूव स्थाणुवद्देहा ध्यानकतान मानसा
 ॥१९॥

मूर्च्छायावाप सा सद्यः कामवाण प्रपीडिता ।
 पुलकांचित सर्वांगी बभूव हतचेतना
 ॥२०॥

कटाक्ष कामवाणश्च विद्वः क्रीडा रसोन्मुखः ।
 मूर्च्छां प्राप्य न पपात तस्यौ स्थाणु समोहरिः
 ॥२१॥

क्षणेन चेतनां प्राप्य ययौ राधांतिक मुदा ।
 कृत्वा वक्षसि तां प्रीत्या समाश्लिष्य चुचुम्ब
 सः ॥२२॥

कृष्ण के छूने से राधा होश में आ गई

श्रीकृष्ण स्पर्श मात्रेण संप्राप्य चेतनां सती ।
 प्राणाधिकं प्राणनाथं समाश्लिष्य चुचुम्ब ह
 ॥२३॥

एतस्मिन्नंतरे तत्र सकामः सुरतोन्मुखः ।
 सुष्वाप राधया सार्धं रति तल्पे मनोहरे
 ॥२४॥

शृंगाराष्ट प्रकारं च विपरीतादिकं विभुः ।

॥७३॥

शृंगार कुशलौ तौतु कामशास्त्र सुपंडितौ ।
 रति युद्धविरामश्च न बभूव द्वयोरपि
 ॥७४॥

कृष्णो राधां समाकृष्ण वासयामास वक्षसि
 ॥७५॥

श्रोणिदेशे च स्तनयोर्नखच्छिद्रं चकार ह
 ॥७६॥

चकार दंत दलनं पक्वबिम्बा धरेवरे
 ॥७७॥

—कृष्ण जन्म खंड ४, अध्याय २८

(एक बार कृष्ण रात में वृंदावन गए।
 वहां उन्होंने कौतुक करते हुए मुरली बजाई।
 मुरली को सुन कर कामातुरा राधा बेहोश
 हो गई। कृष्ण में ध्यान लगा होने के कारण
 राधा का शरीर खंबे के समान हो गया।
 (राधा होश आने पर कृष्ण के पास गई।)
 काम के बाणों से पीड़ित हो कर राधा शीघ्र
 ही मूर्च्छित हो गई। राधा का सारा शरीर
 पुलकित हो गया तथा उस की चेतना जाती
 रही। कामक्रीड़ा का आनंद लेने को उतावले
 कृष्ण कटाक्षरूपी कामबाणों से विध गए।
 कृष्ण मूर्च्छित हो कर भी गिरे नहीं, खंबे
 के समान खड़े रहे। एक क्षण में होश आने
 पर प्रसन्नता से राधा के पास गए। राधा
 को प्रेम से सोने पर कर के आलिंगन किया
 और चूमा।

आठ प्रकार का संभोग

सती राधा को श्रीकृष्ण के छूने से ही
 होश आ गया। राधा ने भी प्राणप्यारे कृष्ण
 को आलिंगन कर के चूम लिया। इस के
 बाद कामवासनायुक्त संभोग करने को प्रस्तुत
 कृष्ण राधा के साथ सुंदर शैया पर सो गए।
 कृष्ण ने विपरीत आदि आठ प्रकार का
 संभोग किया तथा नख और दांतों की
 यथोचित चोटें भी कीं। राधा और कृष्ण
 दोनों संभोग करने में कुशल तथा कामशास्त्र
 के ज्ञाता थे, इसलिए दोनों का संभोगरूपी
 युद्ध एक नहीं रहा था। कृष्ण ने राधा को

खींच कर सीने पर कर लिया, उस के नितंब और स्तनों पर नाखूनों से छेद कर दिए। राधा के बिबाफल जैसे होठों पर कृष्ण ने दांतों से घाव किए।)

पता नहीं राधाकृष्ण संभोग करते थे या लड़ाई लड़ते थे कि संभोग के बाद बेचारी राधा लहलुहान हो जाती थी। उस के नितंब, स्तन और अधर बुरी तरह घायल हो जाते थे। राधा मरहमपट्टी का सामान साथ रखती होगी। राधा इतनी घायल होने पर प्रति रात कैसे संभोग कराती थी, इसे बेचारी वही जाने।

पहले तो राधाकृष्ण का यौन संबंध ही अनुचित एवं आपत्तिजनक था। दूसरे जिस दिलचस्पी और विस्तार के साथ उस का वर्णन किया गया, उस पर किसे आपत्ति न होगी? 'राधाकृष्ण का अनुचित संबंध था,' इतना कहने मात्र से ही काम चल सकता था। इस बात के लिए पूरा काम-शास्त्र काम में लाने की क्या आवश्यकता थी? मेरी समझ में, इस प्रकार की धार्मिक पुस्तकें पढ़ने के पश्चात् कामशास्त्र फीका और निरर्थक लगता होगा। हमारी सरकार यदि अश्लील साहित्य पर प्रतिबंध लगाती है तो उसे सब से पहले पुराणों पर रोक लगानी चाहिए। लगता है इस प्रकार के प्रसंगों की भरमार से नीरस धर्मचर्चा को सरस बनाया गया है।

पार्वती कृष्ण बनी

महाभागवत में राधा और कृष्ण के लिए एक विचित्र बात कही गई है। संभोग का एक प्रकार 'विपरीत रति' कहलाता है। साधारण मानव का मन एकदो बार की विपरीत रति से भर जाता है। पर देवताओं का इस से कुछ नहीं बनता। विपरीत रति का स्थायी आनंद लेने के लिए पार्वती कृष्ण बन गई और शिवजी ने राधा का रूप धारण किया :

कृष्णो भूत्वा स्वयं गौरी चक्रे विहरणं मुने !
पुरुषेण जगद्धात्रि ! प्राप्तायां कृष्णतां

त्वपि ।

वृषभानुसारं राधा तदा तदा स्वयं शिवे ।

—महाभागवत, अध्याय 49-20
(हे मुनिजी, गौरी ने स्वयं कृष्ण बन कर विहार किया। शिवजी पार्वती से कहते हैं, 'हे जगद्धात्रि, जब तुम कृष्ण बन जाओगी तो मैं वृषभानु की लड़की राधा के रूप में जन्म लूंगा।')

महाभागवत में यह भी बताया गया है कि राधा ने कृष्ण के साथ खुल कर प्रेम करने के विचार से अपने पति को नपुंसक बना दिया था :

शंयस्तु जन्म संप्राप्य वृषभानु गृहेततः ।
स्त्रीरूपं लीलयास्थाम राधेत्याख्या मुपा-
गतम् ॥34॥

तां राधामुपसंयमे कोऽपिगोपो महामुने ।
क्लीवत्वं सहसा प्राप शंभोरिच्छानुसारतः
॥35॥

सा राधानुदिनं गत्वा कृष्णं कमल लोचनम्
॥36॥

—महाभागवत, अध्याय 51

शिवजी ने वृषभानु के घर जन्म लिया

(फिर शिवजी ने वृषभानु के घर में जन्म लिया और राधा के नाम से प्रसिद्ध हुए। किसी गोप ने उस राधा के साथ विवाह किया। शिवजी की इच्छानुसार वह नपुंसक हो गया। वह राधा कमलनयन कृष्ण के पास प्रतिदिन जाती थी।)

ईश्वर और देवताओं को अपने आनंद से काम ! किसी को नपुंसक बनाने में उन्हें क्या संकोच हो सकता है?

इस प्रकार राधा और कृष्ण के यौन संबंध को न्यायसंगत बनाने के लिए तथा-कथित धार्मिक पुस्तकों में अनर्गल एवं परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं। राधा और कृष्ण से संबंधित किसी भी पुस्तक को पढ़ने के बाद विचारशील पाठक उन के प्रेम को उचित नहीं कह सकता।

इस प्रकार की समाज विरोधी व अनैतिक कहानियां धर्मशास्त्र के नाम पर

कथाओं में सुनाई जाती हैं। भजन और कीर्तन में राधाकृष्ण की उर लगाई जाती है। मंदिरों में राधाकृष्ण की मूर्तियां पूजी जाती हैं। यह सब परस्त्रीगमन और अनुचित संबंध का खुल कर समर्थन करना ही तो है!

लगभग एक वर्ष पहले वृंदावन में एक विचित्र घटना घटी। निबार्क संप्रदाय के एक आचार्य ने किसी सेठ को फंसा कर राधाकृष्ण का विवाह कराने को राजी कर लिया। एक लड़के को राधा बनाया गया, दूसरे को कृष्ण। हजारों आदमियों की बावत हुई। बहेज का ठिकाना न रहा। वेदमंत्रों और अग्नि की साक्षी में दो लड़कों का विवाह कर दिया गया। इस विवाह में लगभग एक लाख रुपया व्यय हुआ।

सनातनधर्म और आर्यसमाजी दोनों ने इस का पतन निरूपित किया। सनातनधर्मियों लोगों का कहना था कि शास्त्रों में राधाकृष्ण के विवाह का कहीं स्पष्ट वर्णन नहीं है। आर्यसमाजियों को इस बात पर आपत्ति थी कि दो लड़कों का विवाह कर के वेदमंत्रों का अपमान किया गया, ऐसा तो फिल्म में भी नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि राधा को कृष्ण की पत्नी स्वीकार नहीं किया जाता फिर भी उन का नाम कृष्ण के साथ इतना अधिक जुड़ा हुआ है कि वास्तविक पत्नियां आंखों से ओझल हो गई हैं। ऐसा करना एक सभ्य समाज के लिए तो लज्जा की बात है ही, इस से एक महापुरुष का भी अपमान होता है। ●

श्रीमद्भागवत

अविश्वसनीय प्रसंगों का धार्मिक एलबम

डा. गंगासहाय 'प्रेमी'

हिंदू जनता और विशेष कर वैष्णव संप्रदाय में श्रीमद्भागवत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भागवत के सप्ताह स्थानस्थान पर होते हैं। हजारों पंडित इसी के सहारे जीविका चलाते हैं। भागवत की कथा सुनना और पंडित को बड़ी दक्षिणा देना आज भी कुछ लोग पुण्य एवं गौरव का काम समझते हैं। विद्वानों में भी भागवत का पर्याप्त आदर है। इस संबंध में कहावत प्रचलित है :

विद्यावतां भागवते परीक्षा."

(विद्वानों की परीक्षा श्रीमद्भागवत में होती है.)

सुगंधित मल

दोएक बार हम ने भी भागवत को पढ़ा है। हमें बहुत आश्चर्य हुआ कि बीसवीं शताब्दी के इस वैज्ञानिक युग में भी लोग ऐसी बेसिरपेर की बातों पर केवल विश्वास ही नहीं करते अपितु उन्हें लिखने और कहने वाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वैसे तो भागवत में अविश्वसनीय बातें इतनी अधिक हैं कि पूरी पुस्तक लिख कर भी उन का विवेचन संभव नहीं है। यहां कुछ प्रसंगों की ही चर्चा की जा रही है।

सुगंधित मल : आप ने जब तब महा-पुरुषों के विषय में अन्य बहुत सी

चमत्कारभरी बातें सुनी होंगी, पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखासुना होगा, जिस का मल लगभग तीस मील तक इधर-उधर की वायु को सुगंधित रखता हो। आप लोगों ने भागतत संभवतः ध्यान से नहीं सुनीपढ़ी है अन्यथा आप पहले ही परिचित हो चुके होते।

"शयान एव शनाति पिबति खादत्य-वमेहति हृदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिगोधोद्देशः। 132।

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगंध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात्सुरभिं चकार। 133।"

(स्कंध 5, अध्याय 5)
(वह ऋषभदेव) लेटेलेटे ही खाने, पीने और मलमूत्र त्यागने लगे। अपने मल से सने हुए वह लेटे रहते थे। उन के मल की गंध से सुगंधित वायु दस योजन [लगभग तीस मील] तक चारों ओर के प्रदेश को सुगंधित रखती थी।)

अच्छा हुआ जो अन्य अवतारों के मलमूत्र के विषय में भागवतकार ने कुछ नहीं कहा अन्यथा उसी की महिमा से अनेक ग्रंथ भर जाते। पता नहीं, इतना सुगंधित मल बनाने वाले ऋषभदेव खाते क्या थे? जिस व्यक्ति का मल सुगंधित हो, उसे उस से लिपटा रहना ही चाहिए।

हमें तो आश्चर्य यही है कि इतना सुगंधित मल लोग छोड़ते कैसे थे जो वह उस में लिपटे पड़े रहते थे। मालूम पड़ता

है उस समय के लोग इत्र, पाउडर आदि सुगंधित पदार्थों के शौकीन नहीं थे.

तीन सौ मील ऊंचा वृक्ष

ऊंचा वृक्ष : आप लोगों ने आश्चर्यजनक रूप से ऊंचे और मोटे वृक्षों के विषय में सुना होगा, पर भागवत के लेखक को ऐसे वृक्ष की जानकारी थी जो लगभग तीन सौ मील ऊंचा था :

“प्राप्तां किपुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्द-
शुद्धम् 131। स योजनशतोत्सेधः पादोन-
विटपायतः 132।” (स्कंध 4 अध्याय 6)

(वे लोग किपुरुषों के साथ पहुँचे और दूर एक बटवृक्ष देखा. उस की ऊंचाई सौ योजन [लगभग तीन सौ मील] थी और उस की शाखाएं 75 योजन [225 मील] इधरउधर फैली थीं.)

एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि धार्मिक ग्रंथ किपुरुषों का निवास हिमालय पर मानते हैं. हिमालय वैसे ही ऊंचा है और उस पर खड़ा हुआ 300 मील ऊंचा वृक्ष जो लगभग 900 मील इधर-उधर का प्रदेश घेरे था. धार्मिक विश्वास के अनुसार देवताओं का निवासस्थान भी हिमालय पर ही माना गया है और देवता लोग विमानों में बैठ कर सँवर करते हैं. पता नहीं, कितने विमान इस बटवृक्ष से टकरा कर रोज टूटते होंगे.

हमें जहाँ तक ज्ञात है, बरगद (बट) का वृक्ष हिमालय पर नहीं होता. वहाँ तो नुकीली पत्तियों वाले चीड़, देवदार आदि के वृक्ष होते हैं जो ऊँचे तो अवश्य होते हैं, पर अधिक घेरेदार नहीं होते. हिमालय की तराई में वृक्ष चाहे ऊँचे होते हों, पर बर्फीला प्रदेश आरंभ होते ही वृक्षों की ऊंचाई कम होने लगती है. हिमालय पर तीन सौ मील ऊंचा क्या संभवतः तीन सौ फुट ऊंचा वृक्ष मिलना भी संभव नहीं है.

मुरदों से बालक का जन्म : आप लोगों ने जिंदा ओरतों से बच्चों की

उत्पत्ति देखीसुनी होगी. भागवत लेखक ने मुरदे से बालक का जन्म बताया है. मुरदे का तात्पर्य यह नहीं है कि कोई गर्भवती नारी मर गई हो और उस के शव से बालक जन्मा हो. इस में विशेषता क्या रही? ऐसा तो प्रायः होता है. भागवत में दो स्थलों पर ऐसी कथा आती है कि मरे हुए पुरुष (नारी नहीं) के शरीर से बालक ने जन्म लिया.

मृत शरीर से बच्चों का जन्म

राजा बंन निस्संतान मर गए. ऋषियों ने राजा का वंश आगे चलाने एवं गद्दी पर बिठाने के उद्देश्य से एक पुत्र उत्पन्न किया:

“विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य
महोपतेः,

ममथुरुहं तरसा तत्रासीद्बाहुको
नरः 143।

तंतु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति
वादिनम्,

निषीदेत्यब्रुवस्ततात् स निषादस्त-
तोऽभवत् 145।” (स्कंध 4, अध्याय 14)

(ऋषियों ने ऐसा निश्चय कर के मरे हुए राजा की जाँघ को बलपूर्वक मथा. उस में से एक हाथ लंबा पुरुष निकला. वह दीनतापूर्वक नम्र बन कर बोला, “मैं क्या करूँ?” ऋषियों ने कहा, “बैठ जाओ.” इसी लिए उस का नाम निषाद पड़ा.)

अपार महिमा है ऋषियों की. जाँघ मथ कर पुत्र पैदा कर देना उन के लिए साधारण बात थी. भला उन के रहते किसी राजा का वंश समाप्त हो सकता है. लगता है, राजा बंन ने मरते समय कोई ठोकाक विधवा नहीं छोड़ी होगी अन्यथा ऋषि लोग नियोग द्वारा संतान का प्रबंध करते.

भागवत लेखक यदि यह भी बता देते कि ऋषियों ने किस मथानी से राजा की जाँघ को मथा था तो आजकल के ब्राह्मण भी निस्संतान मुरदों की वंशपरंपरा चालू

रखते, जिस से पीड़ितों की आदि की योग्यता को गम धारण करने योग्य बना दें, पर पुरुष को सगर्भ बनाने वाली दवा आप के लिए आश्चर्य की बात रही होगी. पुरुष के तो गर्भाशय होता नहीं है.

बिलकुल यही बात राजा निमि के साथ हुई.

“अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः, देहं समन्थुः स्म निमिः कुमारः समजायता ।12।

जन्मना जनकः सोऽभूद् वेदहस्तु विदेहजः,

मिथिलो मंथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ।13।” (स्कंध 9, अध्याय 13)

(ऋषियों ने राजा का न होना प्रजा के लिए भय माना. अतः निमि के मृतक शरीर को मथा. उस से लड़का उत्पन्न हुआ. जन्म लेने के कारण उस बालक का नाम जनक हुआ. विदेह से उत्पन्न होने के कारण वह वंदेह कहलाया. मंथन से जन्म लेने से उस का नाम ‘मिथिल’ पड़ा. उसी ने मिथिला नगरी बनाई.

इन नामों की व्याख्या देख कर हमें आश्चर्य होता है. क्या उसी अकेले बालक ने जन्म लिया था जो उस का नाम ‘जनक’ पड़ा? मेरे विचार में तो सभी बच्चों का नाम जनक होना चाहिए, क्योंकि सभी जन्म लेते हैं. जन्म शब्द संस्कृत की ‘जनि’ से है, जिस का अर्थ है प्रादुर्भाव. यही बाद में वंदेह नाम के संबंध में है. शरीर विदेह कैसे हुआ? हां, यदि वह बालक आत्मा से जन्म लेता तो यह नाम उचित भी था. अन्य बच्चे शरीर और आत्मा (जीवित व्यक्ति) से जन्म लेते हैं, तब भी वंदेह नहीं कहलाते और वह निरे शरीर से जन्म लेकर भी वंदेह कहलाया. पता नहीं, ऋषियों ने निमि के शरीर को किस प्रकार मथा था. भागवत-कार कुछ विस्मृत वर्णन करते तो सुविधा रहती.

पुरुष द्वारा गर्भ धारण

पुरुष का गर्भ : आप लोगों ने इस प्रकार की औषधियां तो सुनी होंगी जो

“युवानाश्वोऽभवत् तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः ।25।

भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः,

इष्टि स्म वर्तयांचक्रु रेंद्रो ते सुसमाहिताः ।26।

राजा तद् यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तपितः, दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपी मंत्र जलं स्वयम् ।27।

उत्थितास्ते निशाम्याथ व्युदक कलशं प्रभो, पप्रच्छुः कस्य कर्मदे पीतं पुसवनं जलम् ।28।

ततः काल उपावृत्ते कुक्षि निर्भय दक्षिणम्, युवानाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह ।30।” (स्कंध 9, अध्याय 6)

युवानाश्व नाम का राजा हुआ. उस के कोई संतान नहीं थी. वह दुखी हो कर अपनी सौ पत्नियों सहित वन को चला गया. कृपालु ऋषियों ने सावधान हो कर ‘द्वंद्वयज्ञ’ किया. रात में प्यासा राजा यज्ञशाला में घुस गया. ब्राह्मणों को सोता हुआ देख कर मंत्र वाला जल पी गया. ब्राह्मणों ने उठ कर कलश को जलरहित देखा तो पूछा, “पुत्र उत्पन्न करने वाला जल किस ने पिया है?” इसके पश्चात प्रसवकाल आने पर उस की दाहिनी कोख फाड़ कर एक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ.)

कंसी जोरदार दवा थी जिस ने गर्भाशय भी बना दिया और गर्भ धारण भी करा दिया. कृत्रिम गर्भाधान वाले क्या ऐसी जोरदार दवा बना सके हैं? कभी इतनी रह गई कि वह दवा राजा का लिंग परिवर्तन नहीं कर सकी... अन्यथा बच्चे को कोख फाड़ कर क्यों निकलना पड़ता और मां के दूध से क्यों वंचित रहना पड़ता?

किसी दवा के खाने मात्र से गर्भ

रह जाना एक अवस्था का है। प्राचीन लोगो को संभवत यह बात ज्ञात नहीं थी। इसी लिए पुराणों में इस प्रकार के अनेक प्रसंग मिलेंगे कि वीर्य खा लेने से मछली या नारी गर्भवती हो गई। ऐसा होता शरीर विज्ञान की दृष्टि से असंभव है।

फूस पर गर्भ वृद्धि : युवानाश्व के तो पेट में गर्भ बढ़ा, पर फूस पर वीर्य से बालकों का जन्म लेना तो और भी विचित्र है :

‘तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेद-विशारदाः, शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशी-दशानात् किल 135।’

‘शरस्तम्बेऽपतद् रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम्, तद् दृष्ट्वा कृपया-गृहणाच्छान्तनुमृग्यां चरन् 136।

कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्य-भवत् कृपी 137।’ (स्कंध 9, अध्याय 21)

फूस पर वीर्य गिरने से बालक का जन्म

(उस का (शतानंद का) पुत्र सत्यधृति हुआ जो धनुर्वेद में निपुण था। सत्यधृति का पुत्र शरदवान् हुआ। एक बार उर्वशी को देख कर उस का वीर्य फूस के वृक्ष पर गिर पड़ा। वीर्य सुंदर जोड़ा बन गया। राजा शांतनु उसे देख कर कृपा के कारण ले आए। लड़के का नाम कृप (कृपाचार्य) और लड़की का नाम कृपी हुआ, जो द्रोणाचार्य की पत्नी बनी।)

भागवत के शब्दों से ध्वनित होता है कि शरदवान का वीर्य फूस पर गिरते ही लड़का लड़की बन गया। फूस में ऐसी क्या रासायनिक विशेषता होती है कि उस पर पड़ा वीर्य बच्चा बन जाता है? भागवत लेखक की दृष्टि में न तो गर्भाधान के लिए रज और वीर्य का संयोग आवश्यक है और न गर्भ बढ़ने के लिए गर्भाशय अपेक्षित है।

नौ मास गर्भ में रहते हैं। यदि समय दस मास से अधिक हो जाता है तो ‘बच्चा आपरेशन आदि के द्वारा निकाला जाता है। अधिक समय तक गर्भ रुकना जच्चा-बच्चा दोनों के लिए घातक है। पर भागवत के अनुसार इस प्रकार की एक नारी हो चुकी है जो सौ वर्ष तक बलपूर्वक गर्भ रोके रही :

‘‘प्राजा पत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः, दधार वर्षाणि शतं शंकमाना सुरार्दनात् 11। (स्कंध 3, अध्याय 15)

(दिति प्रजापति (कश्यप) के उस तेज [वीर्य, गर्भ] को सौ वर्ष तक धारण किए रही जो शत्रुओं का तेज नष्ट करने वाला है। उसे इंद्र से डर लग रहा था।)

क्या गर्भ को इच्छानुसार रोके रहना नारी के वश की बात है? ‘क्या सौ वर्ष तक वह गर्भ ज्यों का त्यों बना रहा? उसमें वृद्धि नहीं हुई? क्या सौ वर्ष पश्चात् इंद्र का भय जाता रहा? इन बेसिरपेर की अवैज्ञानिक बातों का कहाँ तक विवेचन किया जाए।

गर्भ के 49 टुकड़े : दिति कोई साधारण नारी नहीं थी। सौ वर्ष तक गर्भ धारण करने के अतिरिक्त उस ने एक और महान कार्य किया। एक बार वह सो रही थी :

‘‘दितेःप्रविष्ट उदरं योगेशो

योगमायया 16।

चकनं सत्तथा गर्भवज्रेण कनक-प्रभम्, रुदंतं सप्तधंकेकं मा रोदीरिति तां पुनः 162।

ते तमूचुः पाठ्यमानाः सर्वे प्रांजलयो नृप, नो जिघांससि किमिन्द्र भातरो मरु-तस्तव 163।’

इंद्र गर्भाशय में घुस गया

न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानु-कम्पया 165। (स्कंध 6, अध्याय 18)

(योगी इंद्र योगमाया से दिति के

गर्भ में घुस गया। वहाँ उस ने सोने के समान चमकते हुए गर्भ के वज्र से सात टुकड़े कर दिए। उन रोते हुए टुकड़ों से इंद्र ने 'मत रोओ' कहते हुए प्रत्येक के सातसात टुकड़े कर दिए। जब इंद्र उन के [49 के] भी टुकड़े करने लगा तो वे हाथ जोड़ कर बोले, "इंद्र, हमें क्यों मारना चाहते हो? हम तो तुम्हारे भाई हैं।" भगवान की कृपा से दिति का वह गर्भ मरा नहीं।)

वाहरी दिति की नाँद। इंद्र अपना वज्र ले कर गर्भाशय में घुस गया, फिर भी उस की नाँद नहीं खुली। गर्भ के सात टुकड़े किए गए। वे सातों रोए तो उन के 49 टुकड़े कर दिए। उन सब ने हाथ जोड़ कर इंद्र से निवेदन किया, पर दिति सोती ही रही।

इंद्र दिति के गर्भाशय में किस द्वार से घुसा था, इसे भी भागवतकार स्पष्ट कर देते तो अच्छा था। क्या गर्भ का माता से कोई संबंध नहीं रहता? क्या गर्भ के टुकड़े होने से माता को कष्ट नहीं होता? गर्भ भी क्या संतूक में रखा सेब है, जिस के कटने से संतूक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता?

दिति तो दिति, उस का गर्भ भी कम जोरदार नहीं था। 49 टुकड़े होने पर भी मरा नहीं। उलटे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने लगा। हम ने एक मछली के विषय में पढ़ा है कि उस के कितने ही टुकड़े कर के जल में डालिए, प्रत्येक भाग मछली की तरह तरेगा। पर दिति का गर्भ तो उस से कहीं ऊँचा निकला। 49 टुकड़े होने पर भी न केवल जीवित रहा, अपितु प्रत्येक टुकड़े से पृथक सर्वांगपूर्ण पुरुष बनता गया। पुरुष इसलिए कह रहा हूँ कि गर्भस्थ बालक हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने में समर्थ नहीं होता।

विभवत बालक

दिति का गर्भाशय तो अच्छाखासा हल रहा होगा, जिस में 50 पुरुषों (49

गर्भाशय व एक इंद्र) के खड़े होने लायक जगह थी। क्या शीघ्र विकास की शक्ति थी गर्भ में! इधर इंद्र ने टुकड़े किए नहीं और उधर प्रत्येक टुकड़ा हाथ, पैर, आँख आदि वाला पुरुष बना नहीं!

विभवत बालक : दिति का गर्भ तो 49 टुकड़े हो कर भी सर्वांगपूर्ण रहा, पर बृहद्रथ की पत्नी का गर्भ न जाने क्यों मानव शरीर के दो भागों में हो गया। वह विभाग भी ऐसा जैसे किसी ने आरी से चीरा हो :

"अन्यस्यां चापि भार्यायां सकले द्वे बृहद्रथात् 17।

ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभि संधिते, जीव जीवति श्रीडंत्या जरासंधोऽभगवत् सुतः 18।"

(स्कंध 9, अध्याय 22)

(बृहद्रथ की दूसरी पत्नी के गर्भ से मानव शरीर के दो भाग उत्पन्न हुए। माता ने उन्हें बाहर फेंक दिया। जरा ने उन दोनों को मिला कर 'जियो जियो' कहते हुए खेल में जीवित कर दिया। इसी कारण उस बालक का नाम 'जरासंध' हुआ।)

क्या कमाल की सर्जरी थी! गर्भ दो टुकड़ों में होकर भी पलता रहा। दोनों टुकड़े इस प्रकार बढ़े कि दोनों मिल कर एक शरीर बन सक। माता बेचारी तो समझ ही नहीं पाई कि ये जीवित हैं या मृतक। दासी ने कूड़े पर से उन्हें उठा कर बच्चा बना दिया।

राजाओं के यहां भी बच्चे कूड़े पर फेंके जाते थे? क्या वह गर्भ अवंध था जो उसे ढंग से गाड़ा या जलाया नहीं गया? जिस राजा की दासी इतनी कुशल थी, उस के यहां एक भी चिकित्सक नहीं था क्या?

मानवेतर के गर्भ से मानव जन्म : स्त्री ने मानव को जन्म दिया तो क्या सुनने-पढ़ने योग्य बात हुई? हिरनी, उलूकी, भेंड़की आदि से मानव का जन्म सुन कर ही लोगों में श्रद्धा जन्म ले सकती

है :

“नृत्य वादित् गीतानि जुषन्
ग्राम्याणि योषिताम्,

आसां क्रीडनको वश्यः ऋष्यशृंगो
मृगी सुतः.”

(स्कंध 11, अध्याय 18, श्लोक 18)

हिरनी के गर्भ से मानव

(मृगी के पुत्र ऋष्यशृंग स्त्रियों के
अश्लील गानेबजाने और नाच को देख
सुन कर उन के वश में हो गए.)

भविष्य पुराण भी यह बात स्वीकार
करता है :

“मृगोजोऽथर्षः शृंगोऽपि वशिष्ठो
गणिकात्मजः ।” (वन पर्व 42।23)

(ऋष्यशृंग हिरनी से उत्पन्न थे
और वशिष्ठ गणिका के पुत्र थे.)

हिरनी के गर्भ से मानव की उत्पत्ति
क्या विश्वास की बात हो सकती है?

मानवी के गर्भ से मनुवेतर का जन्म :
भागवतकार ने हिसाबकिताब बराबर
रखा है. जहां पशु के गर्भ से मानव जन्म
बताया है, वहां नारी के उदर से अनेक
जड़चेतन पदार्थों की उत्पत्ति भी सूचित
की है :

“तिमेर्यादोगणा आसांश्च वापदाः
सरमामुताः ।।26।

सुरभेशर्महिषा गावो ये चान्ये द्विशफा
नृप, ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां
गणाः ।।27।

दन्द्शकादयः सर्पा राजन् क्रोधवशा-
त्मजा, इलायाः भूरुह सर्व यातुधानाश्च
सौरसाः ।।28।

अरिष्टाताश्च गंधर्वाः काष्ठाया
द्विशफेतराः, सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां
प्राधानिकां छृणु ।।29।

(स्कंध 6, अध्याय 6)

स्त्री के गर्भ से हिसक पशु

(दनु (कश्यप ऋषि) की पत्नी तिमि

से जलचर उत्पन्न हुए. सिंह, चीता आदि
हिसक पशु सरमा के पुत्र थे. सुरभि से
गाय, भंस तथा अन्य दोखुर (फटे हुए
खुर) वाले पशु जन्मे. बाज, गिद्ध आदि
ताम्रा की संतान हैं. मुनि से अप्सराओं
का समूह हुआ. सांप, विच्छ्र आदि जीव
क्रोधवशा के बच्चे हैं. इला से लता, वृक्ष
आदि तथा सुरसा से राक्षस उत्पन्न हुए.
अरिष्टा से गंधर्व और काष्ठा से एक खुर
वाले (घोड़े, गधे) पैदा हुए. इस प्रकार
दनु के 61 सुत हुए, जिन में मुख्य निम्न
हैं.)

भूतत्व विशारद, वनस्पति विशेषज्ञ
एवं जीवजंतु वैज्ञानिक अभी खोज ही कर
रहे हैं कि सृष्टि का विकासक्रम क्या है?
डाविन का विकासवाद रखा ही रहा. यदि
लोग भागवत पढ़ते तो यह समस्या पहले
ही सुलझ गई होती. डाक्टर लोग पता
लगाएं कि क्या मानवी के गर्भ में पेड़ों,
पौधों, पशुओं और पक्षियों के पलने की भी
व्यवस्था है?

गर्भाधान और पुत्र जन्म के पश्चात्
भी अक्षतयोनि : गर्भाधान के पश्चात्
कन्या की योनि दूषित होना स्वाभाविक
है. पुत्र जन्म के पश्चात् तो कोई नारी
अक्षतयोनी रह ही नहीं सकती. पर
भागवतकार को ऐसी नारी का परिचय
था :

देवता के बुलाने से गर्भ धारण

“साऽऽप दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं
प्रतोषितात्, तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव
रविं शुचिम् ।।32।

तद्वोपागतं देवं वीश्य विस्मित-
मानसा, प्रत्यर्थं प्रयुक्ता मे याहि देव
क्षमस्व मे ।।33।

अमोघं दर्शनं देवि आधितसे त्वयि
चात्मजम्, योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताहं ते
सुमध्यमे ।।34।

इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिव
गतः,

सद्यः कुमारः सज्जन द्वितीय इव
भास्करः 1351

तं सात्यजन्मदीतोय कृच्छ्रात्लोकस्य
विभ्यती 113611

(स्कंध 9, अध्याय 24)

(कुंती ने दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न कर के देवाहुति (देवताओं को बुलाने वाली) विद्या प्राप्त की। उस की शक्ति की परीक्षा करने के लिए कुंती ने पवित्र सूर्य को बुलाया। तत्काल सूर्यदेव को आया समझ कर कुंती चकित हो गई और बोली, "मैं ने विश्वास के लिए विद्या का प्रयोग किया है। आप जाइए। मुझे क्षमा कीजिए।" सूर्यदेव बोले, "मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं जाता है। मैं तुझ में पुत्र धारण करूंगा अर्थात् गर्भाधान करूंगा। हे, सुंदर कमर वाली, मैं इस प्रकार गर्भाधान करूंगा, जिस से तेरी योनि दूषित न हो।" इस के पश्चात् कुंती में गर्भाधान कर के सूर्य आकाश में चले गए। तुरंत ही दूसरे सूर्य के समान बालक ने जन्म लिया। उसे कुंती ने लोकलज्जा से डर कर नदी किनारे त्याग दिया।

एक गर्भ से दूसरे में पहुंचना

क्या कुंती को दुर्वासा ने बताया नहीं था कि बुलाने पर आकर देवता क्या करेंगे? पता नहीं सूर्यदेव के सामने क्या विवशता थी कि वह बिना गर्भाधान किए जा नहीं सकते थे! कुंती के पास सूर्य जैसा प्रकाशवान व्यक्ति आया, फिर भी लोगों को पता नहीं चला। सूर्यदेव ने गर्भाधान और पुत्र जन्म के पश्चात् भी योनि दूषित न होने का प्रबंध तो कर दिया पर पुत्र को साथ क्यों नहीं लेते गए? उन्हें अधिक देर नहीं रुकना पड़ता, क्योंकि पुत्र तो तुरंत ही उत्पन्न हो गया था। लगता है, उस समय के लोग बड़े अविश्वासी थे। उन्हें न तो मंत्रों पर श्रद्धा थी और न देवताओं की अमोघ शक्ति पर। कुंती ने कर्ण को नदी किनारे क्यों

फेंक दिया? क्या वह देवाहुति विद्या जानने, सूर्य के आने और अपने अक्षत-योनि होने का प्रमाण दे नहीं सकती थी?

गर्भ परिवर्तन : गर्भाशय और गर्भ-पात तो होता ही रहता है, पर भागवत लेखक ने एक घटना गर्भ परिवर्तन की बताई है। परिवर्तन का तात्पर्य यह नहीं है कि एक गर्भ की आत्मा दूसरे गर्भ में पहुंच गई हो। उदरस्थ गर्भ पेट से निकल कर दूसरी नारी में पहुंच गया:

"देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्य धाम मामकम्, तत्, संनिवृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेश्य 18। गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया, अहो विस्त्रंसितो गर्भ इति पौरा विचक्रुः 115।"

(भगवान विष्णु ने योगनिद्रा से कहा "मेरा अंश शेष नामक तेज इस समय देवकी के उदर में गर्भ रूप में है। उसे निकाल कर रोहिणी के पेट में रख दो।"

(योगनिद्रा ने जब देवकी का गर्भ रोहिणी में पहुंचा दिया तो नगर के लोग कहने लग कि अरे, गर्भ तो गिर गया।)

एक स्त्री से एक लाख पुत्र

गर्भ भी कोई जेवरगहना था जो एक से उतार कर दूसरी को पहना दिया? न तो देवकी को पता चला जाने का, और न रोहिणी को आने का। देवकी के लिए तो लोगों ने कह दिया कि गर्भ गिर गया पर रोहिणी के विषय में कैसे समाधान हुआ होगा। भगवान को क्या पहले ज्ञान नहीं था कि मुझे अपना अंश किसके गर्भ से उत्पन्न करना है जो बाद में अवला-बदली करते फिरे?

लक्षप्रसविनी : अब तक संतानोत्पत्ति की गणना दर्जनों तक ही रही है। गांधारी के सौ पुत्र आश्चर्य का विषय रहे हैं। यदि प्रति वर्ष एक बालक को जन्म दिया जाए, तब भी एक नारी

चालीस बच्चों से अधिक को जन्म नहीं दे पाती। भागवत लेखक ने एक ऐसे राजा का वर्णन किया है, जिस की दस हजार औरतें थीं और प्रत्येक के एकएक लाख पुत्र जन्मे थे। उनके पुत्रों की संख्या करोड़। भारत की वर्तमान आबादी से ढाई गुनी थी :

"तस्य पत्नीसहस्राणा दशाना सुम-
हायशा । 32। दशलक्षसस्त्राणि पुत्राणां
तास्वजीजनत्, तेषां तु षट्प्रधानान पृथु-
श्रवस आत्मजः । 33। ।"

(स्कंध 9, अध्याय 23)

(उस यशस्वी (गशबिंदु) की दस हजार स्त्रियां थीं। उस ने उन से दस हजार लाख पुत्र उत्पन्न किए। उन पुत्रों में प्रथुश्रवा आदि छः प्रमुख थे।

पहले तो राजा अपनी रानियों को ही नहीं पहचानता होगा। पुत्रों को पहचानना तो एकदम असंभव है। उसने पत्नियों भी छांटछांट कर रखी थीं, जिन्होंने बराबर संख्या में पुत्रों को जन्म दिया। राजा भी कम धन्यवाद का पात्र नहीं है जो एक अरब बार गर्भाधान कर सका।

दस मील लंबा शरीर : हम एक स्थान पर नौगजे पीर की कन्न देख कर चकित रह गए। संसार का सबसे लंबा व्यक्ति भी दस फुट से अधिक किसी भी अवस्था में नहीं होगा। पर भागवत में दस मील लंबे शरीर वाली नारी का वर्णन है :

"पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यस्यंत-
रद्रुमान्, चूर्णयामास राजेंद्र महावासीत्तद-
द्भुतम् । 14।" (स्कंध 10, अध्याय 6)

पूतना के शरीर से छह कोस के वृक्ष समाप्त

(पूतना के शरीर ने गिरते हुए छः कोस के अंतर के वृक्ष चूर्ण कर दिए। हे राजन, यह बड़ी अद्भुत बात थी।)

पता नहीं इतनी लंबी पूतना कितनी चौड़ाई का लंहगा या चोली पहने होगी?

उसकी बोली, सीने की उंचाई, दर्जियों को कितना श्रम करना पड़ता होगा? तेल का एक पूरा कारखाना, उसके बालों को चिकना कर पाता होगा? उसके रहने का मकान कैसा होगा?

समुद्रों की खुदाई : एक नहर या तालाब खोदने में कितना श्रम, धन और समय लगता है? कभी आप ने सोचा है कि इतने गहरे समुद्र कैसे खुदे होंगे? भागवत की कथा सुनिए :

"ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृत परि-
खातास्ते सप्त सिधव आसन् यत एव
कृताः सप्त भुवो दीपाः।"

(उन के (प्रियव्रत के) रथ के पहियों की लीक से जो गढ़े बने, उन्हीं ने सात समुद्रों का रूप धारण कर लिया। इसी कारण सात द्वीप बने।)

कितना भारी होगा वह रथ, जिस के पहिए इतनी गहरी लीक बनाते गए? कितने बलवान घोड़े उन में जुते होंगे जो ऐसे रथ को खींच सके। एक बात समझ में नहीं आती, यदि समुद्र रथ की लीक से बने हैं तो उन की चौड़ाई नहर के समान सभी जगह समान होनी चाहिए।

विभिन्न रसों से भरे समुद्र : कहा जाता है कि सागर का जल खारी होने से पीने के काम में नहीं आता, पर यह तो एक समुद्र की बात हुई। भागवत के अनु-सार ऐसे ही छः समुद्र और हैं :

"क्षारोदक्षुरसोदसुरोदधृतोदक्षीरोद-
दधिमण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः।"

(स्कंध 5, अध्याय 1-33)

(सात समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, शराब, घी, दूध, मछें और शुद्ध (मीठे) जल से भरे हुए हैं।)

यदि लोग शेष सागरों का पता लगा लें तो संसार की अनेक समस्याएं हल हो जाएं। ईख के रस की चीनी बनाइए-मुफ्त की शराब पियो। देसी घी की कमी नहीं। दूध और मछी भी पर्याप्त!

छः लाख मील लंबी मछली : सागर में समयसमय पर ऐसी मछलियों की

सत्ता देखी गई है जो तत्काल प्रदान
जहाज को डुबा देती हैं। पर भागवत
लेखक की मछली जंसी कोई मछली अभी
तक नहीं मिल सकी है :

“सोऽनुध्या तस्ततो राजा प्रांदुरासी-
न्महार्णवे, एक शृगधरो मत्स्यो हेमो
नियुतयोजनः” (स्कं. 8, अ. 24-44)

चार लाख कोस वाली मछली

(राजा सत्यव्रत के ध्यान करते ही
उस महासागर में एक सींग वाली सुनहरी
मछली प्रकट हुई. उस का विस्तार चार
लाख कोस का था.)

ऐसी मछली कितने बड़े सागर में
तैरती होगी? क्या मानव दृष्टि उस मछली
को पूरा देख पाई होगी? ईश्वर ने जब
मछली का अवतार लिया तो छोटीमोटी
मछली बन कर क्या करते? संसार के
किन्हीं भी दो सागरतटों की दूरी संभवतः
छः लाख मील नहीं है. फिर वह मछली
कहां रही होगी?

अवस्थाओं का परिवर्तन : आप ने
यह तो देखासुना होगा कि दो व्यक्ति पर-
स्पर वस्त्र, धन आदि बदल लें. पर क्या
कहीं ऐसा भी सुना है कि युवक अपनी
जवानी बूढ़े को दे कर स्वयं वृद्ध बन
जाए, वह ऐसा चाहे तब भी क्या यह
परिवर्तन कर सकता है? आप की बात
आप जानें, पर भागवत में इस प्रकार की
कथा आती है :

“यदो तात प्रतीक्षेमां जरां देहि
निजं वयः, 138। मातातह कृतां वत्सः न
तृप्तो विषयेष्वहम् वयसा भवदीयेन रंस्ये
कतिपयाः समा 139। इति प्रमुदितः पुरुः
प्रत्यगृहाण जरां पितुः, सोपि तद् वयसा
कामान् यथा वज्जुजुषे नृप 145। (स्कं.
9।18)

एवं वर्षं सहस्राणि मनः षष्ठंभनः
सुखम् (51) इत्युक्तवा नाहुषो जावां
तदीयं पूरवेवेया, दत्त्वा स्वां जरसं तस्मा-
बाववे विगतस्पृहः” (स्कं. 9।19-21)

(राजा ययाति ने अपने पुत्र से कहा,
“प्रिय, अपनी जवानी मुझे दे दो और
अपने नाना का दिया हुआ बुढ़ापा मुझ
से तुम ले लो. मैं अभी विषयभोगों से
तृप्त नहीं हुआ हूं. तुम्हारी युवावस्था के
सहारे कुछ वर्ष रमण कर सकूंगा. पुरु ने
प्रसन्नतापूर्वक पिता का बुढ़ापा ले लिया.
ययाति भी पुत्र की अवस्था से कामों का
भोग करते रहे. यह सुख भोगते हुए राजा
को हजार वर्ष बीत गए. (वैराग्य हो
जाने पर) राजा ने पुरु की जवानी उसे
दे दी और उस से अपना बुढ़ापा ले
लिया.)

बड़े विचित्र और निर्लज्ज थे उस
समय के लोग जो अपने पुत्रों की जवानी
छीन कर विषयसुख लूटते थे! पुत्र तो
पुत्र, लोग दामाद की जवानी छीन कर
उसे बुढ़ापा देने में भी नहीं हिचकते थे.
ययाति का विवाह ही इस शर्त पर हुआ
था कि वह अपने समुर का बुढ़ापा ले कर
उन्हें अपनी जवानी दे दे. उस भलेमानस
ने यह नहीं सोचा कि मेरी युवती कन्या
को भी सांसारिक सुख की अभिलाषा हो
सकती है. पुरु ने अपने पिता का बुढ़ापा
ले लिया और हजार वर्ष ज्यों का त्यों
रह कर फिर अपनी जवानी लौटा ली.
क्या हजार वर्ष में पितापुत्र वही बने रहे?
न पुरु बुढ़ापे से मृत्यु तक पहुंचा और न
ययाति जवानी से बुढ़ापे तक? लगता है,
उस समय लोग अवस्था के कारण वृद्ध
नहीं होते होंगे, किसी का बुढ़ापा बदले
में लेने से होते होंगे.

पुरुष की नाक और भौंह से बालक
का जन्म : पुरुष से बच्चे का जन्म एकदम
असंभव है. पर लगता है भागवत के कथा-
पुरुष जादूगर के समान प्रत्येक अंग से
बालक पैदा कर देते थे. ब्रह्माजी ध्यान
कर रहे थे कि उन की नाक से एक सूअर
निकल पड़ा :

“इत्यभिधायतो नासा विचरात्सह-

सासनध, बराह तोको निरगादंगुष्ठ परि-

माणकः । 18।

तस्याभिपश्यतः स्वस्थः क्षणन किल
भारत, गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्-
हत । 19।" (स्कं. 3, अ. 13)

(ब्रह्माजी के ध्यान करते समय उन
की नाक में एक सूअर का बच्चा निकला
जो अंगूठे के बराबर लंबा चौड़ा था. ब्रह्मा
जी के देखते देखते वह स्वस्थ हो कर हाथी
के बराबर बड़ गया. यह विचित्र बात है.)

नाक में से सूअर का बच्चा

नाक में से सूअर का बच्चा निकलना
घास्तव में विचित्र बात है. इस से भी
विचित्र बात है क्षण भर में अंगूठे के बरा-
बर बच्चे का हाथी के समान बड़ जाना.
और किसी की नाक से सूअर निकलता
तो उसे बीमारी बताई जाती, पर ब्रह्माजी
के लिए क्या कहा जाए?

नाक तो नाक ब्रह्माजी ने भौंह से

बच्चा उत्पन्न कर दिया:

"सोऽविज्ञातः सुतरेव प्रत्याख्याता-
नुशासनः, क्रोध दुर्विषह जातं नियन्तुमुप-
चक्रमे । 6।

धिया विगूह्यमाणोऽपि श्रुवोवर्मध्यात
प्रजापतेः,

सदयोऽजायत तन्मन्युः कुमारी नील
लोहित" । 7। (स्कं. 3, अ. 12)

(ब्रह्मा के पुत्रों ने उन का अपमान
किया और आज्ञा नहीं मानी. तब उन्हें
बहुत क्रोध आया. वह उस पर नियंत्रण
करने लगे. बुद्धि से क्रोध को रोक रहे थे
कि उन की भौंहों के बीच से नीले लाल
रंग का बालक रुद्र उत्पन्न हो गया.)

धर्म के आवेश में मतवाले लोग उक्त
प्रकार की बेसिरपैर की बातों को हजम
कर जाते होंगे. पर विचारशील व्यक्ति
की समझ में क्या इन में से एक भी बात
बैठ सकती है?

भागवत और भूगोल

डा. गंगासहाय 'प्रेमी'

द्वीपों और समुद्रों का क्षेत्रफल 254 लाख योजन बताया है। वहीं सारे भूगोल का पचास करोड़ बताते हैं। क्या यह गोरखधंधा नहीं है?

सभी पुराणों में भागवत का विशेष महत्त्व है। इसे 'महापुराण' कह कर आदर दिया जाता है। इस के सृजन के विषय में कहा जाता है कि वेदव्यासजी को चार संहिताएं एवं अनेक पुराण लिख कर मनस्तोष नहीं हुआ। व्यासजी ने अपनी समस्या नारद के सामने रखी। नारदजी ने उन्हें भागवत लिखने की सलाह दी। भागवत लिखने पर ही उन का मन शांत हुआ।

व्यासजी को ऋषि अथवा महर्षि कहा जाता है। ऋषि के विषय में कहा जाता है कि वह निश्चांत होता है। उस का संपूर्ण ज्ञान वास्तविक होता है। वह भ्रांति का शिकार नहीं होता। उस से इतनी आशा तो की जानी चाहिए कि वह झूठ नहीं बोलेगा और जो बात ठीक से जानता होगा, वही दूसरों से कहेगा।

इस कसौटी पर कसने से भागवत का ज्ञान खरा नहीं उतरता। यह कहना तो विवाद की बात होगी कि भागवत व्यासकृत नहीं है। पर मैं इतनी बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जिस व्यक्ति ने भागवत लिखी है, वह निश्चांत नहीं था।

लेखक को भूगोल का ज्ञान नहीं

भागवत में विभिन्न कथाओं के अतिरिक्त भूगोल की बातों पर भी प्रकाश

डाला गया है। भागवत का भूगोलवर्णन देखने से लगता है कि उस के लेखक को भूगोल का बिल्कुल ज्ञान नहीं था। भागवत में दिया गया सागर, महाद्वीप, पर्वत एवं ग्रहक्षेत्र वर्णन एकदम अशुद्ध है। आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों से जो तथ्य सामने आए हैं, वे भागवत की बातों से बिल्कुल भिन्न हैं। भूगोल के तथ्य ऐसे नहीं हैं कि उन में दोचार हजार वर्षों में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गए हों। भागवत की कथा पहली बार शुकदेवजी ने परिक्षित को सुनाई थी। परीक्षित कृष्ण के बाद हुआ है। कृष्ण का समय आज से पांच हजार वर्ष से पहले का कोई विद्वान नहीं मानता।

भागवत में सात सागरों का वर्णन मिलता है। उन के नाम इस प्रकार हैं :

भारोदेश्च रसोदसुरोदधृतोदक्षीरोद-
दधिमंडोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त
द्वीपपरिखा इवाम्यंतरद्वीपसमाना एकै-
कश्येन यथानुपूर्व सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु
पृथक् परित उपकल्पिता स्तेषु।

(स्कंध 5, अध्याय 1-33)

(1-भारोद, 2-इक्षरसोद, 3-सुरोद, 4-धृतोद, 5-क्षीरोद, 6-दधिमंडोद, 7-शुद्धोद, सात समुद्र सात द्वीपों की खाई के समान हैं। इन का परिमाण अपने अंदर वाले द्वीप के समान है। इन्हें सप्त द्वीपों से बाहर चारों ओर बनाया गया है।)

ऊपर जिन सात समुद्रों के नाम

गिनाए गए हैं, उन में नामानुसार ही द्रव पदार्थ भरा है ^{चन्द्रोद्धारम्} चन्द्रोद्धारम् कहने वाले का परिमाण पहले से दूना है सात द्वीपों के नाम इस प्रकार हैं:

जंबुप्लक्षशाल्मलीकुशक्रौंचशाकपुष्कर संज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन बहिः समंतत उपकल्पताः।

(स्कंध 5, अध्याय 1-32)

ऊपर कही हुई दोनों बातों को मिला कर कहें तो निम्न विवरण बन जाता है:

जंबू द्वीप खारे जल के समुद्र से घिरा है। प्लक्ष द्वीप ईख के रस के समुद्र से घिरा है। शाल्मली द्वीप शराब के समुद्र से घिरा है। कुशद्वीप घी के समुद्र से घिरा है। क्रौंच द्वीप दूध के समुद्र से घिरा है। शाक द्वीप दही मट्ठे के समुद्र से तथा पुष्कर द्वीप शुद्ध जल के समुद्र से घिरा है। इन द्वीपों और सागरों का विस्तार समान है। पहले वाले से दूसरे का विस्तार दूना होता गया है।

भागवत लेखक ने इस वर्णन को अत्यंत विस्तार के साथ भी दिया है और सागर व द्वीपों का विस्तार भी बताया है:

सागर व द्वीपों का विस्तार

जंबूद्वीपोऽयं यावत्प्रमाणविस्तारस्ता-
वता क्षारोदधिना परिच्छेदतो यथा मेरु-
जम्बवाख्येन। लवणोदधिरपि ततो द्विगुण-
विशालेन प्लाक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा
परिखा वाह्योपवनेन। 2. प्लक्षः स्वसमाने-
मेक्षु रसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि
शाल्मलो द्विगुणविशालः सामनेन सुरोदेना-
वृतः परिवृक्ते। 7. एवंसुरोवाद्बहिस्तद्व-
द्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः
कुशद्वीपो यस्मिन् कुशस्तम्बो देवकृतस्तद-
द्वीपाख्याकरो ज्वलन इवापरः स्वशण्परो-
चिषा दिशो विराजयति। 13. तथा
घृतोदद्बहिः क्रौंचद्वीपो द्विगुणः स्वमानेन
क्षारोदेन परित उपकल्पतो वृतो यथा
कुशद्वीपो घृतोदेन यस्मिन् क्रौंचो नाम

पर्वतराजो द्वीपनामनिर्वर्तक आस्ते। 18.
पर्वतश्चोदोदपरित उपकल्पितः शाक
द्वीपो द्वात्रिंशलक्षयोजनायामः समानेन च
दधिमण्डोदेन परीतो यस्मिन् शाको नाम
महीरुहः स्वभेत्रव्यपदेशको यस्य ह महा-
सुरभिगंधस्तं द्वीपमनुवासयति। 24. एवमेव
दधिमण्डोदात्परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणा-
यामः समंतति उपकल्पितः समानेन
स्वादूदकेन समुद्रेण बहिरावृतो। 29. तद्-
द्वीपमध्ये भानसोत्तरनामक एवार्वाचीन-
पराचीवर्धयोमर्यादा चलोऽयुतयोजनोच्छ-
यायामो यत्र तु चतसृषु दिक्षु चत्वारि
पराणि लोकपालानामिन्द्रादीनां यदुपरिष्ठा-
त्सूर्यरथस्य मेघं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं
चक्रं देवानाम् ग्रहोरात्राभ्यां परिभ्रमति।
30. विचिंततः कविभिः स तु पंचाशत्कोटि
शतितस्य भूगोलस्य तुरीयभागोऽयं लोका-
लोकाचलः 38. (भागवत स्कंध 5,
अध्याय 20)

(यह जंबू द्वीप अपने समान विस्तार
वाले खारे समुद्र से घिरा है। जिस प्रकार
मेरु पर्वत जंबू नामक द्वीप से घिरा है...
खारा समुद्र भी अपने से दूने बड़े प्लक्ष
नामक द्वीप से उसी प्रकार घिरा है जैसे
किले की खाई बाहरी बगीचे से घिरी
रहती है। प्लक्ष द्वीप अपने समान विस्तार
वाले ईख के रस के समुद्र से घिरा है।
उस के पश्चात् इक्षुरसोद से दूने विस्तार
वाला शाल्मली द्वीप है जो अपने समान
विस्तार वाले मदिरापूर्ण सागर से घिरा
है। इसी प्रकार सुरा सागर के बाहर उस
से दूने आकार का कुश द्वीप है जो अपने
समान विस्तृत घी से भरे सागर से घिरा
है, इस में देवों का बनाया हुआ एक झाड़ू
है। इसी के कारण इस द्वीप का नाम कुश
द्वीप पड़ा। यह कुश झाड़ू अपनी चमक से
दूसरा सूर्य लगता है और दिशाओं को
प्रकाशित करता है। घृत सागर से बाहर
उस से दूने विस्तार वाला क्रौंच द्वीप है
जो अपने समान विस्तार वाले दूध के
सागर से भरा है। इस द्वीप में क्रौंच नाम
का पर्वत है जो इस द्वीप के नाम का

कारण है। इस के बाद क्षीर सागर के चारों ओर 32 लाख योजन (लगभग 96 लाख मील) विस्तार वाला शाक द्वीप है जो अपने विस्तार वाले दहीमट्टे के सागर से घिरा है। इस द्वीप के नाम पड़ने का कारण शाक नाम का वृक्ष है। इस की महान सुगंधि सारे द्वीप को सुगंधित रखती है। इसी प्रकार दहीमट्टे के सागर के बाद पुष्कर द्वीप है, जो दधि-सागर से दूने विस्तार वाला है। यह अपने समान आकार वाले स्वादिष्ट जल के सागर से घिरा है। इस द्वीप के बीच में मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है जो उस के पूर्वोय और पश्चिमो भागों का विभाजन करने वाला एकमात्र पर्वत है। यह पर्वत 10 हजार योजन (लगभग 30 हजार मील) ऊंचा और इतने ही विस्तार वाला है। इस की चारों दिशाओं में इंद्रादि

इस का चौथा भाग यह लोकालोक पर्वत है।

लेखक का गणित कमजोर

ऊपर दिया हुआ विवरण लाख बार पढ़ कर भी आप अपने मन में भूगोल का कोई स्पष्ट चित्र नहीं बना सकते। भागवत लेखक का तात्पर्य यह है कि सब से पहले जंबू द्वीप है। उस के चारों ओर खाई के समान खारा सागर है। खारे सागर के चारों ओर प्लक्ष द्वीप उसी प्रकार फैला है, जिस प्रकार किले की खाई के पार बगीचे होते हैं। इसी प्रकार सातों द्वीप तथा सागर एकदूसरे को घेरे हुए हैं। सब से अंत में है स्वच्छ जल का समुद्र। नीचे की सूची से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी :

नाम	किस से घिरा हुआ	किस को घेरे हुए	परिमाण
जंबू द्वीप	खारा सागर		तीन लाख मील
क्षीर सागर	प्लक्ष द्वीप	जंबू द्वीप	तीन लाख मील
प्लक्ष द्वीप	इक्षुरस सागर	क्षीर सागर	छः लाख मील
इक्षुरस सागर	शाल्मली द्वीप	प्लक्ष द्वीप	छः लाख मील
शाल्मली द्वीप	सुरा सागर	इक्षुरस सागर	12 लाख मील
सुरा सागर	कुश द्वीप	शाल्मली द्वीप	12 लाख मील
कुश द्वीप	घृत सागर	सुरा सागर	24 लाख मील
घृत सागर	क्रौंच द्वीप	कुश द्वीप	24 लाख मील
क्रौंच द्वीप	दुग्ध सागर	घृतसागर	48 लाख मील
दुग्ध सागर	शाक द्वीप	क्रौंच द्वीप	48 लाख मील
शाक द्वीप	दधि सागर	दुग्ध सागर	96 लाख मील
दधि सागर	पुष्कर द्वीप	शाक द्वीप	96 लाख मील
पुष्कर द्वीप	स्वच्छ जल सागर	दधि सागर	192 लाख मील
स्वच्छ जल सागर	...	पुष्कर द्वीप	192 लाख मील

लोकपालों की चार पुरियां हैं। इस पर्वत के ऊपर हो कर सूर्य का रथ मेरु पर्वत की परिक्रमा करते समय एक वर्ष में देवताओं का एक दिन रात बनाता है। विद्वानों के मतानुसार यह सारा भूगोल 50 करोड़ योजन (लगभग 150 करोड़ मील) है।

भागवत लेखक ने भूगोल में जो सात द्वीप और सात सागर बताए हैं, उन के परिमाण का योग 254 लाख योजन (762 लाख मील) आता है। पर वह स्वयं सारे भूगोल को 50 करोड़ योजन बताते हैं। अलगअलग तथा जोड़ कर

बताने में इतना अंतर कैसे पड़ गया? क्या भागवत लेखक को पता था? कम से कम अपनी संख्याएं तो जोड़ लेते!

भागवत लेखक ने पूरे भूगोल (50 करोड़ योजन) का चौड़ाई (12.5 करोड़ योजन) मानसोत्तर अथवा लोकालोक पर्वत बताया है। इस से भी प्रशंसा की बात यह है कि यह पर्वत जिस पुष्कर द्वीप में स्थित है, उस का विस्तार 64 लाख योजन बताया है। पता नहीं 64 लाख योजन विस्तार वाली धरती के पूर्वपश्चिम भागों का विभाग यह साढ़े बारह करोड़ योजन विस्तार वाला पर्वत कैसे करता था? लेखक ने पहले स्वयं इस पर्वत की ऊंचाई और विस्तार 10 हजार योजन माना है।

धरतीतल संबंधी वास्तविक आंकड़े इस प्रकार हैं—
धरती के पृथ्वी के पर्वत रेखा पर 7,927 मील तथा ध्रुवों पर 7,900 मील है। यदि विषुवत रेखा पर एक स्थान से सीधी सुरंग खोदें तो वह दूसरी जगह निकलते समय 7,927 मील लंबी होगी। यही बात एक ध्रुव के बीच की सुरंग के बारे में है। धरती का घेरा विषुवत रेखा पर लगभग 25,060 मील तथा ध्रुवों पर 24,380 मील है। यदि विषुवत रेखा पर एक तार धरती के चारों ओर लपेटा जाए तो वह 25,060 मील तथा ध्रुवों पर लपेटने से 24,380 मील लंबा होगा।

पृथ्वी का क्षेत्रफल 19,80,00,000 वर्ग मील है। इस में 29 प्रतिशत स्थल तथा 71 प्रतिशत जल है। भागवत लेखक

एशिया	16.67	लाख	वर्ग	मील
यूरोप	4.09	"	"	"
उत्तरी अमरीका	8.65	"	"	"
दक्षिणी अमरीका	7.04	"	"	"
अफ्रीका	11.69	"	"	"
आस्ट्रेलिया	3.20	"	"	"
प्रशांत महासागर	700	"	"	"
अरब महासागर	350	"	"	"
हिंद महासागर	300	"	"	"
उत्तरी व दक्षिणी महासागर	50	"	"	"

आजकल जो महाद्वीप और महासागर पाए जाते हैं, वे इस प्रकार के कम से स्थित नहीं हैं, इसे साधारण पढ़ा लिखा व्यक्ति भी जानता है।

यदि आयाम, विस्तार आदि शब्दों का अर्थ चौड़ाई लें तब भी संगति नहीं लगती। वास्तव में भागवतकार का परिमाण बताने का ढंग ही गलत है। स्थल या जल का परिमाण बताते समय लंबाई-चौड़ाई या वर्ग बताया जाता है। क्या के श्रोता ऐसे असंभव वर्णन सुन कर आत्म-विमोह हो जाते होंगे, उन्हें संभव-असंभव पर विचार करने का अवकाश कहां?

ने जल और स्थल का विस्तार समान माना है। पृथ्वी के महाद्वीपों और महासागरों का क्षेत्रफल इस प्रकार है :

पर्वत की ऊंचाई दस हजार योजन

भागवत लेखक ने मानसोत्तर या लोकालोक पर्वत की ऊंचाई दस हजार योजन (30 हजार मील) बताई है जबकि संसार की सब से ऊंची चोटी एवरेस्ट की सागर तल से ऊंचाई लगभग साढ़े पांच मील (29,141 फुट) है।

एक बात और समझ से बाहर की है।

मेरु पर्वत जंबूद्वीप में है जो कि हिमालय पर्वत से है। द्वीप है और मानसोत्तर पर्वत पुष्कर द्वीप में है जो सब से बड़ा द्वीप है। भागवत लेखक का कहना है कि सूर्य मेरु पर्वत की परिक्रमा एक वर्ष में करता है। पर मेरु की परिक्रमा करने का मार्ग है मानसोत्तर पर्वत पर हो कर, जहां छः मास दिन और छः मास रात रहती है। इस प्रकार हमारा वर्ष देवताओं के रातदिन के बराबर है। छोटी वस्तु की परिक्रमा के मार्ग में बड़ी वस्तुएं पड़ती हैं या बड़ी के मार्ग में छोटी? इस बेसिरपैर की बात को क्या कहा जाए? यही बात सागरों में दूध, घी, ईख के रस, शराब आदि भरे होने के विषय में है। क्या इस पर कोई विश्वास कर सकता है?

अगर आप यह जानना चाहें कि सागर कैसे बने तो भागवत का निम्न उद्धरण देखिए :

ये वा उ ह तद्रथचरणेनमिकृतपरि-
खातास्ते सप्त सिधव आसन् यत एव कृताः
सप्त भुवो द्वीपाः.

(स्कंध 5, अध्याय 1-31)

(राजा प्रियव्रत के रथ के पहियों से जो लीक बनी, वे ही गड़े सात सागर बन गए। इन्हीं के कारण सात द्वीप हो गए।)

बड़ेबड़े वैज्ञानिक सागरों की रचना के विषय में प्रत्यक्ष और अनुमान के छोड़े दोड़तेदौड़ते थक जाते हैं, पर भागवत-कार ने यह समस्या कितनी सरलता से सुलझा दी!

भागवतकार को भूगोल का विस्तृत ज्ञान था। उन्होंने पर्वतों का वर्णन भी किया है। साथ ही जंबू द्वीप तथा उस के भागों पर भी प्रकाश डाला है :

“यो वायं द्वीपः कुवल्यकमलकोशा-
भ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशालः सम-
वर्तुलो यथा पुष्करपत्रम्. 5. यस्मिन्नव
वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामाप्यंष्टमिर्वादा-
गिरिभिः सुविभवतानि भवन्ति. 6. एषां
मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य
नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्गः कुलगिरि-

कणिकाभूतः
कुवल्यकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत्सहस्र-
योजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावदान्त
भुम्भां प्रविष्टः. 7. उत्तरोत्तरेणैलावृतं वीलः
श्वतः शृंगवानिति त्रयो रम्यकहिरण्मय-
कुरूणां वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रगायता
उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रपृथ्व एकै-
कशः पूर्वस्तात्पूर्वमावृत्त उत्तरो दशांशा-
धिकांशेन दैर्घ्यं एव ह्रसन्ति. एवं दक्षिणे-
नैलावृतं निबधो हेमकूटो हिमालय इति
प्रागायता यथा नीलादयोऽप्युतयोजनोत्सेधा
हरिवर्षकम्पुष्पभारतानां यथासंख्यम्.
9. तथैवेलावृत्तमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्-
गंधमादनावानीलनिबधायतौ द्विसहस्र
पृथयुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विव-
धाते. 10. मंदरो मेरुमंदरः सुपार्श्वः कुमुद
इत्युतयोजनविस्तारोन्माहा मेरोश्चतुर्विंशम-
वष्टम्भगिरय उपकृताः 11. चतुर्व्यंतेषु
चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादप-
प्रवराः पर्वतकेतव इवाधिसहस्रं योजनोन्न-
हास्तावद्विष्टपविततयः शतयोजनपरिणाहाः.
12. ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमूष्टजला
13. मंदरोत्संग एकादशशतयोजनोत्संगदेव-
चूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि फलान्म-
मृतकल्पानि पतिन्ति. 16. तेषां विष्टीर्य-
मार्गानामतिमधुर सुरभिमुग्धनिबधुलारुण-
सोदेनारुणोदा नाम नदी मंदरगिरिशिखरा-
न्निपतन्ती पूर्वोन्मावृतमुपप्लावयति.
17. एवं जंबूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णा-
नामनस्थिप्रायाणानिभकायनिभानं रसेन
जंबू नाम नदी मेरुमंदरशिखरावयुतयोज-
नादवनितले निपतन्ती दक्षिणेनात्मानं याव-
दिलावृतमुपस्यंदयति. 19. तावदुष्योरपि
रोधसौर्या मृत्तिका तद्रसेनानुबिध्यमाना
वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदाभरलोकाभरणं
जांबूनवं नाम सुवर्णं भवति. 20. यस्तु
महाकदम्बः सुपार्श्वेनिरुद्धो यास्तस्य कोट-
रेभ्यो विनिःसृताः पंचायामपरिणाहाः पंच
मधुधाराः सुस्रवश्शिखरात्पतन्त्योऽपरेणात्मा-
नामिलावृत्तमनुमोदयन्ति. 22. एवं कुमुद-
निरुद्धो यः शतवल्गो नाम वटस्तस्य स्कंध-
भ्यो नीचीनाः पयोदधिमधुघृतगुंडानाद्यन्वर-

शय्यासनाभरणादयः सर्व एव कामदुष्टा
नदाः कुमुदाग्रापतंतस्तमुत्तरेणलावृतमुपयो-
जयन्ति. 24. कुरंगकुररकुमुम्भवेकत्रिकूट-
शिशिर पतंगरुचकनिषधशिनीवासकपिल-
शंख वैदूर्यजारुधिहंसर्षभनागकालंजरनार-
दादयो विशतिगिरयो मेरोः कर्णिकायाः इव
केसरभूता मूलदेशे परित उपक्लृप्ताः.
26. जठरदेवकटौ मेरुं पूर्वणष्टादशयोजन-
सहस्रमुबगायती द्विसहस्रं पृथुतंगौ भवतः.
एवमपरेण पवनपरियात्रौ दक्षिणेन कैला-
सकरवीरौ प्रागायतावेवमुत्तरतस्त्रिशृंगम-
करावष्टभिरेतैः परिस्तृतोऽग्निरिव परि-
तश्चकास्ति कांचनगिरिः 27.

(स्कंध 5, अध्याय 16)

नौनी हजार योजन वाले नौ वर्ष

(यह जंबू द्वीप भूमंडल रूप कमल के
कोशस्थानीय जो सात द्वीप हैं, उन में सब
से भीतर का कोश है. इस का विस्तार
एक लाख योजन है और यह कमल पत्र
के समान गोलाकार है. इस में नौनी
हजार योजन विस्तार वाले नौ वर्ष हैं जो
इन की सीमाओं का विभाग करने वाले
आठ पर्वतों से बंटे हैं. इन के बीच में
इलावृत नाम का दसवां वर्ष है, जिस में
कुल पर्वतों का राजा मेरु पर्वत है. वह
मानो भूमंडल रूप कमल की कर्णिका ही
है. यह ऊपर से नीचे तक सारा का सारा
सुवर्णमय है और एक लाख योजन ऊंचा
है. उस का विस्तार शिखर पर 32 हजार
और तलहटी में 16 हजार योजन है. 16
हजार योजन वह धरती में धंसा है. इला-
वृत वर्ष के उत्तर में क्रमशः नीलश्वेत और
शृंगवान नाम के तीन पर्वत हैं, जो रम्यक,
हिरण्मय और कुरु नाम के वर्षों की सीमा
बांधते हैं. वे पूर्व से पश्चिम तक खारे
सागर तक फैले हुए हैं. उन में प्रत्येक की
चौड़ाई दो हजार योजन है तथा लंबाई में
पहले की अपेक्षा बाद का क्रमशः दशमांश
से कुछ कम अधिक है. इसी प्रकार इला-
वृत के दक्षिण की ओर एक के बाद एक

निषध, हमकूट और हिमालय नाम के तीन
पर्वत हैं. नीलादि पर्वतों के समान ये भी
पूर्वपश्चिम की ओर फैले हैं और दसदस
हजार योजन ऊंचे हैं. इन से क्रमशः हरि-
वर्ष, किम्पुरुष और भारतवर्ष की सीमाओं
का विभाग है. इलावृत के पूर्व और
पश्चिम की ओर उत्तर में नील पर्वत और
दक्षिण में निषध पर्वत तक फैले हुए गंध-
मादन और माल्यवान नाम के दो पर्वत हैं,
इन की चौड़ाई दोदो हजार योजन है और
ये भद्रश्व और केतुमाल नामक दो वर्षों
की सीमा निश्चित करते हैं. इन के अति-
रिक्त मंदर, मेरुमंदर, सुपाश्वर्य और कुमुद
ये चार दसदस हजार योजन ऊंचे और
उतने ही चौड़े पर्वत की आधारभूत शूनियों
के समान हैं. इन चारों के ऊपर इन के
झंडों के समान क्रमशः श्राम, जामुन, कदंब
और बरगद के चार पेड़ हैं. इन में से
प्रत्येक ग्यारह सौ योजन ऊंचा है और
इतना ही इन की शाखाओं का विस्तार
है. इन की मोटाई सौसौ योजन है. इन
पर्वतों पर चार सरोवर हैं जो क्रमशः दूध,
मधु, ईख के रस और मीठे जल से भरे हैं.
मंदराचल की गोद में जो ग्यारह सौ
योजन ऊंचा देवताओं का आश्रय है, उस
से गिरिशिखर के समान बड़ेबड़े और
अमृत के समान स्वादु फल गिरते हैं. वे
जब फटते हैं तो सुगंधित और मीठा लाल
रस बहने लगता है. उसी से अरुणोदा
नाम की नदी निकलती है. यह नदी
मंदराचल के शिखर से गिर कर अपने
जल से इलावृत के पूर्वी भाग को सींचती
है.

जामुन के वृक्ष से हाथी के समान फल

इसी प्रकार जामुन के वृक्ष से हाथी
के समान बड़ेबड़े बिना गुठली के फल
गिरते हैं. ऊंचाई से गिरने के कारण वे
फट जाते हैं. उन के रस से जंबू नाम की
नदी प्रकट होती है जो मेरुमंदर पर्वत के
बस हजार योजन ऊंचे शिखर से गिर कर

इलावृत के दक्षिणी भू भाग को सींचती है। उस नदी के दोनों किनारों को मिट्टी उस रस से भीग कर जब वायु और सूर्य के संयोग से सूख जाती है, तब वही जांबूनद नाम का सोना बन जाता है। सुपाश्वर्ष पर्वत पर जो विशाल कदंब वृक्ष है, उस के पांच कटोरों से मधु की पांच धाराएं निकलती हैं, उन की मोटाई पांच पुरसे जितनी है। ये सुपाश्वर्ष के शिखर से गिर कर इलावृत वर्ष के पश्चिमी भाग को अपनी सुगंध से सुवासित करती हैं। इसी प्रकार कुमुद पर्वत पर जो शतबला नाम का वट वृक्ष है, उस की जटाओं से नीचे की ओर बहने वाले नद दूध, दही, मधु, घृत, गुड़, अन्न, वस्त्र, शैया, भूषण आदि इच्छित पदार्थ देने वाले हैं। ये सब कुमुद पर्वत से गिर कर इलावृत के उत्तरी भाग को सींचते हैं। कमल की कर्णिका के चारों ओर जैसे केसर होता है, उसी प्रकार मेरु के मूलदेश में उस के चारों ओर कुरंग, कुरर, कुसुम, बैकक, त्रिकट, शिशिर, पतंग, रुचक, निग्ध, शिनीवास, कपिल, शंख, वेदूर्य जाहघि, हंस, रिबस, नाग, कालंजर, नारद आदि 20 पर्वत हैं। मेरु के पूर्व की ओर जठर और देवकूट नाम के दो पर्वत हैं जो अठा-रह अठा-रह हजार योजन लंबे तथा दोबो हजार योजन चौड़े तथा ऊंचे हैं। इसी प्रकार पश्चिम की ओर पवन और परि-यात्र, दक्षिण की ओर कैलास और कर-वीर तथा उत्तर की ओर विशुंग और मकर नामक पर्वत हैं। इन से घिरा हुआ स्वर्ण पर्वत मेरु अग्नि के समान जग-मगाता है।)

इन सब वर्णनों की जितनी आलोचना की जाए थोड़ी है। भागवतकार के मन में जो आया है, कहता चला गया। उस ने एक साधारण सी बात नहीं सोची कि प्रकृति एक जैसी दो वस्तुएं समान बहुत कम बनाती है। इसी लिए न लोगों के चेहरे मिलते हैं, न नदियों की धाराओं में समान मोड़ हैं और न पर्वतों की परस्पर दूरी या ऊंचाई आदि में ही कोई समानता

है। भागवत लेखक के अनुसार जब द्वीप के बीच में इलावृत है और शेष द्वीप नौ बरा-बर भागों में बंटा हुआ है। बांटने वाले हैं समान आकार के आठ पर्वत।

हम जिस द्वीप में रहते हैं, वह जब द्वीप है। क्योंकि जब द्वीप के वर्णन में हिमालय नाम का परिचित पर्वत आता है, शेष नाम विचित्र लगते हैं। पर्वतों और देशों के नाम बदल सकते हैं, पर वे तो कहीं नहीं जा सकते।

जब द्वीप को कमल के पत्ते के समान गोल बताया गया है। इस का विस्तार है एक लाख योजन (तीन लाख मील) अर्थात् सागर के किसी भी तट से सामने वाला तट तीन लाख मील है। इसे हम दूसरे शब्दों में जब द्वीप का व्यास कह सकते हैं। पर आजकल की प्रत्यक्ष नाप के अनुसार यह व्यास सारी पृथ्वी (भूगोल) के व्यास का लगभग 40 गुना है हम पहले बता आए हैं कि पृथ्वी का व्यास विजुवत रेखा पर 7,927 मील तथा ध्रुवों पर 7,900 मील है।

पौराणिक गण्यें

पौराणिक गण्यों के अनुसार अकेला जब द्वीप ही सारे भूगोल से 40 गुना है। अभी तो छः महाद्वीप और बचे हैं जो क्रमशः दूने विस्तार वाले हैं। यही बशा पर्वतों की है। जब द्वीप के मध्य में मेरु नाम का सोने का पर्वत है जो एक लाख योजन (तीन लाख मील) लंबा है। इस की चौड़ाई चोटी पर 32 हजार योजन (96 हजार मील) है और तलहटी के 16 हजार योजन (48 हजार मील) है। अकेले इस पर्वत का व्यास ही सारी धरती के व्यास से ऊपर 12 गुना है और तल-हटी में छः गुना है। यह पर्वत विचित्र है। नीचे इस की चौड़ाई कम है और ऊपर जा कर ठीक दूनी हो गई है। यह सोने का पहाड़ आज होता तो लोग आलामाल हो जाते।

मेरु की धूम्रिणी के समान जो चार पर्वत हैं, वे तो सब से विचित्र हैं। प्रत्येक पर 1,100 योजन (3,300 मील) ऊंचे पेड़ हैं। ग्राम के पेड़ से पर्वत की चोटी के समान फल गिरते हैं। जामुन के पेड़ से हाथी के समान फल गिरते हैं। इन फलों के रसों से नदी बन जाती हैं। जामुन के रस की नदी तो अपने दोनों किनारों की मिट्टी को सोना बना बेती है। लोजिए, भागवतकार ने मिट्टी से सोना बनाने का उपाय भी बताया। मिट्टी को जामुन के रस में भिगो कर हवा और धूप में रखी, सोना तैयार है।

लाख योजन दूर बुध है। बुध से दो लाख योजन दूर मंगल है। इस से दो लाख योजन दूर बृहस्पति है। इस से दो लाख योजन दूर शनिश्चर है।

यह सब वर्णन इस मान्यता के आधार पर है कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य आदि सारे ग्रह मेरु को केंद्र बना कर घूमते हैं। सूर्य से चंद्रमा के अतिरिक्त अन्य ग्रहों की दूरी नीचे दी जाती है :

चंद्रमा और सूर्य की दूरी सदा एक सी नहीं रहती, क्योंकि चंद्रमा धरती का चक्कर लगाता है। धरती सूर्य से नौ करोड़ 30 लाख मील दूर है और धरती

ग्रह	वास्तविक दूरी	भागवत में वर्णित दूरी
1. शुक्र	6 करोड़ 70 लाख मील	18 लाख मील
2. मंगल	14 करोड़ 15 लाख मील	30 लाख मील
3. बुध	3 करोड़ 60 लाख मील	24 लाख मील
4. बृहस्पति	48 करोड़ 30 लाख मील	36 लाख मील
5. शनिश्चर	88 करोड़ 60 लाख मील	42 लाख मील

लेख विस्तार के भय से हम भागवत की सभी गप्पें उद्धृत नहीं कर सकते। जिन लोगों को जातूसी उपन्यास पढ़ने का शौक हो, वे भागवत का पांचवां स्कंध अवश्य पढ़ें। भागवत में अंतरिक्ष का ज्ञान भी बताया गया है :

एवं चंद्रमा अर्कगमस्तिभ्य उपरिष्ठा-लक्षयोजनत उपलभ्यमानोः 8. तत उपरिष्ठात्रिलक्षयोजनतो नक्षत्राणि. 11. तत उपरिष्ठादुशना द्विलक्षयोजनत उपलभ्यते. 12. उशनसा बुधो व्याख्याततत उपरिष्ठाद् द्विलक्षयोजनतो. 13. अत ऊर्ध्व-मंगारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्य-मानः 14. तत उपरिष्ठाद् द्विलक्षयोजना-न्तरगतो भगवान् बृहस्पतिः. 15. तत उपरिष्ठाद्योजनलक्षद्वयात्प्रतीयमानः शनि-श्चरः 16. (स्कंध 5, अध्याय 22)

चंद्रमा सूर्य की किरणों से एक लाख योजन (तीन लाख मील) ऊपर है। चंद्रमा से तीन लाख योजन (नौ लाख मील) दूर नक्षत्र हैं। नक्षत्रों से ऊपर दो लाख योजन (छः लाख मील) शुक्र है। शुक्र से दो

तथा चंद्रमा के बीच का अंतर 2,38,900 मील है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि सूर्य और चंद्रमा की दूरी अधिक से अधिक 932,38,900 मील तथा कम से कम 9,27,71,100 मील रहती है। ग्रहों की परस्पर दूरी में कोई साम्य नहीं है पर भागवत के अनुसार वे समान, दूनों अथवा ड्योढ़ी दूरी पर हैं।

भागवत में कुछ ग्रहों का विस्तार भी दिया गया है। इस की चर्चा कर के हम यह लेख समाप्त करेंगे :

यददस्तरणेर्मण्डलं प्रतपस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसहस्र सोमस्य. 2. (स्कंध 5. अध्याय 24)

(यह जो सूर्य का तपता हुआ गोला है इस का विस्तार 10 हजार योजन (30 हजार मील) तथा चंद्रमा का 12 हजार योजन (36 हजार मील) है।)

33 हजार मील ऊंचा ग्राम

भागवत के अनुसार चंद्रमा सूर्य की

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—
घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी
हो या किसी समाज को भर्त्सना करनी
हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए,
मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।
धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी
यानी धन की बुराई की है, पर किसी
धर्म के सीबागर ने इस को पाने की इच्छा
नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर
प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-
जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां
भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या
करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो. क्यों?
भगवान खुश होंगे. तो क्या धन कमाने
वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज
होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले
को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले
उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों
एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या
अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन
तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता
है तो घृणायोग्य बन जाता है.” पर क्या
बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम
चल सकता है?

जब मानव और प्राणी बढ़ता है तो
उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए. बिना
पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है?
आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को
रोजगार में लगाने के लिए कम से कम
10,000 रुपए की पूँजी चाहिए. बिना
पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह
सकता है. रोजगार बिना पूँजी के नहीं
हो सकता. बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती. मानसिक व शारीरिक सुख बिना
पूँजी नहीं मिल सकता.

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती.
धन बिना मेहनत किए नहीं आता. और
आसदनी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी
नहीं बन सकता. व्यक्ति ही पूँजी बनाता
है, वह ऊपर से नहीं टपकती. सरकार
(यानी राजनीतिबाज) उसे जन्त कर
सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना
नहीं सकती.

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है. जब
तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित
नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में
रोजगार बढ़ेगा, न बेकारी कम होगी और
न ही समृद्धि आएगी.

जिस देश में करोड़ों लोगों को भ्रष्ट
भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और
पूँजीपतियों को गालियां दे कर राजनीति-
बाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन
का पेट नहीं भर सकते. उन का पेट तो तभी
भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने
और उद्योगधंधे होंगे. और वे तब होंगे
जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी. याद रखिए,
पूँजी और गरीबी का आपस में बंद है. पर
राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजी-
पति का बंद बना दिया है.

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए. पूँजी
व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में
लगाए. दूसरों को रोजगार दीजिए. यदि
व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है
तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक
में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग
सर्टिफिकेट खरीद कर. वैसे समाजवाद
यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध
नहीं बन सकता. इस से केवल राजनीति-
बाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है.●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए.

अपेक्षा पृथ्वी से न केवल अधिक दूर है अपितु वास्तव में सूर्य का व्यास आठ लाख 65 हजार मील तथा चंद्रमा का 2,160 मील है। इस प्रकार सूर्य चंद्रमा से हजारों गुना बड़ा है।

ऊपर दिए हुए भागवत के भूगोल एवं खगोल वर्णन को देख कर यह कहना दुस्साहस नहीं होगा कि ब्राह्मणों, ऋषियों एवं मुनियों की गण्यों का नाम ही पुराण एवं धर्मशास्त्र है। भोलीभाली धार्मिक जनता को मधुमयी स्वर्ण कल्पनाओं में अटकाए रखने के लिए भागवत में कितना झूठ बोला गया है? ईश्वर के रस, शराब, दूध, दही, घी के भरे लाखों मील के सागर, एक लाख योजन ऊंचा और 32 हजार योजन मोटा सोने का पर्वत, धरती से 30 हजार मील ऊंचे पर्वत पर खड़े 33 हजार मील ऊंचा आम, जामुन आदि का पेड़, उस से गिरने वाले पर्वतशृंग एवं

दाशों के समान बहने वाले सागर के रस से बहने वाली नदी, ये सब ऐसी मधुमयी कल्पनाएँ हैं कि अल्पबुद्धि श्रोता उन में मस्त हो कर थैली का मुँह खोल देता है।

एक बार मुझ से एक सज्जन ने प्रस्ताव किया कि आप भागवत सप्ताह बैठें। मैं ने उन सज्जन को उत्तर दिया, "मेरी कथा कौन सुनेगा?"

बात वह भी नहीं समझे तो मैं ने स्पष्ट किया, "भागवत की सच्ची कथा करने के साथसाथ मैं उस की आलोचना करने लगंगा तो किसी श्रोता में बैठने का धैर्य भी नहीं रहेगा।"

भागवत की कथा कहने वाले एक से एक धुरंधर विद्वान हैं। मेरा निवेदन है कि भागवत में वर्णित भूगोल या खगोल संबंधी एक भी बात सत्य सिद्ध कर के मेरा संशय दूर करें। ●

समाजवाद बनाम स्वतंत्रता

कुमार काश्यप

परस्पर विरोधी ढांचे एकदूसरे में फिट करने की बात धोखा नहीं है?

समाजवाद का व्यावहारिक अर्थ होता है देश की पूरी अर्थव्यवस्था का सरकार की मालिकी और नियंत्रण में होना।

समाजवादी लोग अपनी इस व्यवस्था को इसी लिए 'समाजवाद' का नाम देते हैं क्योंकि उन के विश्वास के अनुसार इस के अंतर्गत देश की अर्थव्यवस्था पर पूरे समाज का नियंत्रण रहता है। सरकार अवश्य जनता के वयस्क मताधिकार द्वारा चुनी जाती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जहां देश की अर्थव्यवस्था पर सरकार का नियंत्रण है वहां खुद सरकार पर जनता का नियंत्रण है, और इस प्रकार परोक्ष रूप से देश की अर्थ-व्यवस्था पर भी जनता का ही नियंत्रण हुआ।

लेकिन क्या वास्तव में यह बात सही है? क्या समाजवाद में अर्थात् जिन देशों में समाजवादी व्यवस्था है, वहां सरकार पर जनता का नियंत्रण रहता है? इस सवाल को जरा गहराई तक और निष्पक्षता के साथ देखना चाहिए।

समाजवादी व्यवस्था में भी नियत अवधियों के बाद आम चुनाव होते हैं, यह सही है, लेकिन उस में आम लोगों को यह अधिकार कहां होता है कि वे जिन्हें चाहें अपने प्रतिनिधियों के रूप में चुन सकें! वहां तो केवल एक राजनीतिक दल कम्युनिस्ट पार्टी होती है और उस

की केवल एक ही विचारधारा होती है और एक ही कार्यक्रम। बस उसी एक दल के उम्मीदवार चुनावों में खड़े हो सकते हैं या खड़े किए जाते हैं। ऐसी हालत में जनता के सामने किसी ऐसे निर्णय का सवाल कहां आता है कि वह उन उम्मीदवारों और उन के कार्यक्रम को ही पसंद करती है, अथवा किन्हीं अन्य लोगों और उन के कार्यक्रमों को?

हो सकता है कि जनता केवल उस एक दल—कम्युनिस्ट दल—के उम्मीदवारों को ही पसंद करती हो और कम्युनिस्ट कार्यक्रम को ही अपने लिए हितकर समझ कर अपने सारे वोट उस के उम्मीदवारों के हक में डालने के लिए तैयार हो। लेकिन इस बात का प्रमाण तब तक कैसे मिल सकता है जब तक कि उस एक दल के उम्मीदवारों के मुकाबले पर किसी अन्य दल के उम्मीदवार भी खड़े न हों?

कहने का तात्पर्य यह है कि जनता को सिद्धांत रूप में और व्यवहार में, अर्थात् दोनों ही तरह से, यह अधिकार प्राप्त रहना चाहिए कि वह कई विकल्पिक कार्यक्रमों में से किसी एक को तरजीह दे। तरजीह का अर्थ ही यह है कि एक विकल्प को दूसरे पर प्राथमिकता दी जाए और ऐसी प्राथमिकता केवल उसी अवस्था में दी जा सकती है जब कि कम से कम दो विकल्प सामने हों। लेकिन जहां चुनाव ही केवल एक उम्मीदवार का होता है

वहाँ चुनावों का आयोजन हुआ। जिद्दतान्दे से वास्तव में जनता समाजवाद की तरजीह दे, चुनावों से जो एकदलीय सरकार बनी रहती है, उस पर जनता के नियंत्रण का सवाल कैसे पैदा होता है?

जनता जब इस सरकार को हटा नहीं सकती और उस के स्थान पर किसी अन्य सरकार को नहीं ला सकती तो फिर सरकार पर जनता का नियंत्रण कैसे हुआ? भले ही जनता सरकार को न हटाए, लेकिन हटाने का अधिकार तो उसे प्राप्त रहना चाहिए। और जब सरकार पर जनता का ऐसा नियंत्रण नहीं है तो फिर देश की जिस अर्थव्यवस्था पर उस सरकार का नियंत्रण है, उस पर भी जनता का कोई नियंत्रण नहीं होगा।

स्वतंत्रता का हनन

इस प्रकार समाजवाद में जनता की जिस पहली स्वतंत्रता का हनन होता है, वह है उस की यह राजनीतिक स्वतंत्रता या लोकतांत्रिक स्वतंत्रता कि वह अपने बहुमत से अपनी इच्छा व पसंद के अनुसार किसी सरकार का चुनाव करे। दूसरे शब्दों में, समाजवाद में पहली हत्या होती है लोकतंत्र की। ऐसी स्थिति में यह कहना बिलकुल असंगत है कि कोई 'लोकतंत्रीय समाजवाद' भी हो सकता है अथवा समाजवाद में लोकतंत्र बना रह सकता है। वास्तव में दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। लोकतंत्र का अर्थ है जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता और समाजवाद का अर्थ है जनता की राजनीतिक दासता। इसलिए यदि समाजवाद है तो लोकतंत्र नहीं होगा और यदि लोकतंत्र है तो समाजवाद नहीं हो सकता, क्योंकि कोई ऐसी मूढ़ जनता नहीं हो सकती जो स्वतंत्रता के रहते जानबूझ कर दासता का पट्टा अपने गले में डाले!

इसलिए हम ने पीछे एक तक के रूप में जो यह कल्पना प्रस्तुत की कि हो सकता है, समाजवाद में खुले चुनाव होने

वह सचमुच केवल एक कल्पना ही थी। वास्तव में जनता समाजवाद की तरजीह नहीं देगी, और इसी लिए समाजवाद में एक कम्युनिस्ट दल के सिवा और कोई दल जिंदा नहीं रहने दिया जाता। यदि कम्युनिस्टों को यह विश्वास होता कि वे खुले चुनावों में भी जनता का बहुमत प्राप्त कर सकते हैं तो वे अपनी व्यवस्था में अन्य दलों को समाप्त कर के अकारण ही बदनामी क्यों मोल लेते? तथ्य यह है कि उन्हें खुले चुनावों में जनता का समर्थन प्राप्त होने की उम्मीद ही नहीं होती।

इसी लिए वे किसी प्रकार सत्ता पर अधिकार जमाते ही सब से पहला काम यह करते हैं कि अन्य तमाम दलों का सफाया कर देते हैं, अर्थात् वे लोकतांत्रिक स्वतंत्रता की हत्या कर देते हैं। यह सब चेकोस्लोवाकिया पर रूस के हाल में किए गए सशस्त्र आक्रमण और कब्जे से सिद्ध भी हो गया है। चेकोस्लोवाकिया के नेता व जनता धीरे-धीरे स्वतंत्र चुनाव की ओर बढ़ रहे थे, यह रूस को असह्य था क्योंकि वह जानता था कि राजनीतिक स्वतंत्रता के आते ही कम्युनिस्ट शासन समाप्त हो जाएगा।

समाजवाद से दूसरी हानि होती है आर्थिक स्वतंत्रता का नाश होने के रूप में। समाजवाद में क्योंकि देश की पूरी अर्थव्यवस्था सिर्फ एक दल की अपरिवर्तनीय सरकार के अधिकार में रहती है, इसलिए सारी जनता उस एक दल व उस की सरकार की मुखापेक्षी हो कर रह जाती है। जनता की रोजीरोटी, वृत्ति-व्यवसाय, आवास, यात्रा आदि सब कुछ सरकार की कृपा पर निर्भर हो जाता है। ऐसी हालत में कोई व्यक्ति या समुदाय सरकार का विरोध कर के या उसे अपना विरोधी बना कर कैसे जिंदा रह सकता है! क्योंकि सब साधन सरकार के हाथ में होते हैं, इसलिए व्यक्ति अपना कोई काम कर ही नहीं सकता। वह अपनी

इच्छा नहीं अपना सकता। खेतों या मिलकार-
खाने की तो बात ही क्या, देश की दुकानें
और खोमचे तक सरकार के होते हैं!
इसलिए ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति दुकान-
दारी भी नहीं कर सकता।

सरकार जिस आदमी को जहां लगा
दे और जिस वेतन पर लगा दे, उसे वहीं
और उसी वेतन पर चुपचाप काम करना
पड़ता है। फिर इस व्यवस्था में किसी
किसी मजदूरसभाई गतिविधि या वेतन
और सुविधाएं बढ़वाने के लिए किसी
प्रदर्शन अथवा हड़ताल की भी गुंजाइश
नहीं होती। ऐसा आंदोलन चलाने वालों
को घांघां तुरंत गोली से उड़ा दिया जाता
है या किसी दूरस्थ स्थान पर सश्रम
कारावास की सजा भुगतने के लिए भेज
दिया जाता है।

विपरीत नियंत्रण

इस से वास्तव में सरकार पर जनता
का नियंत्रण रहने की बजाए उल्टे जनता
पर ही सरकार का पूर्ण नियंत्रण हो
जाता है। क्योंकि यह तो एक सीधा
नियम है कि जो रोजी देगा वह नियंत्रण
भी करेगा। क्योंकि समाजवाद में केवल
सरकार के नौकर होते हैं, इसलिए सरकार
ही एकमात्र नियंत्रक हो जाती है। ऐसी
हालत में किसी व्यक्ति की आर्थिक
स्वतंत्रता का सवाल ही कहां पैदा हो
सकता है?

इस हालत में हमें एक अन्य सवाल
का जवाब भी मिल जाता है। उस की
चर्चा हम ने पीछे नहीं की थी। वह यह
कि जब समाजवाद में भी मतदाताओं को
यह अधिकार रहता है कि वे अपने वोट
को बेकार जाने दे कर अथवा नकारात्मक
वोट डाल कर सरकारी उम्मीदवार को
भी जीतने न दें (उम्मीदवार तो, जैसा
कि बताया गया, एक ही होता है) तो वे
सरकार के खिलाफ इस हथियार का

प्रयोग क्यों नहीं करते? इस का उत्तर यह
है कि वे ठीक उसी कारण सरकार के
खिलाफ नकारात्मक वोट नहीं डालते,
जिस कारण कोई नौकर अपने मालिक
के हितों को नुकसान नहीं पहुंचाता—
अर्थात् परिणामों के भय से। समाजवाद
में क्योंकि सारी जनता सरकार की नौकर
होती है इसलिए वह सरकार के खिलाफ
वोट नहीं देती। हां किसी दूसरे दल की
सरकार बनने की संभावना हो तो बात
दूसरी है। लेकिन ऐसी संभावना वहां होती
ही नहीं है!

जनता की तीसरी स्वतंत्रता जो उप-
र्युक्त दो स्वतंत्रताओं के हनन के साथ
ही खत्म हो जाती है, विश्वासों और
विचारों की स्वतंत्रता, यानी विवेक की
स्वतंत्रता है। समाजवाद में भी लोगों के
मन में तरहतरह के विचार उठ सकते हैं
और अलगअलग लोगों के विभिन्न विश्वास
व आदर्श हो सकते हैं। लेकिन ऐसे विचारों
और आदर्शों का क्या फायदा जिन्हें
निर्भयता के साथ व्यक्त न किया जा
सके या जिन्हें सार्थक न बनाया जा
सके?

समाजवाद में जैसे पूरी अर्थव्यवस्था
सरकार के नियंत्रण में होती है, वैसे ही
रेडियो, टेलीविजन, तमाम छापेखाने, पत्र-
पत्रिकाएं, प्रकाशन संस्थाएं और पुस्तकें
भी केवल सरकार के नियंत्रण में रहती
हैं। इसलिए सरकार के विचारों से मेल
न खाने वाली किसी विचारधारा या नए
सिद्धांत का वहां प्रकाशन व प्रसारण
लगभग असंभव है। फिर अन्य सारे साधन
भी क्योंकि सरकार के हाथ में रहते हैं,
इसलिए सरकार से भिन्न विचारधारा
का कोई सार्वजनिक मंच भी अस्तित्व में
नहीं आ सकता। आखिर एक जलसा करने
के लिए भी एक हाल या मंदान, एक
लाउडस्पीकर और बिजली आदि की
व्यवस्था करनी होती है।

समाजवादी व्यवस्था में चीजें सरकार
की अनुमति के बिना किसी को नहीं मिल

सकतीं, और सरकार किसी विरोधी अथवा भिन्न विचारधारा के प्रचार के लिए ये सुविधाएं भला क्यों देगी! इस प्रकार समाजवाद में किसी अन्य विचारधारा के प्रचार की गुंजाइश ही नहीं रहती। यह स्थिति यानी जनता की साधनहीनता, भी समाजवाद में किसी अन्य दल या सरकार विरोधी सभासंस्था के जन्म न लेने का एक कारण बनती है। हां गुप्त संस्थाओं की बात अलग है। लेकिन जाहिर है वे भी इतनी साधनहीन होंगी कि जनता पर उन का प्रभाव न होने के बराबर होगा।

विचार अभिव्यक्ति से असुरक्षा

अब रह गई व्यक्तिगत रूप से विचारों के मौखिक प्रचार की बात। तो उस में भी सौ तरह की रुकावटें और खतरे हैं। सब से बड़ा खतरा तो मालिक यानी सरकार के नाराज हो जाने का ही है। ऐसी स्थिति में केवल रोजी से ही बंचित होना पड़ेगा और किसी कारागार में दिन काटने होंगे। इस का प्रमाण वह सलूक है जो समाजवादी देशों में स्वतंत्र विचार व्यक्त करने वाले कितने ही लेखकों, कवियों व अन्य बुद्धिजीवियों के साथ किया जाता रहा है। रूसी कवि व उपन्यासकार बोरिस पास्तरनाक से ले कर लिट्विनोव तक ऐसे उतपीड़ित बुद्धिजीवियों की सूची बहुत लंबी है। यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि समाजवाद में प्रतिपत्नी के लिए भी एक-दूसरे के आगे स्वतंत्र विचार व्यक्त करना बड़े जोखिम का काम हो जाता है। कौन जाने, दोनों में से कौन सरकार से अधिक भयभीत हो और अपने को सुरक्षित करने के लिए दूसरे को पकड़वा दे!

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवाद में न जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता यानी लोकतंत्र सुरक्षित रहता है, न

आर्थिक स्वतंत्रता अर्थात् सुखसमृद्धि प्राप्त करने का मानवी अधिकार। बौद्धिक या वैचारिक स्वतंत्रता तो रहती ही नहीं। सच यह है कि समाजवाद में पारिवारिक स्वतंत्रता भी शेष नहीं रहती। उस में भी सरकार का सीधा हस्तक्षेप हो जाता है।

समाजवाद के समर्थक यह दलील देते हैं कि समाजवाद जनता को धर्म के अंधविश्वासों व रूढ़िवादी बेड़ियों से मुक्त कर देता है, वह जनता को विज्ञानोन्मुख बनाता है और आधुनिक बुद्धि व समझ से परिचित कराता है। यह बात सही हो सकती है, लेकिन आपत्ति यह है कि समाजवाद जहां पुराने धर्मों के अंधविश्वासों और रूढ़िवादी आडंबरों का भंडाफोड़ करता है, वहां वह खुद अपने वैचारिक पक्ष यानी मार्क्सवाद के रूप में अपनेआप में एक नया धर्म बन जाता है।

मार्क्सवाद की मुक्ति दिलाने वाली भूमिका स्वीकार की जा सकती थी, बशर्ते कि वह इस मुक्ति के साथ ही इनसान का यह अधिकार भी मानता कि समाजवाद में स्वयं मार्क्सवाद की भी आलोचना की जा सकती है। लेकिन जब समाजवाद में व्यक्ति का कोई ऐसा अधिकार नहीं माना जाता तो फिर मार्क्सवाद का स्थान भी लगभग वैसे ही हो जाता है, जैसा कि किसी पुराने धर्म की जगह लेने वाले किसी नए धर्म का होता है। मतलब यह कि पुराने सभी धर्मों की तो खूब आलोचना करो पर खुद इस नए धर्म की आलोचना मत करो! इस प्रकार समाजवाद में अंधविश्वास से मुक्ति मिलने का जो दावा किया जाता है वह अपनेआप ही गलत सिद्ध होता है। इस व्यवस्था में स्वयं मार्क्सवाद ही सब से बड़ा अंधविश्वास बन जाता है। वास्तव में वह एक नया धर्म ही होता है।

दूसरी दलील यह दी जाती है कि समाजवाद जनता की रोटोरोजी के मसले को हमेशा के लिए हल कर देता है, क्यों-

कि ऐसी व्यवस्था में सारी जिम्मेदारी सरकार पर आ पड़ती है, इसलिए यह यथासंभव सब को रोजगार देने और जिंदा रखने पर बाध्य होती है। इस से समाजवाद के अंतर्गत आम जनता को बेकारी, बीमारी, बुढ़ापे और भुखमरी के खिलाफ एक सहारा मिल जाता है, आदि।

जवाब मैं एक बात तो यही कही जा सकती है कि ऐसा ही आश्वासन लोकतंत्र में भी संभव है, लेकिन यहां सिर्फ इतना ही कहना काफी होगा कि क्या एक पूरे समाज की जिंदगी सिर्फ रोटीरोजी को सुरक्षित करने तक ही सीमित होती है? क्या रोटी खा लेने के बाद इनसान को और किसी चीज की जरूरत नहीं होती? यदि भरपेट या अधपेट भोजन ही सब कुछ होता तो न जेलखाने से कैदी भागते और न चिड़ियाघरों से शेर। कहने-का मतलब यह है कि इनसान को सब से ज्यादा अपनी आजादी प्यारी होती है और यदि उसे हालात के अनुसार बदलना है, तो भी वह आजादी के साथ ही बदलना चाहता है। वह अपने ऊपर जोरजबरदस्ती को किसी हालात में भी पसंद नहीं करता।

वादा दासता में रोटी का

सवाल फिर यह है कि समाजवाद आखिर चलता कैसे है? यह व्यवस्था यदि इतनी ही दमनकारी है तो आज दुनिया के इतने देशों में जनता की एक बड़ी संख्या इस की खातिर इतनी बहादुरी के साथ कैसे लड़ रही है? इस का उत्तर यह है कि गरीब समाजों और गरीब देशों में ज्यादातर लोगों को दरअसल केवल रोटीरोजी का आश्वासन ही अपेक्षित होता है। समाजवाद क्योंकि इस आश्वासन का वादा करता है, इसलिए वे उस की ओर झुक जाते हैं। समाजवाद का यह कायदा केवल 'दासता में रोटी' का वादा होता है। लेकिन क्योंकि गरीब देशों में

जनता का बहुत बड़ा भाग पहले ही से किसी न किसी प्रकार की दासता से ग्रस्त रहता है—चाहे वह दासता केवल गरीबी की हो जयवा धर्म की, या दमन व शोषण की—इसलिए उन्हें इस से कोई खास फर्क नहीं पड़ता कि वे एक दासता से निकल कर दूसरी दासता में आ गए। इस परिवर्तन से यदि उन की रोटीरोजी सुरक्षित हो जाए तो यही उन के लिए बहुत है। और न हो तो भी उन का कुछ बिगड़ता नहीं, क्योंकि यह आश्वासन उन्हें पहले भी प्राप्त नहीं था। इसी लिए गरीब लोग समाजवाद का खतरा मोल लेते हैं और इसी से समाजवाद का इलाज भी समझ में आ जाता है। वह इलाज है—गरीबी का अंत।

हां फर्क उन लोगों को पड़ता है जो आजादी के साथ सोच सकते हैं और समझ सकते हैं, अपने जीवन का लक्ष्य खुद निर्धारित कर सकते हैं, नए सत्यों की खोज कर सकते हैं और नए आदर्श स्थापित कर सकते हैं। ऐसे लोग फिर समाजवाद में पैदा नहीं होते, और यदि होते भी हैं तो उन्हें पनपने का मौका नहीं दिया जाता। यही कारण है कि समाजवाद का कोई विकास नहीं होता, वह आगे नहीं बढ़ता। मानव समाज को आगे ले जाने का काम केवल वही लोग कर सकते हैं जो स्वतंत्रता के साथ सोच सकें और नए सत्यों का पता लगा सकें। मार्क्स को भी अपनी नई खोज का अवसर एक लोकतंत्र (ब्रिटेन) में ही मिला था। लेकिन यह कितनी बड़ी विडंबना है कि मार्क्स के बताए हुए रास्ते पर चलने का दावा करने वाले देशों में किसी ऐसी स्वतंत्र खोज की छूट नहीं दी जाती!

समाजवाद में क्योंकि स्वतंत्र विचारों की गुंजाइश नहीं, इसलिए उस का विकास भी नहीं होता। उस की गति केवल एक ही दिशा में हो सकती है, और वह यह कि वह फिर वहीं लौट आए जहां से चला था।

यूरोप के कई समाजवादी देशों में आज यही हो रहा है। हमें फिर से धीरे और बड़ी कठिनाइयों के साथ, उसी स्थिति में वापस आ रहे हैं जिसे उन के शासकों ने तिलांजलि दी थी। मतलब यह कि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता व लोकतंत्र की स्थिति में आ रहे हैं, क्योंकि इस के बिना समाज आगे बढ़ ही नहीं सकता। इस दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ कि इन देशों ने एक प्रयोग कर के देख लिया और अपने अनुभव से सीखा कि कोरे समाजवाद से समाज की सही मानों में उन्नति नहीं हो सकती। इस से हमारे आज के समाजवादी भारत को भी सबक सीखना चाहिए।

तो फिर लोकतंत्र व समाजवाद के बीच बुनियादी फर्क क्या ठहरा? लोकतंत्र में भी जनता का बहुत बड़ा भाग दासताग्रस्त हो सकता है और समाजवाद में तो जनता दास होती ही है। फर्क सिर्फ यह है कि जहां लोकतंत्र के रहते जनता को यह स्वतंत्रता भी रहती है कि वह चाहे तो खुद उन्नति कर के अपनी दासता का अंत कर दे, वहां समाजवाद में जनता इस

स्वतंत्रता से वंचित हो जाती है कि वह किसी भी रूप में अपनी इच्छा से दासता से मुक्त हो सके।

समाजवाद में सब कुछ केवल शासकों की इच्छा पर निर्भर हो जाता है, वे नेक व ईमानदार हों तो समाजवाद भी चल सकता है, न हों तो विनाश ही समझिए। क्योंकि उस में शांतिपूर्ण परिवर्तन का कोई उपाय नहीं, जब कि लोकतंत्र में सब कुछ केवल जनता की सूझबूझ पर निर्भर होता है। नेता अच्छे मिल जाएं तो ठीक है, और न मिलें तो उन्हें बदला जा सकता है। समाजवाद में यह सुविधा नहीं।

साफ शब्दों में यों समझिए कि लोकतंत्र में जनता को यह अधिकार भी है वह चाहे तो अपनी इच्छा से समाजवाद ही स्थापित कर दे और लोकतंत्र से वंचित हो जाए, जबकि समाजवाद में जनता को यह अधिकार नहीं रहता कि वह चाहे तो फिर से लोकतंत्र स्थापित कर दे और स्वतंत्र हो जाए। इसी लिए जनता से यह आशा रखी जा सकती है कि वह लोकतंत्र के रहते अपनी पसंद से समाजवाद कभी स्थापित नहीं करेगी!

कामायनी

सुदर्शन चोपड़ा

अध्यात्म की अंधी घाटियों में भटका कर पीढ़ियों को पथभ्रष्ट करने वाली युग की तथाकथित श्रेष्ठ रचना...

हिंदी की कई छोटीबड़ी परीक्षाओं में पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकृत जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की चर्चा अब तक केवल स्कूली ढंग से ही होती आई है। उसे कभी तो किसी ने छायावादी युग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य घोषित कर दिया और कभी किसी ने दो कदम आगे बढ़ कर विश्व के सर्वोत्तम महाकाव्यों की पंक्ति में ला खड़ा किया। लेकिन सचाई इस से कोसों दूर है। गत वर्ष मैसूर की एक साहित्य गोष्ठी में अज्ञेय ने इस ओर इंगित करते हुए कहा था कि 'कामायनी' का महत्त्व केवल इस कारण है कि वह एक पाठ्यग्रंथ है। इस पर डाक्टर नगेंद्र ने राजधानी से प्रकाशित होने वाली एक साप्ताहिक पत्रिका के 17 सितंबर, '67 के अंक में 'साहित्य मंच' पर खड़े हो कर अज्ञेय को उत्तर दिया था, "प्रत्येक ग्रंथ का महत्त्व इसी लिए होता है कि वह पाठ्य ग्रंथ है।"

एक शालेय ग्रंथ

यह जवाब डाक्टर साहब ने सिर्फ अपनी स्कूली किस्म की हाजिरजवाबी जताने के खयाल से ही दिया था। इस का यह मतलब नहीं कि वह अज्ञेय का अभिप्राय नहीं समझ सके थे। इसी लिए फौरन बाद अपनी समझदारी का सबूत देते हुए वह कहने लगते हैं, "पर मैं समझता हूँ

कि...अज्ञेयजी का अभिप्राय वास्तव में क्या था। उन का अभिप्राय उन के एक परिवाचक डाक्टर प्रभाकर माचवे के शब्दों में यह था कि 'कामायनी' एक शालेय ग्रंथ है, शालेय यानी शालाओं में (विश्व-विद्यालय भी, कोलंबिया आदि एकदो विश्वविद्यालयों को छोड़ कर, जहां नए लेखक अध्यापक हो कर जाते हैं, शालाएं ही हैं।) पढ़ाया जाने वाला। हिंदी में यह शब्द नया है, पर गाली देने के लिए शायद अन्य प्रचलित शब्दों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है।

साहित्य मंचबाजी

समझ में नहीं आता कि पूरी गंभीरता और साहित्यिक ईमानदारी के साथ उठाए गए सवाल भी डाक्टर साहब को गाली वयों लगने लगते हैं, जब कि गालीगलौज की शैली में समीक्षा और 'साहित्यमंचबाजी' करने का शौक केवल उन्हें ही है, या यह कह लें कि यह उन्हीं की मौलिक शैली है।

खेद है कि गालीगलौज की शैली के बावजूद और अज्ञेय तथा माचवे पर व्यक्तिगत प्रहार कर के भी वह मूल प्रश्न का न तो तब कोई संतोषजनक उत्तर दे सके थे, न अब तक दे सके हैं। इसी लिए वह प्रश्न अभी तक ज्यों का त्यों बना खड़ा है।

जो व्यक्ति अज्ञेय सरोख लेखक का भी 'नए लेखक' कह रहा हो, वह यदि 'कामायनी' को 'कालजयी ग्रंथ' कह डाले तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। पुष्टि के लिए उद्धरण प्रस्तुत है, "यद्यपि अज्ञेयजी ने, अपने जाने, काफी भर्त्सनापूर्ण विशेषण का प्रयोग किया है, किंतु पढ़नेलिखने वालों की दुनिया में 'पाठ्यग्रंथ' शब्द किसी हीनता का वाचक नहीं है... विश्वविद्यालय में केवल कालजयी ग्रंथों को ही पाठ्यग्रंथ रूप में स्वीकार करने का विधान है। काव्य के पाठ्यक्रम में 'प्रिय प्रवास,' 'सकेत,' 'यशोधरा,' 'कामायनी,' 'उर्वशी'— निराला, पंत, महादेवी की प्रतिष्ठित कृतियाँ ही स्वीकार्य होती हैं, 'हरी घास पर क्षण भर' या 'आंगन के पार द्वार' नहीं... पाठ्यग्रंथ होना कोई हेय गुण नहीं है, वह श्रमरत्व का पर्याय है। 'कामायनी' पाठ्यग्रंथ है उसी अर्थ में... और इस पंक्ति में खड़े होने की विफल वासना ही वस्तुतः उपर्युक्त आक्षेप का कारण है।"

उन का तर्क यह है कि क्योंकि अज्ञेय पाठ्यक्रम के लेखक बनने में असफल रहे, इसी लिए इस तरह के 'कालजयी' व 'श्रमर' ग्रंथों पर आक्षेप कर रहे हैं। मजे की बात यह है कि आक्षेप के इस 'उत्तर' में 'कामायनी' संबंधी सवाल का कोई जवाब नहीं दिया गया। इधरउधर की फिजूल बातें कर के अंत में मूल प्रश्न पर मिट्टी डालने की कोशिश करते हुए डाक्टर नगेंद्र कहते हैं, "इस प्रकार उपर्युक्त आक्षेप में कोई दम नहीं है। वक्ता ने अपनी तरफ से निशाना तो काफी भर कर मारा, पर उस में बारूद नहीं, गरम रेत ही निकली। काफी दिन पहले मंसूर गोष्ठी की एक रिपोर्ट में मैं ने अज्ञेयजी के उक्त वक्तव्य का उल्लेख पड़ा था और ऐसी बहुत सी बातों की तरह इस को भूल गया था।"

खैर, डाक्टर साहब ने तो इस गाली

या गोली शैली का प्रयोग कर के मूल प्रश्न को 'भूल गया' कह कर टाल दिया, लेकिन यहाँ प्रश्न फिर उठाया जा रहा है ताकि उन जैसे भूलने वालों या भूल में रहने वालों तथा छात्र वर्ग और अन्य पाठकों को भूल में रखने का षड्यंत्र करने वालों को भी खोल कर सामने लाया जा सके।

'कामायनी' अगर कालजयी है तो केवल इसी अर्थ में कि उस का किसी देश या काल के साथ कोई संबंध नहीं। वह अगर श्रमर है तो सिर्फ इसी माने में कि अपने समय के लोगों के जीनेमरने की चिंता से एकदम मुक्त है।

कामदेव की कन्या कामायनी

इस बात को पूरी तरह समझने के लिए हम यद्यि बहुत ही संक्षेप में 'कामायनी' की कथा को एक बार फिर ध्यान में ले आएं तो सुविधा रहेगी। प्रागैतिहासिक युग की बात है कि एक बार देवताओं के विलास के कारण सृष्टि में प्रलय आ गई। हर और जल ही जल दिखाई देने लगा। देवताओं की पूरी की पूरी जाति नष्ट हो गई। बच रहा केवल एक, जिस का नाम था मनु।

मनु एक नाव में बैठ कर हिमालय के किनारे तक पहुंच गया और वहाँ एक चोटी पर बैठ कर चारों ओर प्रलयप्रवाह देखने लगा। धीरेधीरे जल का प्रवाह कम होता गया और धरती की हरियाली दिखाई देने लगी। लेकिन मनु उस सुनसान वातावरण में घबरा कर इधर-उधर भटकने लगा। भटकतेभटकते उसे एक तलहटी पर कामदेव की कन्या कामायनी दिखाई दी। उस रूपवती युवती को देख कर मनु मोहित हो गया। युवती ने अपना नाम श्रद्धा बताया। इस प्रकार मनु और श्रद्धा का मिलाप हुआ और वे दोनों पतिपत्नी बन कर वहीं विचरने लगे।

मनु द्वारा इड़ा से बलात्कार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation सदा, नवहो, सधारास, योबड़ या चेतन.

कुछ दिन बाद जब श्रद्धा गर्भवती हो गई तो मनु ने सोचा कि संतान हो जाने पर श्रद्धा का प्यार बंट जाएगा. इसलिए वह अपनी पत्नी को छोड़ कर वहां से भाग खड़ा हुआ. भागताभागता वह सारस्वत प्रदेश में जा पहुंचा. वहां सरस्वती नदी के किनारे टहलती हुई एक अत्यंत रूपवती युवती मिल गई, जिस का नाम इड़ा था. इड़ा उस देश की रानी थी. वह मनु को देखते ही उस पर मोहित हो गई. इड़ा ने अपने साथ ले जा कर सारा राजपाट उसे सौंप दिया. लेकिन मनु ने जब इड़ा के साथ सहवास करना चाहा तो उस ने मना कर दिया. इस पर मनु बलात्कार पर उतर आया.

नतीजा यह हुआ कि रानी की सेना मनु पर टूट पड़ी. मनु घायल हो कर मूर्छित हो गया. उधर श्रद्धा अब तक पुत्र को जन्म दे चुकी थी. एक रात उसे स्वप्न में घायल और मूर्छित मनु दिखाई दिया. वह पुत्र को ले कर चल पड़ी और सारस्वत प्रदेश में अपने बेहोश पड़े पति के चरणों में जा पहुंची. मनु ने जब आंखें खोलीं तो वह श्रद्धा को देख कर पागल हो उठा. उसी मनःस्थिति में वह मौका पा कर वहां से भी उठ भागा. श्रद्धा फिर से उसे खोजने निकल पड़ी. अपना पुत्र (मानव) वह इड़ा के पास छोड़ गई.

बड़ी कठिनाई के बाद आखिर एक दिन श्रद्धा ने मनु को फिर ढूँढ़ लिया. लेकिन मनु बहुत बेचैन था. उसे शांति दिलवाने के लिए श्रद्धा हिमालय की चढ़ाई चढ़ती हुई 'आनंद के अलौकिक धाम' की ओर ले चली. मनु उस 'धाम' की ओर जाते समय और भी विचलित हो गया. लेकिन श्रद्धा उसे बराबर उकसाती रही और साथसाथ लिए हिमालय पर ऊपर ही ऊपर चढ़ती चली गई. वहां पहुंच कर मनु ने जब 'आनंदलोक' के दर्शन किए तो उसे एकदम शांति मिल गई और

वह वहीं पर श्रद्धा के साथ समाधिस्थ हो गया.

अब अगर इस कहानी को सीधे तौर पर लेते हैं तो यह किसी भी तिलस्मी कहानी से हट कर नहीं लगती. लेकिन इस का तिलस्म टूटने से बचाए रखने के लिए इस पर रूपकों के साहित्यिक पेबंद लगा दिए गए हैं. मनु को मन तथा श्रद्धा और इड़ा को क्रमशः हृदय और बुद्धि के रूपक माना जाता है और ऐसा मान लेने पर पूरे काव्य में से जो बात निकलती है, वह यह कि मन जब हृदय की अवहेलना कर के बुद्धि की तरफ भागता है तो घायल और मूर्छित हो गिर पड़ता है. तब फिर से श्रद्धा ही उसे शांतिपथ पर ले जा कर उस आनंदलोक में समाधिस्थ करा सकती है जहां जड़ और चेतन में कोई अंतर नहीं होता.

अध्यात्म की अंधी घाटियों में भटकाने वाली

इस प्रकार 'कामायनी' मनुष्य को प्रगति के पथ पर ले जाने की प्रेरणा नहीं देती बल्कि पीछे ले जा कर अध्यात्म की अंधी घाटियों में भटकाने का काम करती है और अंत तक पहुंचतेपहुंचते उस की सारी चेतना समाप्त कर उसे जड़ बना डालती है.

प्रगति केवल बुद्धि के द्वारा ही संभव है और मनुष्य की प्रत्येक उपलब्धि का श्रेय केवल बुद्धि को ही जाता है. बुद्धि के कारण भले ही वह व्यग्र और अशांत क्यों न हो गया हो, लेकिन उस के हर सुख और आनंद का एकमात्र आधार यदि कोई है तो वह सिर्फ बुद्धि है. इस के विपरीत 'कामायनी' आधुनिक बुद्धिवाद के विरुद्ध पलायनवादी प्रचार है. सारस्वत प्रदेश को मशीनी सभ्यता का केंद्र दिखा कर इस ग्रंथ में मशीन युग की बुराइयां चित्रित करने का भरसक प्रयत्न किया गया है. 'कामायनी' का रचनाकार यह नहीं चाहता कि मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर के

ऊंचा उठे। इसी लिए वह मनुष्य को फिर से आदिम अस्थिति में लौटाना चाहता है। सारस्वत प्रदेश से मनु का फिर से प्रकृति की ओर भाग जाना इसी सचाई को प्रकट करता है।

‘कामायनी’ के रचयिता जयशंकर प्रसाद में यदि इतनी क्षमता होती कि अपने युग की समस्याओं को समझ कर उन्हें अपनी रचनाओं में चित्रित कर पाते तो वह मध्यकालीन पलायनवादी भवतों और साधकों की तरह रहस्यमय अलौकिक धाम की तरफ न तक कर अपने समकालीन प्रेमचंद की तरह ‘कफन’ जैसी रचनाएं लिखते।

मंचकालीन पलायनवादी सीख

अंगरेजों की गुलामी में तड़पते हुए, दानेदाने को मोहताज व कफन तक की तरसते हुए भारतवासियों को कष्टों से मुक्ति का जो उपाय ‘कामायनी’ सुझाती है वह यह कि सब कुछ छोड़छाड़ कर हिमालय की वीरानियों में जा कर जड़ हो जाओ।

वह बुद्धि ही थी जिस ने सदियों की गुलामी के विरुद्ध चेतना उत्पन्न कर देशवासियों में आजादी की तड़प भर दी थी, और वह भी बुद्धि ही है जिस ने आज उस ‘आनंदधाम’ हिमालय की हर ऊंचाई अपने पैरों से रौंद डाली है। सिर्फ हिमालय ही नहीं, बल्कि आज तो चांद तक पर मनुष्य अपनी बुद्धि के झंडे गाड़ आया है। वह भी बुद्धि ही है, जिस के कारण मनुष्य राकेट की रफतार से प्रगतिपथ पर बढ़ने लगा है, भले ही व्यग्र और चिंतित हो कर। कारण यह कि व्यग्रता और चिंता या अकुलाहट ही जीवन की पर्याय है, न कि आनंदधाम की जड़ता।

हां, यदि आगे बढ़ने की अकुलाहट छोड़ कर आदिम गुहा में चले जाना ही ‘मुक्त’ हो जाना मान लिया जाए तो वाकई कामायनीकार का यह उपदेश अनु-

करणीय है :

ले चल इस छाया से बाहर

मृग को दे न रहने यहां।

मुक्त नील नभ के नीचे,

कहीं गुफा में रह लेंगे।

बुद्धि द्वारा सत्य नहीं खोजा जा सकता

‘कामायनी’ के रचयिता की मान्यता है कि बुद्धि द्वारा कोई भी सत्य नहीं खोजा जा सकता, बल्कि उलटे बुद्धि के स्पर्श से सत्य छुईमुई की तरह सिकुड़ कर बंद हो जाता है :

और सत्य! यह एक शब्द तू,

कितना गहन हुआ है।

मेधा के क्रीड़ा पंजर का,

पाला हुआ सुआ है।

सब बातों में खोज तुम्हारी,

रट सी लगी हुई है।

किंतु स्पर्श से तर्क करों के,

बनता छुईमुई है।

दरअसल प्रसाद हर उस चीज के विरुद्ध हैं जिस का संबंध बुद्धि या प्रगति से है। उदाहरणार्थ, ग्रामीण सभ्यता विकसित हो कर शहरी या महानगरीय सभ्यता में ढलने लगी है तो प्रसादजी इसे भी मनुष्य की अवनति मानते हैं। इन्हीं के एक नाटक ‘एक घूंट’ का पात्र विवेक एक जगह कहता है, “तुम लोगों ने नगर बना कर धोखे की टट्टियों और जालों का प्रस्तार किया है। तुम्हीं मुंह के बल गिरोगे। लौट चलो नैसर्गिक जीवन की ओर...” ‘कामायनी’ के सारस्वत नगर की तबाही दिखा कर भी प्रसादजी ने इसी विचार को प्रकट किया है।

‘कामायनी’ में श्रद्धा के द्वारा व्यग्र-मना मनु को शांति दिलवा कर जिस बुद्धिविरोधी दर्शन को प्रतिपादित किया गया है वह भी प्रसाद की कोई मौलिक सूझ नहीं। श्रद्धा सृष्टि के मूल में काम-देव की पुत्री के रूप में पुराणों में चित्रित है और त्रिपुरा रहस्य के अनुसार भी श्रद्धा

ही मानव को सुखी बना सकने की साधिका शक्ति के रूप में वर्णित है। पुराणों के अनुसार भी 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' अर्थात् श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

कामायनी की घटनाएं पुराणों की नकल

'कामायनी' में प्रलय का वर्णन भी 'शतपथ ब्राह्मण' के पहले कांड के आठवें अध्याय से लिया गया है। इसी तरह देवसृष्टि वर्णन 'ब्रह्मपुराण', 'पद्मपुराण' और 'विष्णुपुराण' से लिया गया है। इडा और मनु के मिलन की घटना, इडा पर मनु का मोहित होना और इस पर देवताओं का कोपभाजन बनना आदि घटनाएं भी 'शतपथ' से ज्यों की त्यों ले ली गई हैं। मतलब यह कि 'कामायनी' की ज्यादातर घटनाएं पुराणों में हबूह मिल सकती हैं।

केवल घटनाएं या वर्णन ही नहीं, बल्कि 'कामायनी' के कवि के विचार भी मौलिक नहीं हैं। वही दकियानुसी अंध-भक्ति वाले पौराणिक विचार पूरे ग्रंथ में भरे पड़े हैं। नारी को सेवा, त्याग और करुणा की मूर्ति के रूप में चित्रित करना प्रसाद की नारी विषयक गतायु धारणा को ही व्यक्त करता है। पूरे काव्य में नारी का क्रंदन करता और पुरुष के पीछे भागता हुआ रूप दिखाई पड़ता है। वह निरीह अबला की तरह निर्मोही पुरुष के लिए अधीर रहने और आसू बहाने में ही अपने नारीत्व को सार्थक मानती हुई कहती रहती है, "रुक जा सुन ले ओ निर्मोही..."

प्रसाद नारी का कोई भी अन्य रूप मानने के लिए तैयार नहीं। वह खुल कर कहते हैं, "नारी तुम केवल श्रद्धा हो!"

जीर्ण पुरातन संस्कारों से ग्रस्त प्रसाद की दृष्टि में नारी का आदर्श चित्र है :

वैसे में माया में लिपटी,
अधरों पर अंगुली धरे हुए,

माधव के सरस कौतूहल को,
आखों के तूलापानी चन्देरी

पुरातन संस्कारों से ग्रस्त नारी

'कामायनी' के कवि की रहस्यवादी जीवनदृष्टि भी वही उपनिषद्गुणी है। "नम के पीछे से करता है कौन इशारे," कहकह कर प्रसाद आसमान में छिपे हुए भगवान की तरफ आंखें लगाए रहते हैं। वह न तो खुद कोई विचार करना चाहते हैं और न किसी और को अपनी बुद्धि या विचार के आधार पर सत्य की खोज करने देना चाहते हैं। उन का मत है कि सत्य तो केवल भगवान है और भगवान को कोई जान नहीं सकता। अतः सत्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, कभी कोई निश्चय के साथ नहीं कह सकता :

हे अमृत स्मरणीय कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो, क्या हो, इस का तो
भाव विचार न सह सकता।

इस के विपरीत बुद्धिवादी ऐसे किसी रहस्य में विश्वास करना मनुष्य का अपमान समझता है। वह प्रसाद की तरह यह नहीं मानता कि मशौनों ने मनुष्य का जीवन जर्जर बना डाला है :

प्रकृति शक्ति तुम ने
यंत्रों से सब की छोनी,
शोषण कर जीवनी
बना दी जर्जर झोनी।

शैव संस्कृति के आनंद तत्त्व की फिर से स्थापना करते हुए 'कामायनी' के 'संघर्ष सर्ग' में प्रसाद ने वैज्ञानिक आविष्कारों से बनी संस्कृति का ह्वास दिखा कर यह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है कि मनुष्य में मनुष्यता समाप्त कर डालने का उत्तरदायित्व विज्ञान पर है। प्रसाद तो यह उपदेश देते प्रतीत होते हैं कि अज्ञान के उसी गर्त में पड़ेपड़े विधि के अभिशाप भोगते रहो, क्योंकि जिन्हें मनुष्य अभिशाप समझता है वह ईश्वर का

रहस्य वरदान है :

जिसे उस समझते हो अभिशाप,
जगत का ज्वालाओं का मूल.
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इस को भूल.

नियतिवादी बनाने का प्रयास

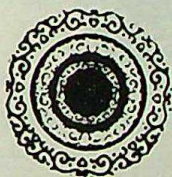
प्रसाद यह मानते हैं कि मनुष्य को नियतिवादी बन कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना चाहिए क्योंकि नियति बहुत ही शक्तिशाली है. वह मानते हैं कि जो नियत हो चुका है, वह तो हो कर रहेगा ही और जो होना होगा उस के लिए साधन भी अपनेआप ही जुट जाएंगे!

दरअसल 'कामायनी' का पूरा कथानक ही कवि के नियतिवाद को प्रमाणित करता दिखाई पड़ता है. जो कुछ भी घटता है, सब देवयोग से. प्रलय होती है तो मनु देवयोग से बचा रहता है. श्रद्धा उस से मिलती है तो भी इत्तफाक से. इड़ा की मनु से भेंट भी अकस्मात् होती है. फिर घायल मनु के पास उस की पत्नी भी देवयोग से ही पहुँचती है. यों वह खुल कर नियति का प्रचार करने से भी नहीं चूकते, "नियति चलाती कार्यचक्र यह." तथा "कर्मचक्र सा घूम रहा है, यह गोलक,

बन नियति प्रेरणा."

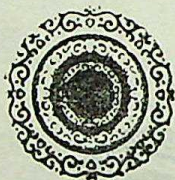
रही बात कवि के रचना सौंदर्य तथा शला की, सो इतने सारे उद्धरणों से स्वयं ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार की तुकबंदी को किस तरह सृजनात्मक साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नमूना मान लिया जाता है और उस के पक्ष में ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण बातें भी कह दी जाती हैं कि यह 'कालजयी' तथा 'अमर' साहित्यिक कृति है!

इस उक्ति में कुछ भी संदेह नहीं किया जा सकता कि 'कामायनी' केवल इसलिए प्रसिद्ध हो गई क्योंकि वह कुछ पुरानपंथी प्राध्यापकों के षडयंत्र के फल-स्वरूप हिंदी की उच्चतम कक्षाओं के पाठ्यक्रम में लगवा दी गई और अभी तक भी बराबर लगी चली आ रही है यद्यपि केवल एक 'कामायनी' की ही बात नहीं, 'प्रियप्रवास,' 'साकेत,' 'यशोधरा,' 'उर्वशी' आदि जितने भी ग्रंथों को 'कालजयी' मान कर हिंदी छात्रछात्राओं के मध्ये मढ़ा गया है वे सब के सब एक सिरे से हटा दिए जाने चाहिए. ऐसेऐसे पाठ्यग्रंथों के कारण ही हिंदी का विकास रुका पड़ा है. हिंदी छात्रों का मानसिक विकास अवरोध करने का सारा दायित्व इस तरह के 'कालजयी' ग्रंथों पर ही है. ●



हिंदू
विवाह पद्धति

मूल आधार :
शुक्ल यजुर्वेद
वाजसनेयी शाखा



वर स्वागत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विवाह के समय मंडप में पहुंचने पर कन्या का पिता वर के माथे पर तिलक करे. बैठने के लिए आसन दे.

वर वेदी में अग्नि जलाए.

कन्या मंडप में लाई जाए.

वर कन्या को दाएं ओर बैठा ले.

वर : "उपस्थित विद्वानो, आप हम दोनों की उपयुक्तता को स्वीकार करने तथा हम दोनों के विवाह में सहयोग देने की कृपा करें."

(समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ ।

सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ॥)

कन्यादान

वर के दाएं ओर कन्या का पिता और उस के दाएं ओर कन्या की मां बैठे.

कन्या का पिता और कन्या की मां मिल कर वर के दाएं हाथ में कन्या का दायां हाथ दें.

कन्या का पिता : "मैं गुणावगुण परख कर इस तेजस्वी कन्या को आप के हाथ सौंपता हूं. मेरा विश्वास है, आप इस के संरक्षण व संभरण में पूर्ण समर्थ हैं. आप इसे स्वीकार करें."

(दाताऽहं वरुणो राजा द्रव्यमादित्यदैवतम् ।

वरोऽसौ विष्णुरूपेण प्रतिगृह्णात्वयं विधिः ॥)

वर कन्या का हाथ ग्रहण करते हुए कहे : "तुम्हारे तेजस्वी पिता तुम्हें मेरे हाथ सौंप रहे हैं. मैं पूर्ण सजग हो कर दृढ़ संकल्प के साथ तुम्हें स्वीकार करता हूं."

(द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णातु ।)

कन्या वर के गले में फूल माला डाले.

वर कन्या से : "अब तक तुम्हारा प्रेम अपने पिता के परिवार से रहा. अब क्योंकि तुम्हारे पिता ने तुम्हें मुझे सौंप दिया है, अतः अब तुम इस प्रेम को विस्तृत कर के पति कुल में लगाओ.

(यदैपि मनसा दूरं दिशोनु पवमानो वा ।

हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु ॥)



करो. हमारा तुम्हारा संबंध अविच्छिन्न रहे.

(अनेहमस्मि सौख्यं सौख्यं त्वमस्मि अहम् ।
सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ॥)

“हम दोनों मिल कर इस विवाह बंधन में बंध रहे हैं. हमारे मिलन से कुल की वृद्धि हो.”

(तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै ।

प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान्विन्दावहै बहून् ॥)

“हम दोनों दीर्घायु हों, एकदूसरे के प्रिय बने रहें तथा सौ वर्ष तक ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से सब प्रकार स्वस्थ रहें.”

(ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू मुमनस्यमानौ ।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम् ॥)

वर वेदी के उत्तर की ओर रखे पत्थर पर वधू का दायां पैर रखाए.

वर : “हे पत्नी, तुम जिस पत्थर पर खड़ी हो, उसी के समान दृढ़ बनो तथा विरोध की उपेक्षा कर के दृढ़ता से अपने कर्तव्यों का पालन करो.

(आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव ।

अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥)

“हे पत्नी, तुम सदा सौभाग्यशालिनी रहो तथा आदर्श नारी बन कर अपने अच्छे कामों से संसार में सुयश प्राप्त करो. तुम अन्नपूर्णा हो. ज्ञान में तुम्हारा प्रेम निरंतर बना रहे.”

(सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति ।

यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ॥

यस्या भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् ।

तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥)

वधू पत्थर पर से पैर हटा ले.

परिक्रमाएं

आगेआगे वधू और उस के पीछे वर अग्नि की तीन परिक्रमा करें.

चौथी परिक्रमा में वर आगे और वधू पीछे रहे.

सप्तपदी

वर वधू को दक्षिण से उत्तर की ओर सात पग चलाए.



वर : "तुम अपना पहला पग आगे बढ़ाओ. मैं तुम्हारा अभीष्ट

पूरा करूंगा.

(एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु ।)

वधू : "यदि आप मेरा अभीष्ट पूरा करना चाहते हैं तो घर के सभी धन, धान्य, मिष्टान्न, व्यंजन आदि मेरे अधीन कर दें."

(धनं धान्यं च मिष्टान्नं व्यंजनाद्यं च यद् गृहे ।

मदधीनं हि कर्तव्यं वधूराद्यपदे वदेत् ॥)

वर : "तुम अपना दूसरा पग आगे बढ़ाओ. मैं तुम्हें बल प्रदान करूंगा."

(द्वे ऊर्जं विष्णुस्त्वा नयतु ।)

वधू : "अगर आप मुझे बल प्रदान करेंगे तो मैं भी आप के कुटुंब को पुष्ट करती हुई उस की वृद्धि करूंगी. सभी से मीठा बोलूंगी. दुख में धैर्य रखूंगी. सुख में हर्ष प्रकट करूंगी."

(कुटुम्ब प्रथयिष्यामि ते सदा मञ्जुभाषिणी ।

दुःखे धीरा मुखे हृष्टा द्वितीये सा वदेद्वचः ॥)

वर : "तुम अपना तीसरा पग आगे बढ़ाओ. मैं धन से तुम्हारा पोषण करूंगा."

(त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु ।)

वधू : "मैं भी आहारविहार में आप ही के साथ रहूंगी तथा अपना सर्वस्व केवल आप को समर्पित करूंगी."

(तव भक्तिरता नित्यं त्रीडिष्यामि त्वया सह ।

त्वदन्यं न नरं मन्ये तृतीये सा वदेद्वचः ॥)

वर : "तुम अपना चौथा पग आगे बढ़ाओ. मैं तुम्हें सदा सुखी रखूंगा."

(चत्वारि मयोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु ।)

वधू : "मैं भी साजसज्जा, अलंकार आदि आप के लिए ही धारण करूंगी और आप को सब प्रकार से प्रसन्न रखूंगी."

(लालयामि च केशान्तं गन्धमालयानुलेपनैः ।

काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदे वदेत् ॥)

वर : "तुम अपना पांचवां पग आगे बढ़ाओ. मैं तुम्हारे सहयोग से अपने व्यवसाय को आगे बढ़ाऊंगा."

(पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ।)



वधू : "मैं भी संपूर्ण मन से सुखदुःख में आप का साथ दे कर हर संभव सहयोग प्रदान करूंगी।

(आते आती भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी ।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत् ॥)

वर : "तुम अपना छठा पग आगे बढ़ाओ. मैं तुम्हारे साथ समयानुकूल आचरण करूंगा. तुम भी सदा समयानुकूल आचरण करने का संकल्प करो."

(पङ् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ।)

वधू : "हां, मैं ऐसा ही करूंगी, कर्तव्य पूरा करने में सदा आप के साथ रहूंगी."

(यजे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह ।)
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः पठे पदे वदेत् ॥)

वर : "तुम अपना सातवां पग आगे बढ़ाओ. मेरे अनुकूल रह कर तथा अच्छे काम कर के यशस्विनी बनो."

(सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु ।)

वधू : "विद्वानों की साक्षी मैं आप मेरे पति हो चुके हूं. आप मुझ पर पूरा विश्वास रखें. मैं आप के साथ ही कर्तव्यपालन में सुख का अनुभव करूंगी."

(सर्वेऽत्र साक्षिणस्त्वं हि मम भर्तृत्वमागत ।
वञ्चनं नं करिष्यामि सप्तमे सा वदेत्पदे ॥)

सप्तपदी से लौट कर वर दाएं ओर, वधू वर के बाएं ओर बेंटे.



सिद्धर दान

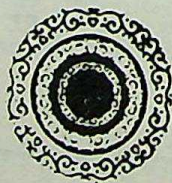
वर वधू के दाएं कंधे पर अपना बायां हाथ रख कर दाएं हाथ से उस का हृदय स्पर्श करता हुआ कहे :

"मैं तुम्हारी भावनाओं का पूरा ध्यान रखूंगा, तुम्हारा मन भी सदा मेरे मन के अनुकूल रहे. तुम अब मेरे लिए हो, जो कुछ मैं कहूँ करना."

(मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमता जुंषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥)

वर वधू की मांग व माथे पर सिद्धर लगाए.

वरवधू उपस्थित व्यक्तियों का अभिवादन करें व उन से आशीर्वाद



सरिता, दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली

पुत्रेष्टि यज्ञ

बसंत चटर्जी

क्या दशरथ पूर्णरूप से स्वस्थ और संतान उत्पन्न करने योग्य थे? अगर थे तो फिर पुत्रेष्टि यज्ञ का अभिप्राय क्या था?

वाल्मीकि 'रामायण' के बाल कांड में अयोध्यापति दशरथ द्वारा संतान की प्राप्ति के लिए किए गए अश्वमेध यज्ञ व पुत्रेष्टि यज्ञ का जो वर्णन आता है (बाल कांड, सर्ग 9 से सर्ग 17 तक), उस का अर्थ समझने के लिए हमें सब से पहले उस काल के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश को समझना होगा, जिस के अंतर्गत वे यज्ञ कराए गए. किसी भी संकेत या चर्चा का सही तात्पर्य तत्कालीन देशकाल के संदर्भ में ही समझा जा सकता है.

देशकाल के संदर्भ से पृथक हो कर न तो किसी शब्द का कोई निश्चित अर्थ रहता है और न कोई उल्लेख ही माने रखता है. उदाहरण के लिए आज की हिंदुस्तानी भाषा में प्रचलित एक जाना-माना शब्द है 'जुलूस'. आज इस शब्द का मान्य अर्थ है: कुछ लोगों का झंडेझंडियां उठा कर किसी आशय का उद्घोष करते हुए सार्वजनिक पथों पर चलना. लेकिन तीन सदी पूर्व, मुगलकाल में, इस फारसी शब्द का अर्थ था : मुगल युवराज (वलीएहद) का सिंहासनावृद्ध होना और उस उपलक्ष्य में उन दिनों प्रति वर्ष मनाए जाने वाले समारोह—सवारी, विशेष दरबार, खेलतमाशे और दान आदि के कार्यक्रम. तब 'जुलूस का बारहवां साल' का मतलब होता था 'बादशाह के शासन काल का बारहवां वर्ष.'

ऐसे ही एक संस्कृत शब्द है 'यज्ञ'.

इस का शब्दार्थ तो सीधा है, अर्थात् 'प्राप्ति के लिए किया जाने वाला प्रयास.' किस चीज की प्राप्ति के लिए? जाहिर है उसी चीज की जिस की अपेक्षा यज्ञ करने वालों को रहती थी, अर्थात् पशुधन व संतानधन की. तो 'यज्ञ' का अर्थ हुआ 'संगठित हो कर पशुधन व संतानधन की प्राप्ति के लिए जो प्रयास किया, जो परिश्रम किया.' बाद में जब आर्यों में कृषि भी कुछ उन्नति कर गई तो अन्नधन भी इस प्रयास में जुड़ गया. इस प्रकार यज्ञ का अर्थ हुआ, पशुधन, संतानधन व अन्नधन के लिए किया जाने वाला प्रयास. इन मूल अर्थों में, हम आज भी जीवित रहने के लिए या जीविका के लिए, वंशवृद्धि और कामनापूर्ति के लिए जो कुछ भी करते हैं, वह सब यज्ञ ही है.

लेकिन 'यज्ञ' का एक रूढ़ अर्थ 'प्राचीन आर्य पूजा पद्धति' यानि 'हवन आदि के साथ किया जाने वाला एक धार्मिक कृत्य विशेष' भी है, और इस अर्थ में भी इस का मूल आशय यही है कि 'सामूहिक परिश्रम व प्रयास द्वारा जो कुछ अर्जित किया गया. उस में से देवताओं को उन का भाग दे कर शेष को आपस में बांट लिया जाए तथा देवताओं से और अधिक धनधान्य व समृद्धि के लिए वरदान मांगा जाए.' यह था प्राचीन आर्यों में धार्मिक यज्ञ का आदि रूप और महत्त्व.

यह बात ध्यान देने की है कि प्राचीन

आर्यों में किसी धार्मिक यज्ञ अर्थात् कृत्य विशेष के अन्वय पर जो कुछ किया जाता था, मान लीजिए कि वह सब गुप्त-काल या हर्षकाल में नहीं किया जा सकता था। और जो कुछ गुप्तकाल या हर्षकाल में किया जाता था, मान लीजिए कि वह आज नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से, अर्थात् एक धार्मिक कृत्य विशेष की दृष्टि से यज्ञ का रूप निरंतर बदलता आ रहा है। उदाहरण के लिए प्राचीन आर्यों में जो नरमेध यज्ञ (नरबलि), गोमेध यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ आदि होते थे, उन में से केवल अश्वमेध यज्ञ ही गुप्तकाल या हर्षकाल तक शेष रह गया, अन्य दो प्रकार के यज्ञों का आयोजन काफी कठिन हो गया। इसी प्रकार जो अश्वमेध यज्ञ गुप्तकाल में होता था, उस की कल्पना करना आज कठिन है।

इसी लिए अब केवल 'शांति' यज्ञ या साधारण 'मंगल' यज्ञ होते हैं और वे भी केवल फलफूल, वनस्पति, धी तथा अन्न से। हवन की अग्नि में गोमांस या अश्वमांस की आहुतियाँ देने अथवा ऐसे मांस को उस अग्नि पर भून कर खाने की बात तो आज कोई श्रद्धावान् हिंदू सोच भी नहीं सकता! इतना अंतर आ गया है धार्मिक यज्ञ संबंधी धारणाओं व मान्य विधिविधानों में इन कुछ हजार वर्षों के भीतर। देखना यह है कि वाल्मीकि 'रामायण' में जिस अश्वमेध यज्ञ व पुत्रेष्टि यज्ञ का वर्णन आया है, वे अपने समय में क्या अर्थ रखते थे!

वैदिक एवं रामायण कथाकाल समकालीन

रामायण का रचनाकाल चाहे कुछ भी रहा हो। (विद्वान् इसे छठी सदी ईसा-पूर्व से लेकर दूसरी सदी ईसापूर्व के बीच मानते हैं), लेकिन इस का कथाकाल अति प्राचीन है, इस में कोई संदेह नहीं। कारण यह कि इस में गंगायमुना की घाटी में स्थित जिन अनेक आर्य राज्यों का उल्लेख

आया है, उन के बिल्कुल निकटस्थ अनेक प्रतीय राज्यों (दस्यु, निषादि), यहां तक कि राक्षस राज्यों की भी कल्पना की गई है, जो स्पष्टतः भारत के इस भूभाग में आर्यों के बिल्कुल आदिकाल की सूचना देती है। इस दृष्टि से सप्तसिंधु के वैदिक-काल और रामायण के कथाकाल के बीच कोई बहुत ज्यादा अंतर नहीं दिखाई पड़ता। हो सकता है दोनों प्रतिबिंब समकालीन ही हों या उन में ज्यादा से ज्यादा बस एकदो सदी का ही अंतर हो।

सामाजिक मान्यताओं व प्रथाओं के चलन की दृष्टि से यह अंतर कोई बहुत बड़ा नहीं। इसलिए हम कह सकते हैं कि जो कुछ वैदिककाल के लिए सही है, वही सब रामायण के कथाकाल के लिए भी सही है। फिर, जैसा कि हम देखेंगे, स्वयं वाल्मीकि उक्त यज्ञों का वर्णन करते हुए बारबार इस बात पर बल देना बहुत आवश्यक समझते हैं कि उस महायज्ञ में सब कुछ वेदानुसार दीख पड़ता था, एक बात भी शास्त्रविरुद्ध नहीं की गई, न कोई त्रुटि रही, आदि। (सर्ग 4/3/4)

अब प्रश्न है पुत्र की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले उस अश्वमेध यज्ञ (स्वयं दशरथ इस सारे संदर्भ में बारबार इस की घोषणा करते हैं) और पुत्रेष्टि यज्ञ की वास्तविकता का। यह विषय, अर्थात् पुत्र प्राप्ति का विषय, निर्विवाद रूप से नरनारी संबंधों अथवा यौनसंबंधों का विषय है। इसलिए हमें सब से पहले यह देखना चाहिए कि उस काल में यौन विषयक मान्यताओं व चर्चाओं की सामाजिक स्थिति क्या थी?

आदि ग्रंथ ऋग्वेद से ही शुरू करें तो हमें उस के दसवें मंडल के 86वें सूक्त में इंद्रइंद्राणी के बीच यह यौन विषयक चर्चा मिलती है :

'इंद्र, जैसे तीक्ष्णशृंग वृषभ गोवृंद में गर्जन करता हुआ रमता है, वैसे ही तुम भी मेरे साथ रमण करो। तुम्हारे हृदय के लिए दधिमंथन शब्द करता हुआ कल्याण

कर हो। भावभिलाषिणी इंद्राणी जिस सोम का अभिषेक करती है, वह भी कल्याण कर ही, इंद्र सर्वश्रेष्ठ है।' (श्लोक 15)

इंद्राणी की उक्ति : 'इंद्र, वह मनुष्य मंथन करने में समर्थ नहीं हो सकता जिस का पुरुषांग दोनों जांघों के बीच लंबायमान हो। वही समर्थ हो सकता है जिस के बैठने पर लोमयुक्त पुरुषांग बल प्रकाश करता व फैलता है। इंद्र सर्वश्रेष्ठ है।' (श्लोक 16)

इंद्र की उक्ति : 'वह मनुष्य मंथन करने में समर्थ नहीं हो सकता जिस के बैठने पर लोमयुक्त पुरुषांग बल प्रकाश करता है। वही समर्थ हो सकता है जिस का पुरुषांग दोनों जांघों के बीच लंबायमान हो। इंद्र सर्वश्रेष्ठ है।' (श्लोक 17)

यौन विषयक मान्यताएं

यह स्थिति है ऋग्वेद में इंद्रइंद्राणी के बीच सार्वजनिक रूप से यौन विषयक चर्चा की। याद रखना चाहिए कि ये मंत्र पूरे जन के बीच इंद्र की स्तुति में पढ़े जाते थे। संक्षेप में अब कुछ अन्य ग्रंथों को लीजिए।

महाभारत के आदि पर्व, अध्याय 122 में महाराज पांडु से कुंती के प्रति कहलवाया गया है :

"हे सुंदरी, पूर्वकाल में स्त्रियों को कुछ रोकटोक नहीं थी। हे सुहासिनी, उन दिनों वे स्वतंत्र रह कर भोगविलास की आशा में स्वच्छंदतापूर्वक घूमा करती थीं।"

"हे सुभगे, वे कौमार्यावस्था में ही ध्वभिचार किया करती थीं और इस से उन को अधर्म नहीं होता था क्योंकि पूर्वकाल में यही धर्म था।"

इस स्थिति की पुष्टि ऋग्वेद के दसवें मंडल के सूक्त 10 से भी होती है जिस में भाईबहन यमयमी का प्रेमसंवाद दिया गया है।

यमी कहती है, "विस्तृत समुद्र के मध्यद्वीप में आ कर इस निर्जन प्रदेश में मैं तुम्हारा सहवास चाहती हूं क्योंकि

गर्भाशय में ही तुम मेरे साथी हो। विधाता ने मन ही मन समझा है कि तुम्हारे द्वारा मेरे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह हमारे पिता का एक श्रेष्ठ नाती होगा।" (1)

यम उत्तर देता है, "यमी, तुम्हारा साथी यम तुम्हारे साथ ऐसा संपर्क नहीं चाहता क्योंकि तुम सहोदर भगिनी हो। यह निर्जन प्रदेश नहीं है क्योंकि महान, बली प्रजापति के छलोक को धारण करने वाले वीर पुत्र (देवों के चर) सब कुछ देखते हैं।" (2)

यमी कहती है, "यद्यपि मनुष्य के लिए ऐसा संसर्ग उचित न हो तो भी देवता लोग इच्छापूर्वक ऐसा संसर्ग करते हैं। इसलिए मेरी जैसी इच्छा होती है, वैसे ही तुम भी करो। पुत्र जन्मदाता पति के समान मेरे शरीर में प्रवेश करो! मेरा संभोग करो।" (3)

जयचंद्र विशालंकर ने अपने ग्रंथ 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में पृष्ठ 225 पर वैदिक आर्यों के पारिवारिक जीवन का वर्णन करते हुए लिखा है : 'वैदिक जन मले ही पितृमूलक परिवार पर निर्भर थे, तो भी माता से अनेक बार गोत्र खोजना और बहुपतिक विवाह आदि की पुरानी प्रथाएं अवशेषों व स्मारक चिन्हों के रूप में उन में चली आती थी, या कभी-कभी प्रकट हो जाती थीं। विवाह की संस्था में भी शिथिलता थी। वह इतनी दृढ़ न थी, जितनी बाद में हो गई।'

राहुल सांकृत्यायन अपनी पुस्तक 'बोल्गा से गंगा तक' में कहते हैं कि वैदिक आर्यों के पूर्वकाल में विवाहित स्त्री तक को किस प्रकार यह अधिकार था कि वह अपने विवाहपूर्व स्वच्छंद प्रेमसंबंधों को बनाए रखे और किसी पुराने प्रेमी के आने पर उस रात पति को छोड़ प्रेमी के साथ सोए। शायद इसी प्रथा ने आगे चल कर आर्यों में उस परिपाटी का रूप लिया जिस के अनुसार वे अतिथि के आने पर अपनी पत्नी को उस के साथ सोने के लिए भेज देते थे।

महाभारत में श्वेतकेतु की कथा आती है जिस के अनुसार श्वेतकेतु के ही सम्मुख कोई ब्राह्मण उस की माता का हाथ पकड़ कर खींच ले जाना चाहता है। इस पर श्वेतकेतु क्रोधित हो उठता है तो उस के पिता उदालक के मुँह से कहल जाया जाता है, "हे तात, क्रोध मत कर, यह सनातन धर्म है। इस भूमंडल में सभी वर्णों की स्त्रियाँ बिना किसी बंधन के हैं। हे तात, सभी जन अपने अपने वर्णों की स्त्रियों के साथ गायों जैसा व्यवहार करते हैं।"

अत्रि ने भी अपनी स्मृति में यही कहा है, "स्त्रियाँ जारों (स्वच्छंद प्रेमियों) द्वारा दूषित नहीं होतीं।" इत्यादि (श्लोक 190)

महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 130 में कृप और कृपी की जन्मकथा इस प्रकार दी गई है: 'एक बार महर्षि गौतम के पुत्र शरद्वान का वीर्य जानपदी नामक अप्सरा को देख कर स्खलित हो गया और एक सरकंडे पर गिर गया जिस से एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई।'

महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 131 में दसवें से चौदहवें श्लोक तक द्रोण की जन्म कथा इस प्रकार दी गई है: 'पूर्वकाल में महर्षि भारद्वाज अग्निहोत्र करने के हेतु अन्य महर्षियों के साथ गंगास्नान को गए। वहाँ पर उन्होंने सौंदर्य और यौवन से संपन्न धृताया अप्सरा को नहा कर उठते हुए देखा। वह यौवन के मद में मत हो झूम रही थी। पुनः नदी के तट पर उस का वस्त्र खिसक गया। नगनावस्था में उसे देख कर महर्षि काम के वश हो गए, बुद्धिमान भारद्वाज के मन उस रमणी में आसक्त हो गया और उन का वीर्य स्खलित हो गया। उस वीर्य को उन्होंने द्रोण (एक विशेष यज्ञ पात्र) में रख दिया। बुद्धिमान महर्षि के उस द्रोण से द्रोण का जन्म हुआ जिन्होंने वेदों तथा वेदांगों का अध्ययन किया', आदि।

इन जन्मकथाओं के अलावा इंद्र द्वारा कितने ही ऋषियों की पत्नियों के अपहरण,

चंद्रदेव द्वारा गरु की पत्नी के साथ बलात्कार, मित्र व वरुण द्वारा कामपीड़ित हो कर एक घड़े को ही उर्वशी की योनि मान कर उस में वीर्यपात करना, शिव द्वारा अग्निदेव के मुँह में वीर्यपात करना, विष्णु द्वारा जलंधर दैत्य की सतीसाध्वी पत्नी वृंदा का सतीत्व भंग करना और अंत में स्वयं ब्रह्मा का अपनी पुत्री सरस्वती के पीछे कामांध हो कर भागना आदि अगणित पौराणिक कथाएँ अपने स्थान पर उस युग की यौन विषयक स्थिति का प्रतिनिधित्व करती हैं।

स्वच्छंद यौनाचार

इन सब से जो एक बुनियादी तथ्य उभर कर सामने आता है, वह यह है कि जिस युग की ये सब कथाएँ हैं, उस में नर-नारी संबंध या यौनसंबंध न केवल स्वच्छंद थे (गुप्त रूप से तो आज भी स्वच्छंद हैं) बल्कि समाज में उन का व्यवहार और चर्चा भी स्वच्छंद थी। लोग यथासामर्थ्य कितनी ही संख्या में पत्नियाँ रख लेते थे तथा उन के अलावा भी बिना विवाह किए कितनी ही स्त्रियों को रखलें के रूप में रख सकते थे। वे इच्छानुसार किसी भी स्त्री के साथ (कभीकभी बलात्कार के रूप में ही) यौनसंबंध स्थापित कर सकते थे। इसी प्रकार स्त्रियों को भी इच्छानुसार अथवा मजबूरी में किसी शक्तिशाली पुरुष के साथ संबंध स्थापित कर लेने की बहुत कुछ छूट थी और इस से न उन्हें कोई दोष लगता था और न उन के साथ व्यभिचार करने वाले महात्माओं को पापी माना जाता था। सारांश यह है कि उस काल में स्त्री व पुरुष के बीच यौनसंबंध स्थापित होने के लिए अथवा संतानोत्पत्ति के लिए विवाह आवश्यक नहीं था। किसी भी तरीके से संतान पैदा हो सकती थी। साथ ही उस काल में जो विवाह होते थे, वे भी आजकल के हिंदू विवाहों की तरह पत्थर की लकीर नहीं होते थे। वैदिक विवाह काफी हद तक

CC-0. Agamhigam Digital Preservation Project

एक चीथार्ह का आधा (यानी आठवां भाग) कैंकैया को, और अंतिम आठवां भाग फिर सुमित्रा को (इस भागविधि का वास्तविक तात्पर्य हम आगे देखेंगे). वाल्मीकि के अनुसार, “उन महारानियों ने अपनेअपने भाग का पायस खाते ही अग्नि और सूर्य के सदृश तेजस्वी गर्भ धारण कर लिया (सर्ग 16. श्लोक 30).” इस से भी सिद्ध होता है कि वह पायस कोई श्रौषधि नहीं थी, बल्कि स्वयं गर्भ स्थापित करने वाली वस्तु थी.

अब हम अपने मूल प्रश्न पर आते हैं. वह यह कि महाप्राणी रिष्यशृंग क्या काम कर के अंतर्धान हो गया? स्वयं वाल्मीकि के इस वर्णन से इतनी बात तो सिद्ध होती है कि राजा दशरथ के यहां जन्म लेने वाले चारों राजपुत्र खुद दशरथ की प्रजनन शक्ति से गर्भस्थित नहीं हुए थे, अर्थात् राजा दशरथ उन के जनक नहीं थे. तो फिर उन का जनक कौन था? वाल्मीकि के अनुसार ये चारों पुत्र उस ‘दिव्य पायस’ से गर्भस्थित हुए, जो रिष्यशृंग ने अपने पुत्रेष्टि यज्ञ की समाप्ति पर स्वयं को विष्णु का दूत बता कर एक स्वर्ण पात्र में दशरथ को दिया और जिसे दशरथ ने एक खास भागविधि के अनुसार अपनी रानियों को खिला दिया.

निश्चय ही आज कोई भी यह नहीं मानेगा कि स्त्री को केवल किसी प्रकार का पायस खिला देने से ही गर्भ स्थित हो सकता है निस्संदेह कृत्रिम रूप से भी गर्भ स्थापना संभव है लेकिन प्रजनन जीवाणुओं वाली जो संतानोत्पादक वस्तु (निश्चय ही पायस नहीं) स्त्री में प्रविष्ट की जाती है, वह उस के गर्भाशय की नालियों में जा कर उस के डिंबाणु से मिलनी चाहिए, न कि मुंह के रास्ते पेट में जा कर. ‘खाने से भी गर्भ स्थित हो सकता है, जैसी धारणा केवल प्राचीन काल के लोगों में ही थी और संस्कृत लेखकों में विशेषकर. कारण यह कि अज्ञानता की वजह से वे शिशु को मां के पेट (उदर) में ही स्थित मानते थे

(जैसा कि कवि श्री महाभारत प्रचलित है: ‘मां के पेट से,’ हालांकि ठीक तौर पर ‘मां के गर्भाशय से’ होना चाहिए.) जो भी हो, संस्कृत लेखकों के निकट गर्भ के रास्तों के विषय में मुंह और योनि के बीच कोई अंतर नहीं था, जैसा कि अनेक पशुपक्षियों द्वारा महापुरुषों का स्थलित वीर्य पान कर जाने से उन में उन महापुरुषों का संततिक्रम हो जाने की काल्पनिक कथाओं से जाहिर है. इसी प्रकार ‘पुरुषों’ से जो संतान होती थी, जैसे ब्रह्मा, विष्णु आदि से वह सब उन के मुंह से निकलती थी.

पायस या वीर्यदान?

सवाल यह है कि उस काल में यौन संबंधों तथा यौन चर्चा की उस उन्मुक्त स्थिति के बावजूद—जिस की झलक हम तत्कालीन साहित्य में तथा स्वयं रामायण में, और विशेषकर अश्वमेध यज्ञ की ‘अश्वशिशन भूपस्थे...’ क्रिया के रूप में पोछे देख आए हैं—उस हालत में वाल्मीकि को दशरथ की रानियों में गर्भस्थापना का वर्णन करने के लिए ‘पायस’ का प्रतीक अपनाने की क्या जरूरत थी? क्या वह उस काल की यौन विषयक सामान्य उन्मुक्त स्थिति के अनुरूप स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में यह नहीं लिख सकता था कि रिष्यशृंग ने ‘प्रियपत्नी की तरह थाम कर सोनेचांदी के पात्र में जो दिव्य पायस दिया,’ वह वास्तव में राजा दशरथ की रानियों को उस का वीर्यदान था?

आखिर जब वह महाकवि होते हुए भी एक इतनी बड़ी ‘साहित्यिक भूल’ कर सकता है कि रिष्यशृंग को, जो प्रस्तुत संदर्भ में केवल उस तथाकथित यज्ञ का प्रधान याजक या रित्विक ही था, एकदम उस सारे संदर्भ का मुख्य नायक बना देता है और उस के व्यक्तिगत देवी गुणों की एक लंबी सूची दे कर (जो प्रस्तुत संदर्भ में बिल्कुल अनावश्यक है) उसे लगभग सर्वगुणसंपन्न सिद्ध कर के परमदेव के

स्थान पर बैठकर देता है तो क्या वह इस 'भंडाफोड़' के साथ ही इतनी सामान्य बात और नहीं जोड़ सकता था कि दशरथ के यहां जो पुत्र जन्म लेने वाले थे, वे दर-असल इन्हीं सब चमत्कारी देवी गुणों के उत्तराधिकारी बनने वाले थे, अर्थात् रिष्यशृंग उन का जनक होने जा रहा था। (यहां श्री राम के प्रसिद्ध वर्ण (श्याम) का विचार कर के यह बात भी समझ में आ जाती है कि वाल्मीकि ने अग्निकुंड से निकलने वाले उस महाप्राणी रिष्यशृंग को उस स्थल पर एक ही साथ 'कृष्ण वर्ण और लाल मुख वाला' क्यों कहा!)

हां, तो हमारे प्रश्न का उत्तर यह है कि वाल्मीकि इस सारी बात को बिना किसी लागलपेट के बड़ी सफाई व विस्तार के साथ लिख सकता था (जैसा कि हमारे प्राचीन धार्मिक साहित्य में अनेक महा-पुरुषों के जन्मसंबंधी विवरणों में साफसाफ लिखा गया है), बशर्ते कि उस के आगे एक अन्य बुनियादी प्रयोजन उपस्थित न होता। वह प्रयोजन था दशरथ के पुत्रों को, विशेषकर श्रीराम को, विष्णु भगवान का अवतार सिद्ध करने का।

वाल्मीकि के सामने मुख्य प्रश्न यह नहीं था कि ये चारों भाई जननिक रूप से किस की संतान थे (वह तो उस सारे प्रचार के रहते एक जानीबूझी बात थी), बल्कि मुख्य प्रश्न यह था कि ये चारों भाई भगवान विष्णु के अंश थे (इस से सर्ग 15 में दी गई ब्रह्माविष्णु संबंधी उस पौराणिक कथा का प्रसंग भी स्पष्ट हो जाता है)। अब, रिष्यशृंग चाहे कितना ही महान व तेजस्वी ऋषि रहा हो लेकिन वाल्मीकि के लिए, जो स्वयं ऋषि था, वह कल्पना नहीं कर सका कि स्वयं भगवान विष्णु ही रिष्यशृंग के वीर्य में स्थित थे। ऐसी कल्पना धृष्टता होती, और शायद उस काल में भी उसे मान्यता न मिलती। जिस का अर्थ यह होता कि उन चारों राजकुमारों को विष्णु का अंश न माना जाता। इसलिए वाल्मीकि को भगवान

विष्णु के सूक्ष्म शरीर के रूप में रिष्यशृंग के वीर्य के स्थान पर एक 'दिध्य पायस' की कल्पना करनी पड़ी जो साहित्यिक दृष्टि से उचित ही थी। फिर पायस की कल्पना एक और कारण से भी जरूरी रही होगी। उस काल में किसी वस्तु को कृत्रिम रूप से योनि के रास्ते प्रविष्ट करने की कल्पना नहीं थी, और वाल्मीकि उस पदार्थ को रानियों के मुंह के रास्ते उन के पेट में पहुंचाना चाहता था। इसलिए उसे 'खाने योग्य' किसी उपयुक्त राजकीय वस्तु के तौर पर एक निकटतम समरूप प्रतीक (पायस) की कल्पना करनी पड़ी।

इस पायस को जिस भागविधि से उस ने दशरथ के हाथों बंटवाया, उस का अर्थ यही लगाया जा सकता है कि रिष्यशृंग ने दशरथ के राजमहल में उस की सहमति से जो समय बिताया, उस का उपयोग उस ने किस विधि से किया। सुमित्रा को शेष आठवां अंश पुनः दे देने का अर्थ केवल यह है कि उसे लक्ष्मण व शत्रुघ्न, दो पुत्र हुए, जिन में लक्ष्मण का लगाव राम से अधिक रहा और शत्रुघ्न का भरत से, इसी व्यावहारिक स्थिति के कारण यह सारी कल्पना की गई। (यहां यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयं रामायण के अनुसार श्री राम विष्णु के पूरे अवतार नहीं ठहरते। वह केवल आधे ही अवतार थे और शेष आधे विष्णु में बाकी तीनों भाई थे। अर्थात् चारों भाई मिल कर ही 'एक अवतार' हुए, अकेले राम नहीं।)

धर्मसम्मत 'नियोग'

आज सारी दुनिया जानती है, और हम भी मानते हैं, कि हमारे अतीत में वन-वासी ऋषियों द्वारा राजवंशों तथा अन्य समृद्ध परिवारों में संतानोत्पत्ति के लिए जो वीर्यदान कराया जाता था, उसे 'नियोग' कहते थे। यह एक धर्मसम्मत, वेदसंगत और शास्त्रोक्त प्रथा थी और अपने समय में आर्य जाति की वंशरक्षा,

व स्थायित्व के लिए कुछ विशेष रूप से उपयोगी रही थी। लेकिन आज जब यही बात श्री राम तथा उनके भाइयों के जन्म के संदर्भ में कही जाती है। तो बहुत से अज्ञानी हिंदू बिगड़ उठते हैं और अपना मानसिक सतुलन खो देते हैं। वे नहीं समझते कि गलती हमारे प्राचीन साहित्य की या रामायण की नहीं है (वह तो एक महान साहित्य है), बल्कि गलती यह है कि हम लोग इन प्राचीन विषयों को भी अपने आज के मानदंडों से मापने का आग्रह करते हैं, या फिर हम कई बार कुछ पुराने मानदंडों को अपने आज के विषयों पर भी लागू करना चाहते हैं। मान लीजिए, जातपात तथा शूद्र विषयक मान्यताओं में व विधवाविवाह और परिवार संबंधी मान्यताओं में। यह कोरी मूर्खता है। इस से हम न तो अपने इस प्राचीन साहित्य का सही मूल्यांकन कर पाते हैं और न इस के अध्ययन से आनंदित ही होते हैं। हम केवल इन ग्रंथों को शाश्वत सत्य मान कर सिर पर उठाए फिरते हैं और आम तौर से यह देखने का कष्ट भी नहीं करते कि इन में लिखा क्या है!

यही कारण है कि हम नहीं समझ पाते कि श्री राम और उन के भाइयों ने अपने जीवन में जो पराक्रम दिखाए (राम व लक्ष्मण आर्यावर्त के लिए दक्षिण की विजय के प्रतीक नायक थे), वे सब सिर्फ इसलिए संभव हुए कि वे एक वनवासी तपस्वी, अत्यंत बलिष्ठ और बौद्धवान श्रुषि की संतान थे। यदि दशरथ में संतान उत्पन्न करने की शक्ति होती तो पहले तो वह यज्ञ ही क्यों करता? और अगर उस के बाद किसी चमत्कार से उस में यह क्षमता पैदा हो जाती तो भी उस के जो पुत्र होते वे राम, लक्ष्मण व भरत, शत्रुघ्न न होते, बल्कि वे एकदम निर्बल, सदा रोगी रहने वाले और अकर्मण्य राजकुमार होते, जिन्हें विष्णु का अवतार तो दूर, शायद राज-पुत्र मानने में भी लोगों को आपत्ति होती।

कोई यह कहे कि नियोग प्रथा का

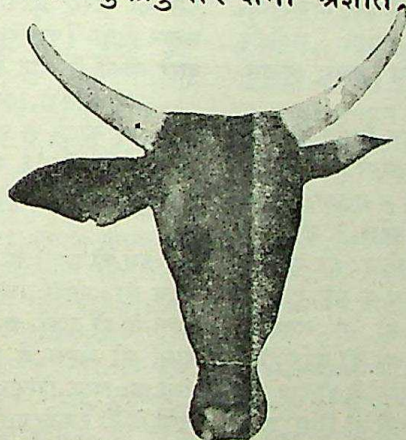
कोई स्पष्ट उल्लेख वाल्मीकि 'रामायण' में नहीं आया तो यह बात भी सही नहीं। ब्रह्माविष्णु संबंधी उसी कथन में, जिस का सार पीछे दिया गया है, स्वयं ब्रह्मा से तमाम देवताओं के नाम यह आदेश जारी कराया गया है: "आप लोग मुख्यमुख्य अम्सराओं, गंधर्वियों, यक्षियों, नाग पुत्रियों, रिक्ष कन्याओं, विद्याधारियों, किन्नरियों और वानरियों के गर्भ से अपने ही सदृश पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करें और वे सब वानर का रूप धारण कर लें। (सर्ग 17. श्लोक 5-6)। देवताओं ने ब्रह्मा की बात मान ली और उन्होंने वानररूपधारी पुत्र उत्पन्न करने शुरू कर दिए (8)। इंद्र ने महेंद्र पर्वत सदृश दीर्घकाय बालि नामक पुत्र उत्पन्न किया। सूर्यदेव ने सुग्रीव को और वृहस्पति ने तार नामक वानरों के मुखिया एवं बुद्धिमान वानर को उत्पन्न किया। (10-11)। अग्नि ने नील को, वरुणदेव ने सुषेण को, पर्जन्य ने शरभ को और वायु-देव ने हनुमान को उत्पन्न किया। इसी प्रकार देवताओं द्वारा कई वानर उत्पन्न हुए। वे सब बड़े बली थे (18 तक)। वे सब भगवान रामचंद्रजी की सहायता के लिए उत्पन्न हुए थे (37)।"

धर्मजों द्वारा गर्भ-प्रतिष्ठापन

इस से सिद्ध होता है कि रामायण-काल में संतानोत्पत्ति का सब से उत्तम व प्रशंसनीय तरीका यही था कि संतान किन्हीं पूजनीय देवताओं के नाम पर किन्हीं बड़े-बड़े विजयी सामंतों वेदविद ब्राह्मणों और वनवासी ऋषियों द्वारा उत्पन्न कराई जाए। ऐसी ही संतान को शुभ, उचित और प्रतिष्ठापुक्त माना जाता था, साधारण लोगों की साधारण संतानों को नहीं। लोग नहीं जानते कि भारत में आर्य जाति का प्रसार जनन के इसी ढंग से (जैनेटिकली) हुआ है, स्वयं आर्यों के हर जगह जा कर बसने से नहीं। (बाद में मुसलमानों का प्रसार भी इसी ढंग से हुआ यानी औलाद

प्राचीन भारत में गोहत्या एवं गोमांसाहार

लेख • सुरेंद्रकुमार शर्मा 'अज्ञात'



भारत में आए दिन गोहत्या को लेकर मरणव्रतों व आंदोलनों की धमकियां दी जाती हैं और उस के विरुद्ध प्रस्ताव पास किए जाते हैं, लेकिन भारत में गौ सदा से पूज्य और अवध्य रही हो, ऐसी बात नहीं है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में ऐसे बहुत से प्रमाण विद्यमान हैं जिन से स्पष्ट होता है कि गौ न सिर्फ यज्ञों में बलि के लिए काटी जाती थी, बल्कि विशिष्ट मेहमानों, वेदज्ञ विद्वानों आदि के स्वागत के लिए भी गोमांस जुटाया जाता था। शायद इसी लिए आधुनिक युग के प्रसिद्ध हिंदू धर्मप्रचारक स्वामी विवेकानंद ने कहा था, "आप को यह जान कर हैरानी होगी कि प्राचीन कर्मकांड के मताबिक वह अच्छा हिंदू नहीं जो गोमांस

नहीं खाता। उसे कुछ निश्चित अवसरों पर बैल की बलि दे कर मांस अवश्य खाना चाहिए। (देखें 'दि कंपलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद, जिल्द तीन, पृ. 536) इसी पुस्तक में पृष्ठ 174 पर स्वामी विवेकानंद ने कहा है, "भारत में एक ऐसा

प्राचीन संस्कृत साहित्य में ऐसे बहुत से प्रमाण हैं कि यज्ञों में गौ की बलि दी जाती थी और उस का मांस विशिष्ट मेहमानों, वेदज्ञ विद्वानों के स्वागत के लिए भी जुटाया जाता था...



समय रहा है जब बिना गोमांस खाए कोई ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रह सकता था."

वेदों में गोमेध

नामक एक यज्ञ का

वर्णन मिलता है, जिस में गौ की बलि दी जाती थी. इस यज्ञ का विवरण देते हुए संस्कृत के एक पुराने और प्रसिद्ध विश्व-कोष 'शब्दकल्पद्रुम' में लिखा है: यज्ञ-विशेषः, अत्र स्त्रीगोपशुः मंत्रेषु स्त्रीलिंग-पाठात्. तस्य लक्षणम्—सप्तशफत्व-नव-शफत्व-भग्नशृंगत्व-काणत्व-छिन्नकर्णत्वा-दिदोषराहित्यम्. तस्य प्रयोगः सर्वोऽपि छागपशुवत्. यजमानस्य स्वर्गः फलम्, गोश्च गोलोकप्राप्तिः.

अर्थात् यह एक यज्ञ विशेष है. यहां 'गो' शब्द से स्त्री गोपशु अर्थात् गाय अभि-प्रेत है, न कि सांड, बेल व बछड़ा, क्योंकि मंत्रों में स्त्रीलिंग का निर्देश है. उस गाय का यह लक्षण होना चाहिए: वह सात व नौ खुर वाली न हो, उस के सींग टूटे हुए न हों. वह न कानी हो, न कनकटी. उस का समूचा प्रयोग बकरे की तरह होना चाहिए अर्थात् गाय के साथ वे ही सब व्यवहार किए जाएं जो बकरे से किए जाते हैं. गोमेध का फल यजमान के लिए स्वर्ग और गाय के लिए गोलोक की प्राप्ति है.

यज्ञ में पशुओं के साथ व्यवहार

यज्ञ में बकरा, घोड़ा व गाय आदि पशु के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए, इस विषय में ऋग्वेद के प्राचीन व्याख्यान 'ऐतरेय ब्राह्मण' में निर्देश किया गया है: उदीचीनां अस्य पदो निघस्तात् सूर्यं चक्षुर्मयतात् वातं प्राणमन्व वसुजतात्. अन्तरिक्षमसू दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीर-मित्येध्वेदेनं तल्लोकेष्वाधधाति.

एकधाऽस्य त्वचमाच्छ यतात्म पुरा नाभ्या अपिशसोमु वपामुत्खिदता दन्त-रेवोध्मणं वारयध्वादिति पशुध्वेव तत् प्राणान् दधाति.

श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशंसा वाह-शला दोषणी कश्यपेवासाच्छिद्रे श्रोणी कवषोरुस्तेकपर्णादष्ठीवन्ना षड्विंशतिरस्य वड्. क्रयस्ता अनुष्ठयो च्यावयताद्. गात्रं गात्रमस्या नूनं कृणुतादिव्यगान्येवात्य तद् गात्राणि प्रीणाति... ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनताद्... अस्ता रक्षः संसृजतादित्याह. (ऐ. ब्रा. 2/6/6)

अर्थात् इस के पैर उत्तर की ओर मोड़ो, इस की आंखें सूर्य को, इस के श्वास वायु को, इस का जीवन (प्राण) अन्तरिक्ष को, इस की श्रवणशक्ति दिशाओं की ओर इस का शरीर पृथ्वी को सौंप दो. इस प्रकार होता (पुरोहित) इसे (पशु को) दूसरे लोकों से जोड़ देता है.

सारी चमड़ी बिना काटे उतार लो. नाभी को काटने से पहले आंतों के ऊपर की झिल्ली की तह को चीर डालो. इस प्रकार वह पुरोहित पशुओं में श्वास डालता है.

इस की छाती का एक टुकड़ा बाज की शकल का, अगले बाजुओं के कुल्हाड़ी की शकल के दो टुकड़े, अगले पांव के धान की बालों की शकल के दो टुकड़े, कमर के नीचे का अट्ट हिस्सा, ढाल की शकल के जांघ के दो टुकड़े, पत्तों की शकल के दोनों घुटनों के दो टुकड़े और 26 पसलियां सब क्रमशः निकाल लिए जाएं. इस के प्रत्येक अंग को सुरक्षित रखा जाए. इस प्रकार वह उस के सारे अंगों को लाभ पहुंचाता है. इस का गोबर छिपाने के लिए जमीन में एक गड्ढा खोदें. प्रेतात्माओं को रक्त दें.

इस के अनंतर वही ब्राह्मण ग्रंथ बलि चढ़ाए गए पशु (गाय, बकरा आदि) के अंगों के बंटवारे का विधान करते हुए लिखता है :

अर्थात्: पशोर्विभक्तिस्तस्य विभागं वक्ष्यामः, इति. हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः श्येन वक्ष उद्गातुः कण्ठः काकुद्रः प्रति-हर्तुर्वक्षिणा श्रोणिर्हतुः सव्या ब्राह्मणो दक्षिणं सक्थि मैत्रावरुणस्य सव्यं ब्राह्मणाच्छं-सिनो दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः सव्यमु-

पगातुणां सव्येऽस्तः प्रतिप्रस्थेऽनुदक्षिण को, विया कंधा प्रतिप्रस्थान्ति को, दाएं बाजू का निचला हिस्सा नेष्टा को, बाएं बाजू का निचला हिस्सा पोता (पोत) को.

पशुओं के अंगों को बांटना

तं गृहपतिरेव प्रशिष्याज्जाधनौ पत्नीभ्यो हरन्ति तां ब्राह्मणाय दद्युः स्कन्ध्याश्च मणिकास्तिस्त्रश्च कीकसा ग्रावस्तुतस्तिस्त्रश्चैव कीकसा अर्धं व वैकर्तस्योत्रेतुरर्धं चैव वैकर्तस्य क्लोमा च शमितुस्तद्ब्राह्मणाय दद्याद्यद्यब्राह्मणः स्याच्छिरः सुब्रह्मण्यायै यः श्वः सुत्यां प्राह तस्याजिनमिडा सर्वेषां होतुर्वा इति.

ता वा एताः षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती यार्हताः स्वर्गा लोकाः प्राणाश्चैव तस्त्वर्गाश्च लोकान्पुनर्वन्ति प्राणेषु चैव तस्त्वर्गेषु च लोकेषु प्रतिष्ठन्त्यो यन्ति, इति.

स एष स्वर्गः पशुर्ग एनमेवं विभजन्ति, इति. अथ येऽतोऽन्यथा तद्यथा सेलगा वा पापकृता वा पशुं विमन्थोरस्तादवतत् इति. तां वा एतां पशोर्विभक्तिं श्रौतऋषिदेवभागो विदां चकार तामु हा प्रोच्यैवास्माल्लोकादुच्चक्रामत् इति. तामु ह गिरिजायै बाभ्रव्यायामनुष्यः प्रोवाच ततो हैनामेतदवाङ्. मनुष्या अधीयतेऽधीयते ॥१॥ इति (ऐतरेय ब्राह्मण, अध्याय ३१)

अर्थात् अब बलि चढ़ाए गए पशु के भिन्नभिन्न अंगों के विभिन्न पुरोहितों में बांटे जाने का प्रश्न उपस्थित होता है. हम इस का वर्णन करेंगे. जबड़े की दोनों हड्डियों और जिह्वा प्रस्तोता नामक पुरोहित को दी जानी चाहिए. बाज की शकल जैसी छाती उद्गाता को, गला और तालु प्रतिहर्ता को, कमर के नीचे का दाहिनी ओर का हिस्सा होतृ को, बायां हिस्सा ब्रह्मा को, दाईं जांघ मैत्रावरुण को, बाईं ब्राह्मणाच्छंसी को, दाहिने कंधे के साथ का हिस्सा अध्वर्यु को, बाएं कंधे के साथ का हिस्सा मंत्रोच्चारण में साथ देने वाले उपगाताओं

इसी तरह दाहिनी जांघ के ऊपर का हिस्सा अच्छावाक को, बाईं जांघ के ऊपर का हिस्सा अग्निधर को, दाएं बाजू के ऊपर का हिस्सा आत्रेय को, बाएं बाजू के ऊपर का हिस्सा सदस्य को, पीछे की हड्डी और अंडकोष यज्ञकर्ता गृहस्थ को, दायां पांव भोज देने वाले गृहपति को, बायां पांव भोज देने वाले गृहपति की भार्या को, ऊपर का होंठ गृहपति और उस की भार्या को आधाआधा देना चाहिए. पशु की पूंछ वे भार्याओं को देते हैं, परंतु यह उन्हें न दे कर किसी ब्राह्मण को देनी चाहिए.

गरदन पर के माणिक व तीन कीकस ग्रावस्तुत को, तीनों कीकस और पीठ के मांसल हिस्से का आधा भाग (वैकर्स) उन्नता को, गरदन पर के मांसल हिस्से (क्लोम) का आधा और बाएं कान का कुछ भाग वध करने वाले को दिया जाए. यदि वध करने वाला स्वयं ब्राह्मण न हो तो किसी ब्राह्मण को दे दे. सिर सुब्रह्मण्य को. सोम यज्ञ में यज्ञ की बलि बने पशु का हिस्सा जो यज्ञभोज का है, वह सब पुरोहितों का है, केवल होतृ के लिए ऐच्छिक है.

बलि के पशु के इन सब टुकड़ों की

वैदिक युग में गोमांसाहार की विद्यमानता के कारण ही स्वामी विवेकानंद ने उसे 'स्वर्ण युग' कहा था, जब पांच ब्राह्मण एक गाय चट कर जाते हैं.



प्रत्येक टुकड़ा उस के एक चरण का प्रतीक है। इस प्रकार पशु के 36 हिस्से कर के वे इस लोक तथा स्वर्ग में जीवन लाभ करते हैं, और इस तथा उस दोनों लोकों में प्रतिष्ठित हो कर वे वहाँ चलते हैं।

जो लोग ऊपर कहे ढंग से पशु के मांस का बंटवारा करते हैं, उन के लिए यह स्वर्ग का सोपान बन जाता है। लेकिन जो इस से भिन्न प्रकार से बांटते हैं, वे गुंडे और पापी हैं।

बलि के पशु का यह विभाग श्रत के पुत्र देवभाग का आविष्कार है। जब वह इस जीवन से जा रहा था तो उस ने इस रहस्य को किसी को न सौंपा। किंतु किसी अलौकिक देवदूत ने बभ्रु के पुत्र गिरिजा को सब समाचार कह दिया। तब से मनुष्य इस का अध्ययन करते हैं।

‘गोपथ ब्राह्मण’ में भी

लगभग यही बात गोपथ ब्राह्मण (3/18) में कही गई है।

ऋग्वेद में इंद्रदेव इसी गोवध की ओर संकेत करते हुए कहते हैं:

उक्ष्णो हि मे पंचदश साकं पचन्ति विशतिम्,

उताहमदिम पीव इडुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तर. (10/86/14)

अर्थात् मेरे लिए इंद्राणी द्वारा प्रेरित यज्ञकर्ता लोग 15-20 बेल मार कर पकाते हैं, जिन्हें खा कर मैं मोटा होता हूँ। वे मेरी कुक्षियों को सोम से भी भरते हैं।

ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 89, मंत्र 14 से स्पष्ट होता है कि गोहत्या ऐसी मामूली बात थी कि बातचीत में उपमा के तौर पर इस का प्रयोग होता था। देखिए:

मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आप्रगमुया शयन्ते।

अर्थात् हे इंद्र, जैसे गोहत्या के स्थान पर गौएं काटी जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्र से मित्रद्वेषी राक्षस लोग कट कर

पशुको पर स्वामी के लिए सो जाएं।

स्वामी दयानंद ने ‘सत्यार्थ प्रकाश’ में इसी गोमेध के विषय में लिखा है: जहाँ गोमेधादिक यज्ञ लिखे हैं, वहाँ पशुओं में नरों का मारना लिखा है, क्योंकि जैसे पुष्ट बेल आदि नरों में हैं, वैसे गो आदि नहीं होते। जो बंध्या गाय होती है, उस का भी गोमेध में मारना लिखा है।

(देखें: सत्यार्थ प्रकाश, सन 1875, पृ. 303, दयानंद भाव चित्रावली, पृ. 28 पर उद्धृत)।

भारतीय विद्या भवन, बंबई के तत्वावधान में छपी ‘दि वैदिक एज’ नामक पुस्तक के पृष्ठ 387 पर डा. बी. एम. आप्टे ने लिखा है:

“ऋग्वेद के एक सूक्त (10/85) से जिसे विवाह सूक्त कहा जा सकता है, विवाह संस्कार के प्राचीनतम रूप का पता चलता है। दूल्हा और बरात दुल्हन के घर जाते थे (10/17/1), यहाँ दुल्हन बरात के साथ मिल कर खाना खाती थी। मेहमानों को उस अवसर पर मारी गई गौओं का मांस परोसा जाता था. (10/85/13)

‘वैदिक इंडेक्स’ (जिल्द 2, पृ. 145) में कहा गया है: “विवाह संस्कार के समय भोजन के लिए गौएं मारी जाती थीं।” यही बात बनारस हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित ‘वैदिक कोश’ (पृ. 374) में कही गई है और ऋग्वेद के दशम मंडल के 85 वें सूक्त के 13 वें मंत्र का हवाला दिया गया है।

शव दाह के लिए भी गोवध किया जाता था। ऋग्वेद (10/16/7) में आता है: अग्नेर्वमं परि गोभिव्ययस्व सं प्रोणुष्व पीवसा मेदसा च।

अर्थात् मृत, तुम गोधर्म के साथ अग्नि-शिखा स्वरूप कवच को धारण करो। तुम मेद और मांस से आच्छादित होओ। ‘वैदिक कोश’ (बनारस हिंदू विश्वविद्यालय

प्रकाशन) में लिखा है : “अंत्य संस्कार के प्रसंग में गोविध्यावश्यकं जनि पडता है. यहां उस के मांस से शव को ढकने का उल्लेख आता है. (ऋ. 10/16/7, पृ. 375)

गायों को मारना शुभ

श्री मुकंदीलाल ने अपनी पुस्तक ‘काश्मिरो स्लाटर-हार्न्स आफ ए डाइलेमा’ के पृष्ठ 18 पर लिखा है : “प्राचीन भारत में समारोहों में गौश्रों को मारना शुभ माना जाता था. दूल्हा और दुल्हन वेदि के सामने लाल बेल की कच्ची खाल पर बैठते थे. वह खाल उस अवसर पर मारे गए बेल की ही होती होगी, जिसे उस अवसर पर खाने के लिए मारा जाता था. ऐसे ही राज्याभिषेक के समय भावी राजा को लाल बेल की खाल पर बैठाया जाता था.”

अन्नप्राप्ति की कामना से जो यज्ञ किए जाते थे, उन में इंद्र के लिए बेल पकाए जाते थे, ऐसा ऋग्वेद से पता चलता है :

अद्रिणाते मन्दिन इन्द्र तूयान्तमुन्वन्ति
सोमान् पिबसित्वमेषाम्.

पचन्ति ते वषभां अत्तिस्तेषां

पृक्षेण यन्मधवन् ह्य मानः.

(ऋग्वेद 10/28/3)

अर्थात् हे इंद्र, अन्न की कामना से जिस समय तुम्हारे लिए हवन किया जाता है, उस समय यजमान जल्दीजल्दी पत्थर के टुकड़ों पर सोमरस तैयार करते हैं. उसे तुम पीते हो. यजमान बेल पकाते हैं, तुम उन्हें खाते हो.

ऋग्वेद (7/19/8) में दिवोदास नामक एक वैदिक राजा का उल्लेख मिलता है. उस के नाम के साथ ‘अतिथिगव’ विशेषण मिलता है. इस का अर्थ ‘अतिथि के लिए गौ मारने वाला’ किया गया है.

(वैदिक कोश, पृ. 374)

यजुर्वेद में गाय की चरबी से पितरों को तृप्त करने और परिणामस्वरूप कामनाएं पूरी होने की बात कही गई है :

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो

यत्रैतान्वेद्यनिहितान्पराके.

मेदसः कुल्या उप तान्त्रवन्तु सत्या

एषामाशिषः सन्नमन्तां स्वाहा.

(यजु. अध्याय 35, मंत्र 20)

महिधर भाष्य

हे जातवेदः, जातं वेदो धनं यस्मात् स जातवेदाः तत्संबोधने हे जातवेदः, पितृभ्योर्थाय त्वं वपां धेनुसंबन्धि चर्मविशेषं त्वं वह प्रापय. पराके पराक्रान्ते दूरेऽपि यत्र यस्मिन्देशे निहितान्स्थापितानेना-न्पितृन् त्वं वेत्थ जानासि तत्र वहेत्यर्थः. तस्याः वपायाः निःसृत्य मेदसः धातुविशेषस्य कुल्याः नद्यः तान्पितृन् प्रति उपल-वन्तु प्रसरन्तु, किंच एषां दातृणामाशिषः मनोरथाः सत्याः अवितायाः सन्नमन्तां प्रह्वी-भवन्तु स्वाहा, सुहुतमस्तु.

अर्थात् हे जातवेद, पितरों के लिए तुम गाय के चर्म विशेष को ले जाओ. तुम दूर स्थित पितरों को जानते हो. उस चर्म विशेष से निकलने वाली मज्जा (चरबी) की नदियां पितरों की ओर बहें और उन के लिए दान करने वालों की सब कामनाएं पूरी हों.

बैलों की बलि

शतपथ ब्राह्मण (3/4/1/2) में लिखा है कि अतिथि के लिए महोक्ष (बड़ा बेल) मारना चाहिए. तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/7/11/1) से पता चलता है कि अगस्त नामा एक यज्ञकर्ता ने 100 बैलों की बलि दी थी. यही बात पंचविंश ब्राह्मण (21/14/5) में कही गई है.

‘शतपथ ब्राह्मण’ (3/1/2/21) में पुरोहितों के इस परस्पर विवाद पर कि मांस बेल का खाना चाहिए या गाय का, याज्ञवल्क्य कहता है :

आशनाम्येव अहं अंसलं चेद् भवतीति.

(3/1/2/21)

अर्थात् ‘दोनों में से जो नरम हो, उसे खा लेना चाहिए.’

कुछ लोगों का



कहना है कि गोमंथ का अर्थ गौ को मारना नहीं है कि गोमंथ गोसांसाहार था। यह बात प्राचीन प्रमाणों की विद्यमानता में एक कपोल कल्पना के अतिरिक्त ज्यादा महत्त्व नहीं रखती। जब ब्राह्मण ग्रंथों में स्पष्ट तौर पर पशु के प्रत्येक अंग को काट कर भिन्नभिन्न पुरोहितों और यजमानों में बांटने का जिज्ञा है तब इसे गोवध न कह कर और क्या कहा जा सकता है?

कुछ लोग वेद के कुछ ऐसे स्थलों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत करते हैं जिन में गाय के साथ 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) विशेषण है। उस विशेषण से वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गाय नहीं मारी जाती थी। परंतु उन का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसे स्थलों में सिर्फ गाय विशेष के वध का निषेध है, न कि सभी गौश्रों के वध का निषेध है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित मंत्र देखा जा सकता है:

दुहामशिवभ्यां पगो अघ्नयेयं सा वर्धतां महते सौभगाय। (ऋ. 1/164/27)

अर्थात् "यह गौ दोनों अश्विनीकुमारों के लिए दूध देती है। यह हमारा सौभाग्य बढ़ाए। यह मारने के योग्य नहीं है।" यहां 'इमं' (यह) शब्द से गाय विशेष का बोध कराया गया है। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'वैदिक कोश' में कहा गया है कि अघ्न्या कहे जाने के बावजूद गाय मारी जाती थी। धर्मशास्त्रों के पंडित डा. पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है: "ऐसा नहीं था कि वैदिक समय में गौ पवित्र नहीं थी। उस की 'पवित्रता' के ही कारण वाजसनेयी संहिता (अर्थात् यजुर्वेद) में यह व्यवस्था दी गई है कि गोमांस खाना चाहिए।" (धर्मशास्त्र विचार, मराठी, पृ. 180)

वैदिक युग में गोमांसाहार

वैदिक युग में गोमांसाहार की विद्यमानता के कारण ही स्वामी विवेकानंद

ने उसे 'स्वर्णयुग' कहा था। स्वामी विवेकानंद ने लिखा है: "स्वामी विवेकानंद ने पुराण-पंथी ब्राह्मणों को उत्साहपूर्वक बतलाया कि वैदिक युग में गोमांसाहार प्रचलित था। जब एक दिन उन से पूछा गया कि भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कौनकौन सा काल था तो उन्होंने कहा कि वैदिक काल स्वर्ण-युग था, जब "पांच ब्राह्मण एक गाय चट कर जाते थे।" (देखें, स्वामी निखिलानंद कृत 'विवेकानंद ए बायोग्राफी.' (पृष्ठ 96)

उपनिषदों में भी गोमांस खाने का विधान मिलता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (6/4/18 में लिखा है:

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पंडितो विगीतः समर्तिगमः शुश्रूषितां वाचं भषिता जायेत सर्वान्वेदानुब्रवीत् सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाता-मोश्वरी जनयित्वा औक्षेण वार्षभेण वा।"

अर्थात् जो यह चाहे कि मेरा पुत्र सभाश्रों में वाग्मी (धाराप्रवाह बोलने वाला) और सब वेदों में पारंगत हो तथा शतायु हो, उसे चाहिए कि वह और उस की पत्नी बेल व सांड का मांस पका कर घी और भात मिला कर खाएं।

कुछ लोग उपनिषद में आए बेल या सांड वाचक शब्दों—औक्ष, आर्षभ—का अर्थ बदलने की कोशिश करते हैं। कई पुराणपंथी पंडितों ने इन शब्दों का अर्थ जड़ीबूटियां किया है, लेकिन उन के ऐसे प्रयास न सिर्फ प्राचीन टीकाकारों और भाष्यकारों के विपरीत हैं, बल्कि उप-हासास्पद भी हैं।

यह खुशी की बात है कि बृहदारण्यक उपनिषद पर एक ऐसे विद्वान का भाष्य विद्यमान है, जिसे लगभग 12-13 सौ साल पहले (कुछ के हिसाब से 23-24 सौ साल पहले) वेदविरोधी बुद्धमत को भारत से 'समूल नष्ट करने' व हिंदू धर्म की जड़ों



को फिर से गहरे गाड़ने का श्रेय दिया जाता है। उस के प्रतिनिधि आज भी भारत की चार दिशाओं में धर्म के सर्वोच्च अधिकारियों के रूप में विद्यमान हैं। वह व्यक्ति था—आदि शंकराचार्य। उस द्वारा किए हुए अर्थ आज तक सर्वमान्य चले आ रहे हैं। उन अर्थों के प्रकाश में 'श्रौक्ष' और 'आर्षभ' शब्दों के अर्थों से किया जा रहा खिलवाड़ अपनेआप नग्न हो जाता है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद के इस विवादास्पद स्थल पर भाष्य करते हुए लिखा है:

'मांसमिश्रीदनां मांसोदनम् । तन्मांसनियमार्थमाह—श्रौक्षेण वा मांसेन । उक्षा सेवनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम् । ऋषभस्ततोऽप्यधिकदधास्तदीयमार्षभं मांसम् ।'

अर्थात् मांसमिश्रित ओदन (भात) को मांसोदन कहते हैं। वह मांस किस का होना चाहिए। इस बारे में कहा है—उक्षा का। उक्षा का अर्थ है—वीर्य सिंचन में समर्थ बैल। उस का मांस होना चाहिए या ऋषभ का। ऋषभ उक्षा से ज्यादा उमर के बैल को कहते हैं।

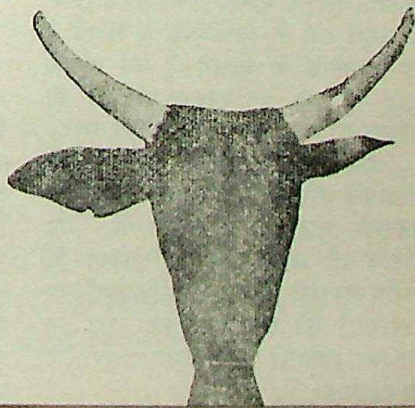
इस से अर्थ बदलने वालों के लिए जरा भी अवकाश नहीं रह जाता। स्पष्ट है कि उपनिषदों में वेदज्ञ, दीर्घायु और वाक्पटु पुत्र के चाहने वालों के लिए बैल के मांस को खाने का विधान है।

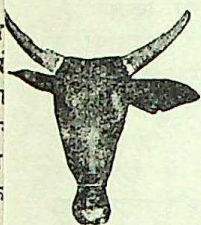
गृह्यसूत्रों में मधुपर्क का विधान है। मधुपर्क के संदर्भ में गृह्यसूत्रों में गाय को मारने और उसे खाने का उल्लेख मिलता है। कुछ गृह्यसूत्रों से संबंधित अंश इस प्रकार हैं:

'आपस्तम्ब गृह्यसूत्र' में लिखा है कि 'जब वेदज्ञ ब्राह्मण, कोई स्नातक या आचार्य घर पर आए, उस का 'मधुपर्क' से सम्मान करे। मधुपर्क दाता गाय उस के समक्ष करे। यदि वह आज्ञा दे तो 'गौरस्य-पहतपा' इत्यादि मंत्र पढ़ कर उसे मार कर आंगतुक को दे।' (देखें, उक्त पुस्तक, खंड 13, पटल 5, सूत्र 15, 16, 17)

'पारस्कर गृह्यसूत्र' (अर्हण प्रकार निरूपण) में लिखा है: 'आचार्य, ऋत्विक्, वैवाह्य, राजा, प्रियजन और स्नातक आदि उत्कृष्ट जाति के हों अथवा समान जाति के, अर्घ्य (पूज्य) होते हैं। इन में से कोई जब किसी के घर आए तो गृहपति को चाहिए कि इन का मधुपर्क आदि के द्वारा सत्कार करे। सत्कार मांस के बिना नहीं होता। अतः इस के लिए गवालंभ (गोवध करना) करने को कहा है। मधुपर्क प्राशन हो जाने पर गृहपति खड्ग और गौ पूज्य व्यक्ति के सामने करे। अर्घ्य, यदि मांस खाने वाला हो तो मारने की आज्ञा दे। यदि वह निरामिषभोजी हो तो छोड़ देने की आज्ञा दे। यज्ञ और विवाह में छोड़ने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए...' (देखिए,

प्राचीन भारत में
गोहत्या और गोमांसाहार का
प्रचलन था, लेकिन
आज हिंदू धर्म में इन दोनों को
ही महापाप समझा
जाता है। ऐसा कब से और
क्यों हुआ?





‘उत्तर रामचरित, चौखंभा प्रकाशन, वाराणसी, 1966 का संस्करण, पृ. 406 पर काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राध्यापक कांतानाथ शास्त्री की तैलंग टिप्पणी)।

तीन या चार अष्टका श्राद्धों में से किसी में एक गाय काटने की व्यवस्था थी। (देखें, खदिर गृह्यसूक्त 3/4/1, गोभिल गृह्यसूत्र 33/10/16),

कुछ लोग कहते हैं कि मधुपर्क में मधु, दही आदि दिए जाते थे, न कि मांस। गोमांस के मधुपर्क में दिए जाने का तो प्रश्न ही पंदा नहीं होता।

यह बात विद्यमान गृह्यसूत्रों के कथनों के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि मानव गृह्यसूत्र (पु. 1, खंड 9, सूत्र 21 में स्पष्ट लिखा है: ‘नामांसो मधुपर्क इति श्रुतिः’) अर्थात् मधुपर्क मांसरहित हो ही नहीं सकता, ऐसा बंदों का मत है।

दूसरे, हमारे पास एक ऐसा प्रमाण मौजूद है जिस में संवेह के लिए कोई अवकाश रह ही नहीं जाता। वह प्रमाण है ऐसे व्यक्ति की रचना, जो शंकराचार्य से भी पहले वैदिक कर्मकांड को फिर से स्थापित करने वाले कुमारिल भट्ट का शिष्य था। यह व्यक्ति था भवभूति। भवभूति ने अपने विख्यात संस्कृत नाटक ‘उत्तररामचरितम्’ के चतुर्थ अंक के विष्कम्भक में लिखा है कि वाल्मीकि के आश्रम में जब वसिष्ठ पहुंचे तो उन का सत्कार दो वर्ष की बछिया का मांस खिला कर किया गया।

इस पर वाल्मीकि के एक शिष्य सौधातकि को बहुत रोष हुआ। वह अपने सहपाठी भांडायन से कहता है, “यह वसिष्ठ तो कोई बाघ या भेंड़िया है, क्योंकि यह आते ही उस बेचारी कल्याणिका (बछिया) को चट कर गया।” इस पर उस का सहपाठी शास्त्रसम्मत उत्तर देते हुए कहता है:

समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्य-
मानाः श्रोत्रियाभ्यागताय वत्सरो महोक्षं
महाजं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः, तं हि
धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति।

अर्थात् मधुपर्क मांसयुक्त होना चाहिए, इस वेदवचन का बहुत सम्मान करते हुए गृहस्थगण वेदज्ञ अतिथि के लिए बछिया व बड़ा बैल अथवा बड़ा बकरा भेंट करते हैं। इस वेदवचन को धर्मसूत्रों के रचने वाले भी अच्छी तरह मानते हैं।

इस स्थल पर व्याख्या करते हुए ‘चंद्रकला’ नामक संस्कृत व्याख्या में ‘यज्ञ-वल्क्य स्मृति’ का एक श्लोकार्थ उद्धृत किया गया है—‘महोक्षं व महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्.’ अर्थात् बड़ा बैल या बड़ा बकरा वेद के विद्वान के निमित्त करे, उस के लिए खाने को जुटाए (देखें, चौखंभा प्रकाशन वाराणसी, का ‘उत्तर-रामचरित,’ चंद्रकला व्याख्या सहित, पांचवां संस्करण, पृ. 207)।

इसी बात को और ज्यादा स्पष्ट करते हुए वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है:

अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वा
अभ्यागताय वा महोक्षं वा महाजं वा
पचेत्. एवमस्यातिथ्यं कुर्वन्तीति (अ. 4)
अर्थात् और अपने यहां यदि ब्राह्मण अथवा राजा अतिथि बने तो उन के लिए एक बड़ा बैल या बड़ा बकरा पकाना चाहिए। इस तरह अतिथि का सत्कार किया करते हैं।

झुठलाने का असफल प्रयास

कुछ लोग स्मृतियों में आए ‘महोक्षं’ अथवा ‘महाजं’ शब्दों का अर्थ औषधि विशेष बताते हैं। यह उन द्वारा अपने पूर्वजों को गोहत्या के ‘पाप’ से मुक्त कराने के वथा प्रयास में झूठ बोलने का पाप अपने सिर लेने से अधिक और कुछ नहीं, क्योंकि वत्सरो (बछिया), महोक्ष (बड़ा बैल) या महाज (बड़ा बकरा) शब्दों का अर्थ यदि भवभूति को औषधि विशेष अमिश्रित होता तो उसे खाने पर उस का एक पात्र वसिष्ठ की उपमा बाघ से न करता।

क्या वाच उक्त औषधि विशेष को खाते हैं? कि चरक व सुश्रुत संहिता में वाच का उक्त औषधि विशेष को खाना लिखा है।

दूसरे, 'वसिष्ठ स्मृति' के पूर्वोद्धृत श्लोक के पूर्ववर्ती श्लोक भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि उक्त स्मृतिकार को 'महोक्ष' व 'महाज' शब्दों के अर्थ पशु-विशेष से अभिप्रेत हैं, न कि औषधि विशेष से। पूर्ववर्ती श्लोक इस प्रकार हैं:

पितृदेवातिथिपूजायां पशुं हिंस्यात् ।
मधुपर्कं च यज्ञे च पितृदेवतकर्मणि ।
यज्ञे वधोऽवधः ।

अर्थात् पितृ, देव और अतिथि पूजा के अवसर पर मधुपर्क, यज्ञ और पितृ-देव कर्मों में पशु की हिंसा करे। यज्ञ में किया गया वध वध नहीं होता।

अतः इन श्लोकों के बाद आए 'महाज' और 'महोक्ष' शब्द निःसंदेह 'बड़े बकरे' और 'बड़े बैल' के वाचक हैं।

एक बात और, संस्कृत में प्राचीन काल से अतिथि का पर्यायवाचक एक शब्द है—गोघ्न। इस का अर्थ है—गौ को मारने वाला। यह शब्द इस तथ्य का परिचायक है कि अतिथि के लिए गौ मारी जाती थी। अतिथि के साथ गोवध का बहुत समय तक सीधा संबंध रहने के कारण दोनों में तादात्म्य स्थापित हो गया और अतिथि के लिए 'गौ मारने/मरवाने वाला' (गोघ्न) शब्द प्रचलित हो गया।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि श्राद्ध में यदि गौ का मांस परोसा जाए तो पितरों की एक साल के लिए तृप्ति हो

जाती है। विभिन्न मांसों से होने वाली तृप्ति की विभिन्न अवधियां बताते हुए आपस्तम्ब में लिखा है:

संवत्सरं गव्येन प्रीतिः, भूयांसमतो माहि-
षेण, एतेन ग्राम्यारण्यानां पशूनां मांसं मेध्यं
व्याध्यातम् । खड्गोपस्तरणे खड्गमांसेना-
नन्त्यं कालम् । तथा शतबलेर्मत्स्यस्य मांसेन
वाध्रीणसस्य च (आ. ध. सू. 2/7/16/25
एवं 2/7/17/3)।

अर्थात् श्राद्ध में गोमांस खिलाने से पितर एक वर्ष के लिए संतुष्ट हो जाते हैं। भैंस का मांस खिलाने से वे उस से भी ज्यादा समय के लिए संतुष्ट होते हैं। यही नियम खरगोश आदि जंगली पशुओं और बकरी आदि ग्रामीण पशुओं के मांस के विषय में है। यदि गंडे के चर्म पर ब्राह्मणों को बैठा कर गंडे का ही मांस खिलाया जाए तो पितर अनंत काल के लिए संतुष्ट हो जाते हैं। यही बात 'शतबलि' नामक मछली के मांस के विषय में है।

कुछ ऐसा ही वचन महाभारत में भी आया है:

गव्येन दत्तं श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते ।
(अनुशासन पर्व, अ. 88, श्लो. 5)

अर्थात् गौ के मांस से श्राद्ध करने पर पितरों की एक साल के लिए तृप्ति होती है।

पुराणों और स्मृतियों में श्राद्ध में परोसे गए मांस को न खाने वाले के लिए नरकगमन लिखा है। मनु ने लिखा है:

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो
मांसं नाति मानवः ।

स प्रेत्य पशुतां याति

प्राचीन संस्कृति के अनुसार अतिथि
के लिए गौ मारी जाती थी। अतिथि के साथ गोवध
का बहुत समय तक सीधा संबंध
रहने के कारण दोनों में तादात्म्य स्थापित हो गया
और अतिथि के लिए 'गौ मारने/
मरवाने वाला' शब्द प्रचलित हो गया।

जातक कथाओं में बैलगौ मारने वाले
ब्राह्मण ही हैं। एक भी क्षत्रिय बैल या गौ का वध,
पूजा या भोजन नहीं करता, वैश्य
भी नहीं और न शूद्र या चांडाल ही गोहत्या
करते हैं। ब्राह्मण ही जातक
युग का गोहत्यारा वर्ण है।

सम्भवानेकाविंशतिम् ॥ (5/35)
अर्थात् जो श्राद्ध और मधुपर्क में
परोसे गए मांस को नहीं खाता, वह मर
कर 21 जन्मों तक पशु बनता है।

कृतो श्राद्धे नियुक्तो वा अनशनन्
पतति द्विजः । (मनु. 3/55)

अर्थात् यज्ञ और श्राद्ध में जो द्विज
मांस नहीं खाता, वह पतित हो जाता है।

ऐसी ही बात कर्मपुराण (2/17/40)
में कही गई है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण
(1/140/49-50) में कहा गया है कि
जो व्यक्ति श्राद्ध में भोजन करने वालों की
पंक्ति में परोसे गए मांस का भक्षण नहीं
करता, वह नरक में जाता है। (देखें, धर्म-
शास्त्रों का इतिहास, जिल्द 3, पृ. 1244)

महाभारत में गौओं के मांस के हवन
से राज्य को नष्ट करने का जिक्र है। दाल्भ्य
को राजा धृतराष्ट्र ने कहा :

यदृच्छया मृता दृष्ट्वा
गास्तदा नृपसत्तम 18।

एतान् पशून् नय क्षिप्रं
ब्रह्मबन्धो यदीच्छसि 19।

स तूत्कृत्य मृतानां वै
मांसानि मुनिसत्तम 111।

जुहाव धृतराष्ट्रस्य
राष्ट्रं नरपतेः पुरा ।

अवाकीर्णं सरस्वत्यास्तौथं
प्रज्वालय पावकम् 112।

बको दाल्भ्यो महाराज
नियमं परमं स्थितः ।

स तैरेव जुहावास्य
राष्ट्रं मांसमहातपाः 113।

तस्मिंस्तु विधिवत् सवे
सम्प्रवृत्ते मुदाहणे ।

अक्षीयत ततो राष्ट्रं
धृतराष्ट्रस्य पाथिव 114।
(शल्पपर्व, अ. 41)

अर्थात् इन मृत गौओं को यदि ले
जाना चाहते हो तो ले जाओ। दाल्भ्य ने
उन मृत गौओं का मांस काटकाट कर
सरस्वती के किनारे अवाकीर्ण नामक
तीर्थस्थल पर अग्नि जला कर हवन किया।
विधिपूर्वक यज्ञ के संपन्न होने पर राजा
धृतराष्ट्र का राज्य क्षीण हो गया।

शांतिपर्व में राजा विचरक्षु कटे हुए
वृक्षों की तरह यज्ञ में कटे पड़े बैलों को देख
कर और गौओं का विलाप सुन कर
विचलित हो जाता है और उन के प्रति
दया दिखाते हुए कहता है—गौओं का
कल्याण हो।

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा
विलापं च गवां भृशम् 11।

गोग्रहे यज्ञवाटस्य
प्रेक्षमाणः स पाथिवः 12।

स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोके
ततो निर्वचनं कृतम् 13।

(अ. 265)

महाभारत में रंतिदेव नामक एक
राजा का वर्णन मिलता है जो गोमांस
परोसने के कारण यशस्वी बना। महाभारत,
वन पर्व (अ. 208 अथवा अ. 199)
में आता है :

राज्ञो महानसे पूर्वं
रन्तिदेवस्य वै द्विज ।

द्वे सहस्रे तु वध्येते
 पशूनामन्वहं तदा ।
 अहन्यहनि वध्येते
 द्वे सहस्रे गवां तथा ॥
 समांसं ददतो ह्यनं
 रन्तिदेवस्य नित्यशः ।
 अतुला कीर्तिरभव

नृपस्य द्विजसत्तम 18-10 ।

अर्थात् राजा रन्तिदेव की रसोई के लिए दो हजार पशु काटे जाते थे. प्रतिदिन दो हजार गौएँ काटी जाती थीं.

मांस सहित अन्न का दान करने के कारण राजा रन्तिदेव की अतुलनीय कीर्ति हुई.

इस वर्णन को पढ़ कर कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि गोमांस दान करने से यदि राजा रन्तिदेव की कीर्ति फैली तो इस का अर्थ है, गोवध सराहनीय कार्य था, न कि आज की तरह निन्दनीय.

एक आँट पैंतरा

जो लोग आज ऐसे दूसरे स्थलों के अर्थ किसी न किसी तरह बदलने की कोशिशें करते हैं, वे भी पूर्वोद्धृत श्लोकों के अर्थ बदलने में पूर्णतया असमर्थ हैं. यही कारण है कि उन्होंने इस स्थल के विरोध में एक और पैंतरा बदला है. उन का कहना है कि ये श्लोक सब प्रतियों में नहीं मिलते, अतः ये विधर्मियों द्वारा बाद में मिलाए गए हैं. लेकिन उन की यह बात भी सही नहीं, क्योंकि ये श्लोक शोधपूर्ण संस्करणों में मिलते हैं. उदाहरण के लिए ये श्लोक चित्रशाला संस्करण के 208 वें अध्याय में हैं, और भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट संस्करण के 199 अध्याय में हैं. भारतीय विद्या भवन, बंबई के प्रसिद्ध प्रकाशन, 'दि हिस्ट्री एंड कलचर आफ दि इंडियन पीपल' में भी, जिस के मुख्य संपादक आर. सी. मजुमदार हैं, इन श्लोकों की बंधता स्वीकारी गई है. इस पुस्तक की जिल्द 2 में लिखा है: "महाभारत में आता है कि राजा रन्तिदेव

लोगों को मांस भेंट करने के लिए प्रतिदिन दो हजार सामान्य पशु और दो हजार गाएँ मारा करता था." (पृ. 579)

दूसरे, रन्तिदेव का उल्लेख महाभारत में अन्यत्र भी आता है. शांति पर्व, अध्याय 29, श्लोक 123 में आता है कि राजा रन्तिदेव ने गौओं की जो खालें उतारीं, उन से रक्त चूँच कर एक महानदी बह निकली थी. वह नदी चर्मण्वती (चंबल) कहलाई. महानदी चर्मराशेःत्वलेदात संसृजे यतः । ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥

कुछ लोग इस सीधेसादे श्लोक का अर्थ बदलने से भी बाज नहीं आते. वे इस का अर्थ यह कहते हैं कि चर्मण्वती नदी जीवित गौओं के चमड़े पर दान के समय छिड़के गए पानी की बूंदों से बह निकली.

इस कपोलकल्पित अर्थ को शायद कोई स्वीकार कर ही लेता यदि कालिदास का मेघदूत नामक प्रसिद्ध खंडकाव्य हमारे पास न होता. 'मेघदूत' में कालिदास ने एक जगह लिखा है—

व्यालम्बेथाः सुरभितनया आलम्भजाम्
 मानयिष्यन् ।

स्रोतोमृत्यां भुवि परिणताम् रन्तिदेवस्य
 कीर्तिम् ।

यह पद्य पूर्वमेघ में आता है. विभिन्न संस्करणों में इस की संख्या 45 या 48 या 49 है. इस का अर्थ है: "हे मेघ, तुम गौओं के आलम्भन (कत्ल) से धरती पर नदी के रूप में बह निकली राजा रन्तिदेव की कीर्ति पर अवश्य झुकना."

इस में स्पष्ट तौर पर गौओं के आलम्भन (कत्ल) के परिणामस्वरूप नदी के बहने का उल्लेख है. कुछ लोग इस पर भी कह सकते हैं कि आलम्भ का अर्थ कत्ल नहीं है. उन्हें 'मेघदूत' के प्राचीन टीकाकार (समय लगभग 14वीं सदी) मल्लीनाथ की इस स्थल पर की गई टीका देखनी चाहिए.



मल्लोनाथ ने लिखा है : पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य गवालम्भे ध्वेकत्र संभृताद् रक्तनिष्यन्दाच्चर्मराशोः काचिन्नदी सस्यन्दे. सा चर्मण्वतीत्याख्यायत इति.

अर्थात् प्राचीन काल में राजा रन्तिदेव ने गौओं का आलंभ (कत्ल) किया. उस के परिणामस्वरूप इकट्ठी हुई खालों से रक्त का प्रवाह नदी की तरह बहने लगा. वह रक्त की नदी चर्म (खालों) से बही थी. अतः 'चर्मण्वती' कहलाई.

महाभारत में भी अन्यत्र रन्तिदेव के प्रसंग में 'आलंभ' शब्द का प्रयोग मिलता है. वहां लिखा है कि एक दिन राजा रन्तिदेव के बहुत से मेहमान आ गए, अतः उस ने 20,100 गौएं कत्ल कीं :

सांक्रुते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे ।
आलभ्यन्त शतं गवां सहस्राणि च विंशतिः ॥

(शांतिपर्व, अ. 29, श्लोक 179)

लेकिन अर्थ बदलने को तत्पर धर्म-रक्षक बंधु 'आलंभ' का अर्थ बदलते हुए कहते हैं कि 'आलंभ' का अर्थ है—“हाथ से छू कर दान कर देना, न कि कत्ल करना.” इस अर्थ को स्वीकारा जा सकता था, बशर्ते कि धर्मशास्त्रों में कुछ एक श्लोक विशेष न मिलते. लेकिन क्योंकि वे श्लोक विशेष मिलते हैं, और उन के अर्थ सब लोग एक समान करते हैं—अर्थ बदलने वाले भी और हमारे जैसे दूसरे भी—अतः कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति 'छू कर दान देना' अर्थ स्वीकार नहीं कर सकता. वे श्लोक हैं परवर्ती काल में रचित स्मृतियों के. इन में कई ऐसे संस्कारों व रिवाजों की गणना की गई है कि जिन्हें कलियुग में निषिद्ध ठहराया गया है. आपस्तम्ब कल्पसूत्र पुराण में है :

अश्वालम्भं गवालम्भं
संन्यासं पलपैतुकम् ।
देवराच्च मुतोत्पत्तिः
कलौ पंच विवर्जयेत् ।

अर्थात् 'अश्व का आलंभ, गौ का आलंभ, संन्यास, आढ़ में मांस परोसना, देवर से

नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करवाना—इन पांचों को कलियुग में न करे.' यह श्लोक ब्रह्मवैवर्तपुराण (अ. 115/112-13) में भी मिलता है.

धर्मग्रंथों में हत्या के प्रसंग

इस श्लोक को संस्कृत के एक प्राचीन शब्दकोश 'शब्दकल्पद्रुम' में भी उद्धृत किया गया है, और 'आलंभ' का अर्थ उसी कोश में एक अन्य प्राचीन कोश—'अमर-कोष' के हवाले से 'मारना' या 'बंध करना' लिखा गया है. कलियुग में उपर्युक्त पांचों के निषेध का कारण इन का आपत्तिजनक होना ही है. यदि इस में 'गवालंभ' का अर्थ 'गौ का बंध करना' न हो कर उसे 'छू कर दान कर देना' ही होता तो इसे कलियुग में वर्जित न किया जाता, क्योंकि गोदान का विधान तो धर्मग्रंथों में बहुत मिलता है, और वह दान अपने हाथ से ही किया जाता है. गौ का दान करने वाला अपने हाथ से ही दान ग्रहण करने वाले ब्राह्मण के हाथ में गाय देता है.

एक अन्य ग्रंथ 'बृहन्नारदीय' में लिखा है :

... मधुपर्कं पशोवर्धः, मांसोदनं तथा
आढ़े, नरमेधाश्वमेधकौ... गोमेधं मखं
तथा, इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहः
मनीषिणः ।

अर्थात् मधुपर्क में पशु मारना, आढ़ में मांस और भात देना, नरमेध, अश्वमेध और गोमेध मख (यज्ञ) करना—ये सब कलियुग में वर्जित हैं.

यहां 'गोमेध' मख को कलिबर्ज्य लिखा है. 'मेध' का अर्थ है—हिंसा या बध. यह मेध धातु से बना है, जो हिंसा वाचक है. गोमेध का अर्थ हुआ—गाय का बध. 'गोमेध मख' का अर्थ हुआ—ऐसा यज्ञ जिस में गाय का बध होता हो. स्पष्ट है, 'गवालंभ' का अर्थ है—गौओं को मारना.

जिस तरह हिंदू ग्रंथों में गौओं और बलों की हत्या के प्रसंग मिलते हैं, ऐसे ही बौद्ध साहित्य में भी मिलते हैं. बौद्ध जातकों



में से ऐसे दो प्रसंग निम्नलिखित हैं :

एक निर्ग्रन्थ (जैन) साधु बन गया. वहां पांच सौ विद्यार्थी अध्ययन करते थे. वह साधु गोह, बछड़ा और गाय मार कर खा गया. आश्रम में गाय थी और उस का एक बछड़ा भी था. पास के ही बिल में गोह रहती थी. उस ने सब को खा डाला. (तित्तिर जातक, पृ. 438).

जातक युग का हत्यारा

बैल की हत्या कर के यज्ञ करने का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में मिलता है. एक ब्राह्मण था जो वेदों का परम विद्वान था. उस ने वन में एक कुटिया बनाई. वहां अग्नि की स्थापना कर के और बैल मार कर उस ने उस के मांस को आहुति देने का निश्चय किया. कुछ शिकारी आए और ब्राह्मण की अनुपस्थिति में बैल को मार कर खा गए. ब्राह्मण गांव की ओर नमक लाने गया था. बैल को मार कर वह खाता ही, इसलिए उस ने नमक के जुगाड़ को वाजिब समझा. अभाग की वह साध भी पूरी न हुई. बैल की हत्या कर के अग्नि-पूजा करना कोई विचित्र बात नहीं है. जहां फल, मूल, अन्न से भी मांस सस्ता हो और सभी मांस खाते हों, वहां बैल, गाय, सूअर, गोह आदि का कोई महत्व नहीं. (नडजुट्ठजातक, पृ. 144)

‘जातक कालीन भारतीय संस्कृति’ के लेखक का मत है :

“जातक कथाओं में बैलगौ मारने वाले ब्राह्मण ही हैं. एक भी शत्रु बैल या गऊ का वध पूजा या भोजन के लिए नहीं करता, वेश्य भी नहीं और न शूद्र या चांडाल ही गोहत्या करते हैं. ब्राह्मण ही जातक युग का गोहत्यारा वर्ण है.” (पृ. 216).

ऊपर के प्रमाणों से, जो वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, गृह्यादियों और धर्मशास्त्रों से लिए गए हैं, निःसंदेह यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में गोहत्या और गोमांसाहार का प्रचलन था.

लेकिन आज हिंदू धर्म में इन दोनों

को महापाप समझा जाता है. ऐसा कब से और क्यों है, यह प्रश्न स्वाभाविक तौर पर दिमाग में तैरने लगता है, लेकिन इस का उत्तर बहुत सरल है. डाक्टर



भीमराव अंबेडकर ने अपने शोध ग्रंथ ‘दि अनटचेबल्स’ में इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है. उन्होंने लिखा है कि यह ब्राह्मणों की युद्धनीति का एक अंग है कि वे गोमांसाहारी न बने रह कर गोपूजक बन गए. ‘गोपूजा’ के रहस्य का मूल बौद्धों और ब्राह्मणों के मध्य 400 वर्षों तक चले संघर्ष में तथा उन उपायों में खोजना होगा जो ब्राह्मणों ने बौद्धों से बाजी मार ले जाने के लिए किए. यज्ञों में गोवध का विरोध कर के बौद्धों ने जनता के हृदय में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था. उन्हें हराने का एक ही तरीका था कि वे उन से एक कदम आगे बढ़ कर शाकाहारी बन जाते. वे शाकाहारी बने और जीते. इस का प्रमाण यह है कि गोहत्या गुप्त राजाओं के राज्यकाल में अपराध बनी.

डी. डी. आर. भंडारकर का कहना है, “इस बात का हमारे पास शिलालेखों का अक्राट्य प्रमाण है कि गोहत्या पांचवीं शताब्दी में भयानक पाप बनी. सब से पहला ऐसा उल्लेख गुप्त राजा स्कंदगुप्त के 465 ईसवी के ताम्रपत्र लेख में है (दि अनटचेबल्स, पृ. 148-54). इस काल से पहले के धर्मशास्त्रों में गाय की हत्या अपराध नहीं थी. इसी लिए वसिष्ठ का कथन है : ‘धेन्वनड्वाहो मेध्यो वाजसनेयने’ अर्थात् वाजसनेय (यजुर्वेदियों) के मत में गाय और बैल मेध्य अर्थात् भक्ष्य हैं. इसी प्रकार मनुस्मृति (5-18) में एक और दांत वालों में केवल ऊंट को अभक्ष्य कहा है—उष्ट्रांश्चैकतो दंतः. इस में गाय को अभक्ष्य नहीं कहा गया.

मनु अध्याय 3 में गौ से बने मधुपर्क से

पूजने की बात करता है. तं... अर्हयेत्प्रथमं गवा (3/3).

अर्थात् उस को गौ से पूजा करे.

इस पर एक प्राचीन भाष्यकार कुल्लूक भट्ट (1150-1300) ने लिखा है : गोसाधनमधुपर्कं पूजयेत्. अर्थात् उस को गौ से बनने वाले मधुपर्क से पूजा करे.

मनुस्मृति का समय विद्वानों ने दूसरी शताब्दी के इर्दगिर्द माना है. इस के बाद धीरेधीरे गोहत्या के प्रति पापबुद्धि पैदा हो गई, जिस का प्रमाण मनुस्मृति में मिलने वाला एक श्लोक है. मनुस्मृति के अध्याय ग्यारह के 59वें श्लोक में जिन मामूली पापों (उपपातकों) की सूची है, उन में गोवध भी गिना गया है. यह श्लोक बाद में जोड़ा गया है, क्योंकि मनु अध्याय पांच में एक ओर दांत वालों में सिर्फ ऊंट को अभक्ष्य घोषित करता है.

पांचवीं सदी से पूर्व

यहां यह उल्लेखनीय है कि मनु ने अध्याय 11 के श्लोक 54 में बड़े पापों (महापातकों) की भी गणना की है, लेकिन उन में गोहत्या को नहीं गिना गया है. मनु के अतिरिक्त आपस्तम्ब, याज्ञवल्क्य और दूसरे कई स्मृतिकार ऋषियों ने भी गोहत्या को उपपातकों में ही गिना है. पांचवीं शताब्दी के लगभग गोहत्या महापाप बनी—गुरुहत्या और ब्राह्मणहत्या के तुल्य.

यहां यह संकेत करना मनोरंजक होगा कि यद्यपि पांचवीं शताब्दी के इर्दगिर्द गोहत्या महापाप बन गई थी, तथापि इस समय के बाद रचे गए पुराणों में गोवध और गोमांसाहार के कई उल्लेख मिलते हैं. संभवतः इन के लेखक वेद से ले कर पांचवीं शताब्दी से पहले तक बने ग्रंथों से प्रभावित थे, अथवा उन्होंने वे वर्णन पांचवीं शताब्दी से पूर्व के काल से संबंधित समझ कर किए होंगे. उदाहरणार्थ विष्णु पुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण के निम्नलिखित स्थल देखे जा सकते हैं :

हविव्यमत्स्यमांसंस्तु शशस्य नकुलस्य च ।

सौकरच्छागलंण्य रोरवंगवयेन च ॥ 11॥
औरभ्रगव्यश्च तथा मांसवृद्ध्या पितामहाः ।
प्रयान्ति तृप्तिं मांसंस्तु नित्यं वाधीन-
सामिषैः ॥ 2॥ (विष्णु पुराण 3/16/1-2)

अर्थात् हवि (हवन में छोड़ी जाने वाली आहुति के द्रव्य), मत्स्य (मछली), शशक (खरगोश), नकुल (नेवला), शूकर (सूअर), छाग (बकरा), कस्तूरिया मृग, कृष्ण मृग, गवय (वनगाय) और गाय के मांसों से पितृगण क्रमशः एकएक मास अधिक लाभ करते हैं और गंडे के मास से सदा तृप्त रहते हैं.

पंचकोटि गवां मांसं सापूपं स्वात्तमेव च ॥ 98॥
एतेषां च नदी राशि भुंजते ब्राह्मणान्मुने ॥ 99॥
(ब्रह्मवैवर्त पु., 1 प्रकृति खंड, अ. 61)

अर्थात् पांच करोड़ गायों का मांस व मालपुए ब्राह्मण लोग खा गए.

प्रकृति खंड में महादेव सुयज्ञ नामक राजा का वर्णन करते हैं, जिस के राज्य में सुपक्व मांस ब्राह्मणों के लिए नित्य दिया जाता है.

सुपक्वानि च मांसानि ब्राह्मणेभ्यश्च
पार्वति ॥ 50/12॥

रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने उस के विवाह की तैयारी के प्रसंग में कहा :
गवां लक्षं छोदनं च हरिणानां द्विलक्षकम् ।
चतुर्लक्षं शशानां च कूर्माणां च तथा कुह ।
॥ 61॥

दशलक्षं छागलानां भेटाना तच्चतुर्गुणम् ।
॥ 62॥

एतेषां पक्वं मांसं भोजनार्थं च कारय ॥ 63॥
(अ. 105)

अर्थात् एक लाख गाएं, दो लाख हरिण, चार लाख खरगोश और चार लाख कछुए, दस लाख बकरे तथा उन से चौगुने भेड़ इन सब पशुओं का मांस पक्वा कर भोजन तैयार करवाए.

आदि मनु के एक यज्ञ का वर्णन करते हुए 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' लिखता है :

ब्राह्मणानां त्रिकोटीश्च भोजयामास
नित्यशः । 48॥

पंचलक्षगवां मांसं सुपक्वंघृतसंस्कृतं ।

अर्थात् मनु यज्ञ में तीन करोड़ ब्राह्मणों को भोजन करवाया करता था। उन्हें घी में तला और अच्छी तरह पका पांच लाख गौओं का मांस तथा दूसरे चूसने, चाटने और पीने योग्य दुर्लभ पदार्थ परोसे जाते थे।

कई लोगों का कहना है कि जो जो प्रमाण आप ने प्रस्तुत किए हैं, वे ठीक हैं, हमारे ग्रंथों में भी मिलते हैं, लेकिन ये वाम-मार्गियों द्वारा बाद में उन में घुसेड़े गए थे।

इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्राचीन भारत की तो क्या, अभी पिछली सदी तक शिक्षा परंपरागत रूप में गुरुमुख से प्राप्त की जाती थी। छापेखाने थे नहीं, अतः ग्रंथ गुरुओं के आश्रमों या राजाओं के पुस्तकालय में ही रहते थे। किसी पुस्तक की एक प्रति प्राप्त करने में बहुत कठिनाता का सामना करना पड़ता था। हर पुस्तक की हर प्रति में तथा-कथित वाममार्गियों ने गोहत्या और गोमांसाहार विषयक श्लोक, कहानियां और अध्याय कैसे घुसेड़ दिए? दूसरे, प्राचीन टीकाकारों और भाष्यकारों ने इन स्थानों पर निर्विकार भाव से व्याख्यान लिखे हैं और इन्हें कहीं भी प्रक्षिप्त व धर्मविरुद्ध नहीं कहा। इस के विपरीत, बीसवीं सदी के आरंभ तक स्वामी विवेकानंद जैसे प्रबल हिंदू धर्म प्रचारक इन का समर्थन करते रहे हैं। ऐसे में या तो यह मानना होगा कि भारत

किसी समय सारे का सारा वाममार्गी बन गया और हमारे पूर्वजों ने खुदबखुद अपने ग्रंथों में परिवर्तन कर लिए थे या यह मानना होगा कि स्वामी विवेकानंद सहित दूसरे बहुत से टीका व भाष्य करने वाले धर्मगुरु व धर्मप्रचारक वाममार्गी थे। यदि पहले विकल्प को मानें तो स्वीकारना होगा कि हमारा वर्तमान हिंदू धर्म हमारे पूर्वजों के धर्म का विरोधी है और हमें प्राचीन धर्मग्रंथ त्यागने होंगे—यदि दूसरा विकल्प मानें तो हमें स्वामी शंकराचार्य, विवेकानंद, आदि धर्माचार्यों और उन की रचनाओं को नकारना होगा। लेकिन क्या तब हिंदू धर्म नाम की कोई चीज बचेगी?

तोसरा विकल्प, जो ज्यादा समीचीन प्रतीत होता है, यह है कि गोहत्या और गोमांसाहार एक ऐतिहासिक सचाई है, और इन का निषेध बौद्धों से संघर्ष के दौरान सामरिक नीति के तौर पर इतिहास के चरण में अपनाया गया। तब तो ब्राह्मणवाद जीत गया था, लेकिन गौ को जब सामरिक नीति के तौर पर मुसलमानों ने प्रयुक्त किया तब देश गुलाम हो गया और गोहत्यानिषेध देश को ले बंठा। आज इस के निषेध और प्रचलन पर वर्तमान परिस्थितियों के मद्देनजर पुनर्विचार होना चाहिए। इस समस्या को राजनीतिक लाभ उठाने या सांप्रदायिकता की आग भड़का कर लीडरो चमकाने के लिए प्रयुक्त करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। ●

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी हो या किसी समाज को भत्सना करनी हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए, मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी यानी धन की बुराई की है, पर किसी धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या करें? धर्म के धंधेबाजों की बांट दो. क्यों? भगवान् खुश होंगे. तो क्या धन कमाने वाले के पास धन देख कर भगवान् नाराज होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान् व धर्म के धंधेबाजों एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता है तो घृणायोग्य बन जाता है.” पर क्या बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए. बिना पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है? आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को रोजगार में लगाने के लिए कम से कम 10,000 रुपए की पूँजी चाहिए. बिना पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह सकता है. रोजगार बिना पूँजी के नहीं हो सकता. बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती. मानसिक व शारीरिक सुख बिना पूँजी नहीं मिल सकता.

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती. धन बिना सेहतन किए नहीं आता. और आसानी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी नहीं बन सकता. व्यक्ति ही पूँजी बनाता है, वह ऊपर से नहीं टपकती. सरकार (यानी राजनीतिबाज) उसे जल्द कर सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना नहीं सकती.

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है. जब तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में रोजगार बढ़ेगा, न बेकारी कम होगी और न ही समृद्धि आएगी.

जिस देश में करोड़ों लोगों को भरोसा भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और पूँजीपतियों को गालियाँ दे कर राजनीतिबाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन का पेट नहीं भर सकते. उन का पेट तो तभी भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने और उद्योगधंधे होंगे. और वे तब होंगे जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी. याद रखिए, पूँजी और गरीबी का आपस में बैर है. पर राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजीपति का बैर बना दिया है.

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए. पूँजी व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में लगिए. दूसरों को रोजगार दीजिए. यदि व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग सर्टिफिकेट खरीद कर. वैसे समाजवाद यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध नहीं बन सकता. इस से केवल राजनीतिबाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है.●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए.

हिंदी साहित्य का गलत इतिहास

● सुदर्शन चोपड़ा

क्या रूढ़िवादी संस्कृति का इतिहास सही मार्ग दर्शक है?

रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखा हुआ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' जहांतहां पाठ्यक्रमों में निर्धारित है लेकिन इस में इतिहासपन उतना नहीं जितनी कि पक्षपातपूर्ण समीक्षा है. जितना कुछ इतिहासपन है भी वह अप्रमाणिक है. शुक्लजी ने बहुत ही मोटे तौर पर उभरी हुई प्रवृत्तियों को आधार बना कर अपनी निजी पसंद के कुछ कवियों की प्रशस्तियां ही अधिक गाई हैं.

शुक्लजी द्वारा जिन कवियों की सब से अधिक प्रशस्तियां गाई गई हैं, उन में तुलसी, जायसी और सूर के नाम सब से ऊपर हैं और इन्हें सर्वश्रेष्ठ मानने का जो कारण शुक्लजी बताते हैं वह यह कि इन कवियों की रचनाओं में मध्ययुग की जनता के वास्तविक धर्म के दर्शन होते हैं.

लेकिन यह बात एकदम निराधार है. शुक्लजी जिसे जनसाधारण का धर्म मान कर चले हैं, वह वास्तव में जनविरोधी धर्म है, क्योंकि वह मध्ययुग के सवर्ण हिंदुओं का जाति धर्म था. असली धर्म तो तब भी समकालीन जनमान्य के आचार-विचार थे, जो कि ऊंची जाति के मुट्ठी भर हिंदुओं के धर्म आचार से एकदम अलग बलिक विरोधी थे.

शुक्लजी मध्यकाल के उस नकली धर्म के पक्षधर थे तथा उसी गद्दीबोती रूढ़िप्रस्त संस्कृति को फिर से जीवित करने की

कोशिश उन्होंने की. यही काम उन के समकालीन धर्मप्रचारक भी कर रहे थे. इस प्रकार के चिंतन वाले विचारक यदि जनसामान्य के धर्म की बातें करते भी बिखाई पड़ते हैं तो सिर्फ इसलिए की जनता तथा जनकल्याण जैसे शब्द उस काल के मुहावरे बन चुके थे, और वक्त के मुहावरे रट कर ही बाहवाही लूटी जा सकती थी.

बंसे असलियत तो यह थी कि इस मानसिक रुझान वाले विचारक अपने दकियानूसी अतीत की गुफा में स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते थे. यही कारण था कि वे अपने उच्च वर्ग के संस्कारों से अलग न हट सके. लेकिन विरोध की संभावनाओं को टाले रहने के लिए मान-वता तथा जनहित जैसी लफ्फाजी करते रहते थे.

शुक्लजी अगर वास्तव में जनहित या जनता के धर्म के समर्थक रहे होते तो उन के लिए यह जरूरी था कि वे ऐसे पुराने पड़ गए 'धर्म' के प्रति मोह के तमाम छिलकों को बेरहमी के साथ छील डालते. लेकिन इस के विपरीत उन्होंने मध्ययुग के झूठे धर्म को उछालने में सब से अधिक शक्ति लगा दी.

शुक्लजी में भी अन्य कोरे सिद्धांत-वादी विचारकों की तरह ध्यावहारिक तथा ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि का

अभाव था। इसीलिए किसी भी चीज का विश्लेषण करते समय उन की दृष्टि न तो राजनीति पर पड़ी, न अर्थनीति पर। और यही कारण था कि उन की नजर ऐसी साहित्यिक कृतियों पर नहीं टिक सकी जो वास्तव में समाज हितकारी थीं, बल्कि उल्टे ऐसी कृतियों पर अटक कर रह गई जो समाज विरोधी विचारधारा का प्रचार करने के लिए रची गई थीं। 'मद्मावत' तथा 'मानस' जैसे काव्यों को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के पीछे ठीक यही दृष्टी काम कर रही थी। उस जमाने के यानी मध्ययुग के जनसाधारण के धर्म की अगर सहीसही जानकारी प्राप्त करनी हो तो वह हमें तुलसी, जायसी या सूर की रचनाओं में नहीं मिल सकती। बल्कि इन की अपेक्षा तो सिद्ध तथा संत कवियों की रचनाएं तत्कालीन जनमानस के अधिक करीब पड़ती हैं।

कैसा आचार्यत्व?

अतः स्पष्ट है कि शुक्लजी यदि अपने इतिहास में जनता के इतिहास को खोजना चाहते होते तो तत्कालीन निर्गुण धारा के कवियों पर अधिक विचार करते, न कि सगुण कर्मकांडी वैष्णव भक्तों की रचनाओं की महानता बखानने में लगे रहते।

केवल इतना ही नहीं, शुक्लजी ने तो उल्टे यह किया कि जिन ग्रंथों में जन-सामान्य के धर्म का चित्रण हुआ है, उन को 'लोकधर्म विरोधी' कह कर तिरस्कृत कर डाला। उदाहरणार्थ कबीर की बानी को लिया जा सकता है।

सांप्रदायिक भावनाओं तथा जातीय संकीर्णताओं का खुलकर विरोध करने वाले कबीर आदि कवियों पर शुक्लजी जब 'सांप्रदायिक' होने का आरोप लगाते हैं, और इन में 'सामाजिक सद्भावना तथा सहृदयता की कमी' बताते हैं तो आचार्य शुक्ल अपने किस आचार्यत्व का परिचय देते हैं, इस का निर्णय शुक्लजी के सम-

यक स्वयं ही कर सकते हैं।

'हिंदी साहित्य का इतिहास' में शुक्लजी द्वारा जो काल विभाजन किया गया है, वह तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का ठीकठीक प्रतिनिधित्व भी नहीं कर पाता तथा न ही उन परिस्थितियों के साथ उन साहित्यकारों का तालमेल बैठ पाता है जिन का उल्लेख शुक्लजी ने किया है।

डाक्टर नामवरसिंह के अनुसार भी "शुक्लजी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियां तथा साहित्यकार साथसाथ रखे जाने पर भी एक-दूसरे से अलग हैं। जिस युक्ति से वे परिस्थिति से उत्पन्न बताए जाते हैं, वह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती, जैसे भक्त कवियों को मुसलमानी शासन से उत्पन्न बताना। युग विभाजन करने में उन का औसतवाद वाला सिद्धांत भी इसी अलगाव का परिणाम है और उन के दृष्टिकोण की असंगति को और भी उभार कर रखता है। एक ही परिस्थिति में विभिन्न कार्य प्रवृत्तियों के अस्तित्व की संगति बंधाने में वे असमर्थ थे, क्योंकि उन्हें उन परिस्थितियों में पलने वाली परस्पर विरोधी, विविध सामाजिक शक्तियों के अंतर्विरोध का पता न था। इसलिए उन्हें अपने इतिहास के हर युग में एक फुटकर खाता खोलना पड़ा।"

इस संदर्भ में गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' अपने ग्रंथ 'समीक्षा प्रवर रामचंद्र शुक्ल' में कहते हैं "शुक्लजी द्वारा आरंभ से अंत तक कोई सीधी रेखा नहीं खींची गई, जिस से लोकोन्मुख तथा अलोकोन्मुख तत्त्व एक दूसरे से भिन्न हो कर दिखाई पड़ते, लोकोन्मुख साहित्यकार स्पष्ट रूप से सामने आते और अलोकोन्मुख साहित्यकारों की दुर्बलताओं को हम समझ सकते। इसलिए यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि इतिहास के भीतर साहित्य संघर्ष की व्याख्या अधिक स्पष्ट और अनासक्त होनी चाहिए थी, तथापि इतिहास निर्माणकालीन परिस्थितियों को ध्यान में लाने पर यह

विचारों के आधार पर प्रचारित किया जाता है कि हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहास लेखक को कुछ छूट भी मिलने की आवश्यकता है।”

मूल प्रश्न छूट देने का नहीं है बल्कि उन भूलों को उजागर करने का है जो शुक्लजी ने काल विभाजन में की हैं। यों गिरीशजी इस तथ्य से परिचित हैं कि शुक्लजी कृत इतिहास हिंदी साहित्य का पहला इतिहास नहीं था। गार्सा द तासी नामक फ्रांसीसी विद्वान सन् 1838 में ही 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिख चुके थे। फिर सन् 1883 में शिर्वांसिंह संगर ने 'शिर्वांसिंह सरोज' लिखा तथा सन् 1889 में डाक्टर गियरसन ने 'मार्डन वन-क्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान', और फिर सन् 1913 में मिश्र बंधुओं ने 'मिश्र-बंधु विनोद' लिख कर एक अच्छी खासी भूमिका बनाई हुई थी। सन् 1929 में शुक्लजी का इतिहास आने के बाद भी हरिऔध कृत 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास,' डाक्टर रामशंकर शुक्ल रसाल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास,' डाक्टर रामकुमार वर्मा का 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' तथा डा. सूर्यकांत शास्त्री का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' रचे गए और मिस्टर ले. के. ने अंगरेजी भाषा में 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखा। इस के बाद भी यह परंपरा समाप्त नहीं हुई है। लेकिन फिर भी हर कहीं शुक्लजी का इतिहास ही अंतिम उपलब्धि के रूप में पढ़ाया जाता है।

हरिऔधजी ने अपने काल विभाजन में आरंभिक काल ईसा की आठवीं शती से माना है, डाक्टर रसाल तथा डाक्टर रामकुमार ने इसे सं. 1000 से माना है, मिश्र बंधुओं द्वारा इसे सं. 707 से भी पूर्व माना गया है। डाक्टर सूर्यकांत शास्त्री ने यह काल सं. 1207 तय किया है, और शुक्लजी का 'वीरगाथा काल' सं. 1050 से शुरू होता है। परंतु फिर भी यह किस

काल विभाजन की असंगति का एक ज्वलंत उदाहरण तो यही है कि शुक्लजी के अनुसार 'भक्ति काल की निर्गुणधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के पहले कवि कबीर' का जन्म तो सं. 1456 में हुआ (स्पष्ट है कि 20-25 वर्ष की उमर में उन्होंने कविता करनी शुरू की होगी तथा कबीर का रचना काल सं. 1475 के आसपास ठहरता है) लेकिन इसी इतिहास के अनुसार वीरगाथा काल की समाप्ति कबीर के रचना काल से सौ साल पहले अर्थात् सं. 1375 में ही हो चुकी थी। क्या यह संभव हो सकता है कि किसी भी साहित्य के इतिहास में बीच के किन्हीं एक सौ वर्षों तक लगातार ऐसा बंजर समय बीते कि किसी एक भी साहित्यिक कृति का सृजन न हो?

भ्रामक नामकरण

दूसरा उदाहरण लीजिए: शुक्लजी ने सं. 1700 से 1900 तक की अवधि को 'रीति काल' नाम दिया है, यह नामकरण ही भ्रामक है, क्योंकि इस काल में जितनी संख्या में रीति ग्रंथ लिखे गए उस से कहीं अधिक संख्या में प्रेमप्रधान काव्य तथा नायिका भेद विषयक ग्रंथ लिखे गए थे। नायिका भेद वाले ग्रंथों तथा अलंकार निरूपण वाले रीति ग्रंथों में यदि विशेष भेद न भी किया जाए तो भी इन दोनों को प्रेमकाव्यों से तो अलग मानना ही पड़ेगा! अतः इस काल को रीति काल कहना सर्वथा अनुचित है। प्रवृत्तियों के आधार से भी यह गलत ठहरता है।

इसी प्रकार आधुनिक काल को 'गद्य काल' कह कर शुक्लजी ने एक अन्य भूल की है। गद्य या पद्य किसी भी साहित्य की प्रवृत्तियां नहीं बल्कि विधाएं होती हैं।

यों जिस काल को शुक्लजी 'वीरगाथा काल' कह कर अपनी ओर से उस युग की वीर प्रवृत्ति को मान देने का प्रयास करते दिखाई पड़ते हैं, उस काल को कोई इतिहास का जानकार व्यक्ति वीरता का काल नहीं कह सकता। राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टियों से उस काल में भारत की स्थिति सब युगों से अधिक शोचनीय थी। एक तरह से आपाधापी तथा अराजकता का काल था। 'जिस की लाठी उस की भैंस' वाली दशा थी। जो उठता, सौ दो सौ साथी इकट्ठे कर के किसी नगर या गढ़ी अथवा गांव पर धावा बोल देता और वहां आतंक फैला कर अपनी मिल्कियत कायम कर लेता! तत्कालीन जनसामान्य की स्थिति बड़ी ही भयानक हो चुकी थी। समाज पूरी तरह से विघटित हो चुका था। कोई नैतिक मानदंड नहीं रह गए थे। हर ओर ब्राह्मिवाहि मची हुई थी। एकदम आदमयुगीन अरक्षा और बर्बरता का साम्राज्य था। लेकिन शुक्लजी द्वारा उल्लेखित किसी भी समकालीन कवि की, किसी एक भी रचना में इस ऐतिहासिक तथ्य की कोई झलक या झांकी नहीं मिलती। उल्टे यदि मिलता है तो उन लुटेरे हमलावरों का अंधाधुंध प्रशस्तिगान और विवेचक शुक्ल की दृष्टि भी उन भाट कवियों की तरह केवल उन के आतंकवादो आश्रयदाताओं पर ही जा सकी है, तत्कालीन समाज पर नहीं पहुंच पाई। वरना इन भाटों को 'वीरगाथाएं' रचने वाले मान कर इन्हें 'रणक्षेत्रों में जा कर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंग

शुक्लजी के काल विभाजन की विसंगति का ही परिणाम है कि सं. 1327 में उत्पन्न हो कर सं. 1407 तक भक्ति काव्य रचने वाले निर्गुण कवि नामदेव का नामोल्लेख निर्गुण भक्ति शाखा के पहले कवि के रूप में न कर के नामदेव की मृत्यु से भी लगभग आधी शताब्दी बाद पंदा हुए कबीर को इस शाखा का पहला कवि मान लिया गया।

इसी प्रकार सूरदास का जन्म सं. 1540 में तथा तुलसी का जन्म सं. 1589 में हुआ, लेकिन 50 साल बाद के कवि तुलसी की रामभक्ति शाखा का उल्लेख शुक्लजी के इतिहास में पहले किया गया है तथा कृष्णभक्ति शाखा का बाद में।

गलत काल विभाजन

इन में सब से बड़ी विसंगति तो यह है कि शुक्लजी के गलत काल विभाजन के कारण आचार्य केशवदास सरीखे सुप्रसिद्ध प्रेमकाव्य रचयिता भी रीति काल में न आ कर भक्तिकाल में ही रह जाते हैं। केशव का जन्म सं. 1612 में हुआ तथा मृत्यु 1674 में। जबकि शुक्लजी के इतिहास का भक्तिकाल सं. 1375 से 1700 तक है। अतः यह कितना बड़ा तमाशा नजर आता है कि रीति काव्य के सब से पहले और सर्वश्रेष्ठ आचार्य केशवदास रीति काल शुरू होने से भी 26 साल पहले मर चुके थे! और इस से भी बड़ी हास्यास्पद विसंगति यह कि आचार्य केशव कृत 'रामचंद्रिका' जैसी शृंगारी कृति आचार्य शुक्ल के काल विभाजन के अनुसार भक्ति काल के अंतर्गत सिद्ध हो जाती है!

अतः सिद्ध होता है कि शुक्लजी ने हिंदी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन ही ठीक नहीं किया था। विभाजित काल के साहित्य का सहीसही मूल्यांकन भी वह नहीं कर सके। वीरगाथा काल के

गलत मुद्रित। आगे बढ़ते-बढ़ते प्रगतिशील समाजवाद की ओर बढ़ते-बढ़ते हैं।

चुकी है और आधुनिक काल संबंधी उन की गलत धारणाओं को यह कह कर भी छूट दी जा सकती है कि सन् 1928 तक (शुक्ल कृत इतिहास का प्रकाशन वर्ष) क्योंकि इस काल में इसका दुका उल्लेखनीय ग्रंथ ही रचे जा सके थे, इसलिए युग की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण तथा कृतियों का मूल्यांकन उचित ढंग से वह नहीं कर सके। लेकिन अपने सर्वाधिक प्रिय काल 'भक्ति काल' का सही मूल्यांकन भी वह नहीं कर पाए। इस के साहित्यिक मूल्यांकन में भी समीक्षक की तटस्थ दृष्टि कहीं दिखाई नहीं पड़ती। यही वजह है कि भक्ति काल में सगुण मार्ग की रामभक्ति शाखा तथा निगुण की प्रेमाश्रयी शाखा के प्रति उन का पक्षपात स्पष्ट उभर कर आता है। इस के अतिरिक्त शुक्लजी स्वयं भी कट्टर वैष्णव थे अतः वैष्णव संस्कार कभी भी उन का पिंड नहीं छोड़ सके।

सौतेला व्यवहार

शुक्लजी के रूढ़ संस्कारों का परिणाम यह हुआ कि वह किसी भी नई चीज को पसंद नहीं कर सके यहां तक कि साहित्य की नई विधाओं—कहानी, उपन्यास आदि के प्रति भी उन का व्यवहार सौतेला ही रहा।

कविता में भी उन की पुरातन दृष्टि मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबंध काव्य की ही अधिक महत्त्वपूर्ण मानती रही। प्रबंध-काव्यकार को ही वह सच्चा कवि मानते थे। उन का कथन है : 'यदि कोई इस के विचार का आप्रह्न करे कि प्रबंध और मुक्तक इन दो क्षेत्रों में कौन क्षेत्र अधिक महत्त्व का है, तो हम बारबार वही बात कहेंगे जो गोस्वामीजी की आलोचना में कह आए हैं, अर्थात् प्रबंध...और वही सच्चा कवि है।'

प्रबंधकाव्य में भी पुराने प्रबंध काव्यों

अपने इतिहास में 'नई धारा' शीर्षक अध्याय में जहां शुक्लजी ने आधुनिक काल का इतिहास प्रस्तुत किया है उस में उन की नजर प्रसाद और पंत के अलावा किसी और पर नहीं टिकती, जब कि आधुनिक काल के निकृष्टतम कवि यही दोनों माने जा सकते हैं।

शुक्लजी की समीक्षा का जो स्तर हमारे सामने है उसे देख चुकने पर सिवा निराशा के और कुछ भी हाथ नहीं लगता। न तो उन में कोई मौलिकता दिखाई पड़ती है, न कोई ऐसी शैली ही जो कम से कम पढ़ी तो जा सके! जहां तक ऐतिहासिक वर्गीकरण का संबंध है, वह भी एकदम सतही और निराधार है।

यहाँ एक बात खास जोर दे कर कहनी पड़ रही है और वह यह कि शुक्लजी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' एक खास मकसद से लिखा गया था। मकसद था, स्कूलकालिजों के हिंदी पाठ्यक्रम के लिए पुस्तक तैयार करना। क्योंकि जिन दिनों यह पुस्तक लिखी गई उन दिनों भारतीय विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा तो शुरू हो चुकी थी लेकिन हिंदी साहित्य के इतिहास की किसी उपयुक्त पुस्तक की सहत जरूरत थी। इसी जरूरत को पूरा करने के लिए शुक्लजी ने दिनरात लग कर यह किताब 'बना' डाली। लेकिन वह न तो विगत के साथ आज का कोई तालमेल बैठा सके, न विगत को ही किसी तरकीब में रख पाए। इस तरह का इतिहास आने वाले कल के लिए कभी भी कोई राह नहीं सुझा सकता। अगर सुझा-एगा भी तो गलत राह ही। क्योंकि शुक्लजी इतनी मामूली सी बात भी नहीं समझ सके थे कि किसी भी साहित्य का इतिहास उस देश की संस्कृति का इतिहास भी होता है, और संस्कृति का इतिहास किसी स्थिर और अपरिवर्तनशील जड़ वस्तु का इतिहास नहीं होता।

शुक्लजी ने इस बात की ओर बिल-

कुल ध्यान नहीं दिया कि कोई भी तात्कालिक काम बन कर कभी शाश्वत नहीं होता. हर सत्य अपने समय का सत्य होता है और किसी एक समय में भी कोई एक ही सर्वव्यापी सत्य नहीं होता. उन्हें यदि यह ध्यान होता तो वह हिंदुओं के वर्णाश्रम धर्म और लोकधर्म में भेद भी जान लेते और एक युग विशेष के आंशिक आदर्श को शाश्वत सत्य कह कर प्रतिष्ठित करने का भी कभी प्रयास न करते.

जिस समीक्षक को समय की संवेदनाओं का परिचय नहीं था, वह समय के साहित्य का मूल्यांकन क्या कर सका होगा?

और आज तो यह स्थिति और भी अधिक सोचने को मजबूर कर रही है. क्योंकि इधर कुछ दशकों से और विशेषकर पिछले कुछ वर्षों से समय की संवेदनाएं इतनी तीव्र गति से बदल गई हैं कि हिंदी तो क्या मानवमात्र के इतिहास में कभी आज तक ऐसी स्थिति नहीं आई थी.

प्रामाणिक समीक्षा की आवश्यकता

अतः इन स्थितियों में हमें बड़ी गंभीरता के साथ यह सोचना होगा कि शुक्लजी के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' को हिंदी पाठ्यक्रमों में कितना और किस तरह का स्थान दिया जाए!

इस में कोई संदेह नहीं कि जिस समय शुक्लजी समीक्षा के क्षेत्र में आए थे उन दिनों यह क्षेत्र बड़ी ही दयनीय अवस्था में था. हिंदी समीक्षा की अपनी कोई परंपरा नहीं बन सकी थी, संस्कृत समीक्षा की घिसीपिटी लोक ही पीटी जा रही थी. वही शृंगारीचमत्कारी अलंकारों पर आश्रित साहित्य की ब्राह्मवाहीनुमा समीक्षा का चलन था. आधुनिक काल के भारतेंदु युग में नवीन पद्धति की समीक्षा की कुछ आस अवश्य बंधने लगी थी, लेकिन इस युग की समीक्षा भी मुख्य रूप से पूर्वो-

क्त की ही परंपरा का, ओझादिग्रन्थ बन कर रह गई थी. भारतेंदु युग में यदि इस क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण काम हो चुका होता तो भी शुक्लजी को कोई ठोस पृष्ठभूमि मिल सकी होती. द्विवेदी युग में भी हिंदी समीक्षा का वही मान दिखाई पड़ता है जो संस्कृत समीक्षा का था. द्विवेदी युगीन समीक्षाओं में संस्कृत समीक्षकों के हवाले ही अधिकतर मिलते हैं, ऐसी समीक्षाओं में परंपरा यह निभाई जाती थी कि जिस कवि की समीक्षा की जा रही हो उसे ही सब से अधिक बढ़ाचढ़ा कर सिद्ध कर दिया जाए. अतः इस परंपरा से शुक्लजी भी नहीं बच पाए.

लेकिन फिर भी उन की समीक्षा के ऐतिहासिक महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता. यह अलग बात है कि आज हमारे लिए उस का व्यावहारिक उपयोग उतना न रह गया हो जितना पिछले जमाने के उन पाठकों के लिए रहा होगा जो अपने प्रिय कवि की प्रशस्तियां पढ़-पढ़ कर आनंद विभोर हो जाया करते थे या फिर अप्रिय कवि की भर्त्सना पढ़ कर बाहवाही किया करते थे.

एक अन्य दृष्टि से भी इधर की स्थितियां पहले की अपेक्षा बहुत बदल गई हैं. अब केवल हिंदी प्रदेश के पाठक ही हिंदी नहीं पढ़ते, बल्कि समस्त भारत में हिंदी का पठनपाठन चल रहा है. ऐसी स्थिति में यह और भी अनिवार्य हो जाता है कि हम हिंदी साहित्य का जो इतिहास अहिंदी भाषाभाषी राज्यों के पाठकों के सामने भेजें वह एकदम प्रामाणिक हो तथा उस की समीक्षा का आधार ठोस हो.

और सब से बड़ी बात यह कि हिंदी साहित्य का जो सब से संपन्न काल है वह आधुनिक काल ही है. लेकिन इसी के बारे में सब से विपन्न सामग्री शुक्लजी के इतिहास में मिलती है. डाक्टर जगदीश गुप्त के शब्दों में: 'जिस समय शुक्लजी सूर, तुलसी और जायसी के काव्य की अपनी समीक्षा का प्रधान विषय बना कर

मध्यकालीन तथा प्राचीन काव्य सिद्धांतों की अभिनव व्याख्या करने में तत्कालीन थे, छायावादी काव्य धारा बड़े वेग से समस्त साहित्य क्षेत्र को आपूरित किए जा रही थी। छायावादी कवियों को शुक्लजी जैसे प्रबुद्ध समीक्षक से न्याय न मिला, उन की आलोचना दृष्टि सतह को छू कर ही रह गई और उन्होंने रसज्ञ होते हुए भी व्यक्तिगत संस्कारों के कारण अनुभूति पक्ष को बिना आत्मसात किए छायावाद को एक अभिव्यंजना शैली मात्र स्वीकार किया।

केवल छायावाद के बारे में ही क्यों, आज के पाठक को तो उन तमाम युगों का भी वैज्ञानिक विश्लेषण चाहिए जो छायावाद युग के बाद हिंदी साहित्य में आएंगे हैं। इस दृष्टि से भी सन् 1929 में प्रकाशित शुक्लजी का इतिहास अब 'आउट आफ डेट' हो चुका है, क्योंकि छायावाद की समाप्ति और फिर प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, तथा कई नए नए

युगों का शुरुआत और समाप्ति इस बीच हो चुकी है।

अतः इस बात की आवश्यकता इधर बड़े जोर से अनुभव की जा रही है कि यथाशीघ्र हिंदी साहित्य का एक नया इतिहास तैयार किया जाए जो प्रामाणिक होने के साथसाथ हर युग का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा हर साहित्यिक कृति की निष्पक्ष समीक्षा प्रस्तुत कर सके। किसी भी देश के साहित्य का इतिहास उस की संस्कृति का इतिहास भी होता है, जिसे गति देने में वहां के राजनीतिक, आर्थिक मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय कारण बहुत बड़ी भूमिका अदा करते हैं। शुक्लजी कृत हिंदी साहित्य के इतिहास में इन कारणों की भूमिका की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना ऐसे गंभीर कार्य के लिए अपेक्षित था। इसलिए आज इस कृति की उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लगाना पड़ा है।

सरिता का रचनात्मक आंदोलन

पूंजीपति बनिए

आज पूंजी, पूंजीपति, पूंजीवाद— घृणा के प्रतीक हैं। किसी को माली देनी हो या किसी समाज की भर्त्सना करनी हो तो उसे पूंजीवादी करार दे दीजिए, मानो पूंजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूंजी यानी धन की बुराई की है, पर किसी धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर प्राप्त किए गए धन का (बेईसानी, जोर-जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो, क्यों? भगवान खुश होंगे, तो क्या धन कमाने वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन तो ठीक है, पर जब वह पूंजी बन जाता है तो घृणायोग्य बन जाता है।” पर क्या बिना पूंजी इस संसार का कोई भी काम चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो उसे उद्योगों के लिए पूंजी चाहिए। बिना पूंजी कौन सा उद्योग चल सकता है? आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को रोजगार में लगाने के लिए कम से कम 10,000 रुपए की पूंजी चाहिए। बिना पूंजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह सकता है। रोजगार बिना पूंजी के नहीं हो सकता। बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती। मानसिक व शारीरिक सुख बिना पूंजी नहीं मिल सकता।

पूंजी धन संचय किए बिना नहीं बनती। धन बिना जेहनत किए नहीं आता। और आयदनी से कम खर्च किए बिना धन पूंजी नहीं बन सकता। व्यक्ति ही पूंजी बनाता है, वह ऊपर से नहीं टपकती। सरकार (यानी राजनीतिबाज) उसे जब्त कर सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना नहीं सकती।

पूंजी तो व्यक्ति ही बनाता है। जब तक उसे पूंजी बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में रोजगार बढ़ेंगे, न बेकारी कम होगी और न ही समृद्धि आएगी।

जिस देश में करोड़ों लोगों को भ्रष्ट भोजन न मिलता हो, वहां पूंजी और पूंजीपतियों को गालियां दे कर राजनीतिबाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन का पेट नहीं भर सकते। उन का पेट तो तभी भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने और उद्योगधंधे होंगे। और वे तब होंगे जब देश में पर्याप्त पूंजी होगी। याद रखिए, पूंजी और गरीबी का आपस में बैर है। पर राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूंजीपति का बैर बना दिया है।

पूंजी बनाइए, पूंजीपति बनिए। पूंजी व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में लीजिए। दूसरों को रोजगार दीजिए। यदि व्यक्तिगत पूंजीवाद से आप को चिढ़ है तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग सर्टिफिकेट खरीद कर। बंसे समाजवाद यानी सरकारी पूंजीवाद से कोई समृद्ध नहीं बन सकता। इस से केवल राजनीतिबाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है।

पूंजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए।

धनुषयज्ञ

डा. गंगा सहाय 'प्रेमी'

क्या सीता अपनी इच्छानुसार पति चुनने को स्वतंत्र थी?

क्या सीता के विवाह का आयोजन स्वयंवर कहा जा सकता है? प्राचीन भारत की अनेक विवाह विधियों में स्वयंवर का भी उल्लेख किया जाता है। वैसे मनु द्वारा गिनाई गई विवाह की आठ विधियों में स्वयंवर का नाम नहीं है। स्वयंवर प्रथा द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि प्राचीन काल में भारतीय नारी की सामाजिक दशा अच्छी थी, वह अपनी इच्छा से अपना पति चुन सकती थी।

तुलसीदास ने अपने 'रामचरित मानस' में प्राचीन भारत की सभी गौरवशाली प्रथाओं का समावेश करने का प्रयत्न किया है। स्वयंवर प्रथा गौरवशाली है या नहीं, इस विषय पर तो किसी अलग निबंध में विचार किया जाएगा, यहां हम केवल इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि सीता के विवाह आयोजन को स्वयंवर की संज्ञा देना कहां तक युक्तिसंगत है? मतलब यह कि क्या 'धनुषयज्ञ' नाम का भी कोई आयोजन होता है?

तुलसीदास ने सीता के विवाह संबंधी आयोजन को दो नाम दिए हैं : धनुषयज्ञ और स्वयंवर।

'तब मुनि प्रभु सन कहा बुझाई,
चरित एक प्रभु देखिय जाई,
धनुष जग्य मुनि रघुकुल नाथा,
हरषि चले मुनिवर के साथ।'
(राम. बाल. पृ. 208)

'पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई,
जहं धनुमख हित भूमि बनाई.'
(राम. बाल. पृ. 219)

'भगति हेतु सोइ दीन दयाला,
चितवत चकित धनुष मख शाला.'
(राम. बाल. पृ. 220)

'तात जनक तनया यह सोई,
धनुष जग्य जेहि कारण होई.'
(राम. बाल. पृ. 224)

'पुनि मुनि वृंद समेत कृपाला,
देखन चले धनुष मख शाला.'
(राम. बाल. पृ. 232)

हम पूछना चाहते हैं कि यह 'धनुषयज्ञ' या 'धनुषमख' कौन सा यज्ञ है? इस का विधान किस गृह्यसूत्र, स्मृति या ब्राह्मण ग्रंथ में है? तुलसी ने राम के सभी कर्म 'लोक वेदानुकूल' बताए हैं। क्या कोई रामकथा विशेषज्ञ बता सकता है कि 'धनुषयज्ञ' का उल्लेख किस लौकिक गाथा या वेदवेदांग में है? जिस प्रकार धार्मिक ग्रंथों में श्रौतयज्ञ स्मार्तयज्ञ, श्येनयज्ञ, अश्वमेधयज्ञ आदि का विधान व फल वर्णित है, वैसा 'धनुषयज्ञ' के विषय में में भी किसी ने पढ़ा है?

क्या बहुत से लोगों द्वारा इकट्ठे हो कर किसी धनुष को उठाने का प्रयत्न ही धनुषयज्ञ है? इस प्रकार तो जितनी भी वजन उठाने की प्रतियोगिताएं हैं, उन सभी को 'यज्ञ' कहा जा सकता है। इस प्रकार तो बिना किसी विशेष खर्च के

पाषाणयज्ञ, लवकड्यज्ञ, बोरायज्ञ आदि का आयोजन भी संभव है।

यदि धनुषयज्ञ में धनुष उठाने या तोड़ने का ही कार्यक्रम था तो विश्वामित्र को क्यों बुलाया गया? हमारे विचार में तुलसी की अपनी खोज थी। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में 'धनुषयज्ञ' शब्द का कहीं भी उपयोग नहीं किया है। वहाँ सीता के विवाह संबंधी आयोजन को 'स्वयंवर' भी नहीं कहा गया है।

वीर्यशुल्का

जनक ने धनुष उठाने की प्रतियोगिता अवश्य रखी थी। सीता उन की अपनी कन्या नहीं थी इसलिए वह उस के वर का निर्णय स्वयं न कर के शक्तिपरीक्षा द्वारा करना चाहते थे। वाल्मीकि ने सीता के लिए 'वीर्यशुल्का' शब्द का प्रयोग किया है:

'वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापिते-
यमयोनिजा,
भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमाना
ममात्मजाम्.' (15)

जनक की इस कन्या से विवाह करने के लिए अनेक राजा आए। राजा जनक ने उन के सामने धनुष उठाने की शर्त रखी। उस धनुष को कोई नहीं उठा पाया:

'वरयामामुरागत्या राजानो मुनि पुंगव,
तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवी-
क्षिताम्.' (16)

वीर्यशुल्केति भगवन् न ददामि
सुतामहम्.

ततः सर्वे नृपत्यः समेत्य मुनिपुंगव.
(17)

मिथिला मभ्युपागम्य वीर्यजिज्ञा-
सवस्तदा,

तेषां जिज्ञासमानानामेशं धनुष्पाहतम्.
(18)

हनशेकुर्गृहणे तस्य धनुषस्तोलेऽपि
वा.' (19)

वही चमकीला धनुष मैं रामलक्ष्मण

को भी दिखाऊंगा। अगर राम इस पर डोरी चढ़ा देगे तो मैं अपनी अयोनिजा कन्या उन्हें दे दूंगा :

'तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम्,
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि
सुव्रत. (25)

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं
मुने,
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथे-
रहम्.' (26)

(वाल्मीकि रा. बाल. अध्याय 66)
वाल्मीकि के अनुसार धनुषयज्ञ जैसी कोई बात नहीं थी। हां, धनुष उठाने के लिए अनेक राजा अपना बलपरीक्षण कर चुके थे। इस के बाद जनक ने एक यज्ञ का आयोजन किया था। रिवियों ने कहा कि हम लोग जनक के यज्ञ में शामिल होंगे और राम उस विचित्र धनुष को देखेंगे। इस प्रकार सब लोगों का मिथिला जाना उचित है :

'मैथिलस्य नरश्रेष्ठ जनकस्य
भविष्यति,
यज्ञः परमधर्मिष्ठस्तस्य यास्यामेह
वयम्. (6)

त्वं चैव रनशार्दूल सहास्माभिर्ग-
मिष्यसि,
अद्भुतं च धनूरत्नं तत्रैकं द्रष्टुमर्हसि.' (7)

(वाल्मीकि रा. बाल. अध्याय 31)
इस प्रकार वाल्मीकि ने 'यज्ञ' और 'धनुष' शब्दों का अलगअलग प्रयोग अवश्य किया है पर 'धनुषयज्ञ' नामक नवीन यज्ञ की बात उन्हें नहीं सूझी थी। वाल्मीकि के अनुसार तो राजा लोग पहले ही साहस छोड़ कर चले गए थे। राम को वह धनुष बाद में दिखाया गया। तुलसी को अपने राम का यह एकांत पराक्रम नहीं रुचा होगा। 'जंगल में मोर नाचा, किस ने देखा?' प्रशंसा की बात तो यही थी कि सभी साहसहीन राजाओं के सामने राम धनुष उठाते। जिस धनुष को दूसरा कोई धरती से हिला भी न सका, उसे

राम ने तोड़ दिया!

तुलसी ने धनुष उठाने के लिए ही राजाओं की उपस्थिति पसंद नहीं की, बल्कि राम और परशुराम की बातचीत के लिए भी वही समय उचित समझा। वाल्मीकि के अनुसार, परशुराम राम से तब मिले थे, जब उन की बारात जनकपुर से लौट कर अयोध्या जा रही थी। बड़े लोगों को पराजित या अपमानित कर के ही लोग महान बनते हैं, ऐसी तुलसी की मान्यता रही होगी। तुलसी राम को ईश्वर (?) का अवतार मानते थे। ईश्वर को सब से महान् होना ही चाहिए! इसी महत्ता का प्रदर्शन कराने के लिए तुलसी ने धनुर्भंग और परशुराम संवाद भरी सभा में रखे जो वाल्मीकि के अनुसार एकांत की घटना थी।

धनुषयज्ञ या स्वयंवर?

तुलसी ने धनुर्भंग के समय सब राजाओं को एकत्र इसलिए किया था कि राम का महत्त्व बढ़ सके। राजाओं की भीड़ और विवाह की बात सोच कर उन के मस्तिष्क में 'स्वयंवर' वाली बात कौंध गई होगी। उद्देश्य कुछ भी रहा हो पर सीता के विवाह में अनेक राजा एकत्र थे। इधर स्वयंवर में भी अनेक राजा एकत्र होते हैं। तो फिर सीता के विवाह के इस आयोजन को 'धनुषयज्ञ' के साथसाथ 'स्वयंवर' भी क्यों न कह दिया जाए?

बस, फिर क्या था! तुलसी बाबा ने उक्त आयोजन को स्वयंवर का नाम दे दिया :

'सीय स्वयंवर देखिय जाई,
ईस काहि धौं देइ बढ़ाई.'

(राम. बाल. पृ. 231)

जिस प्रकार यह आयोजन 'धनुषयज्ञ' नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार हम इसे 'स्वयंवर' कहने में भी असमर्थ हैं। 'स्वयंवर' शब्द का अर्थ है वह आयोजन जिस में कन्या अपना पति अपनेआप चुने।

(स्वयं वृणते कन्या पतिं यस्मिन् सः स्वयंवरः). तुलसी ने भी 'स्वयंवर' शब्द का यही अर्थ लिया है। नारद मोह के प्रसंग में तुलसी ने स्वयंवर का वर्णन इस प्रकार किया है :

'करइ स्वयंवर सो नृप बाला,
आए तहं अगणित महिपाला.'

(पृ. 145)

'एहि अवसर चाहिय परम
शोभा रूप विशाल,
जेहि विलोकि रोझ कुंअरि,
तब मेलै जयमाल.' (पृ. 146)

'निजनिज आसन बंटे राजा,
बहु बनाव करि सहित समाजा,
मुनि मन हरष रूप अति मोरें,
मोहि तजि आनाहि वरहि न भोरें.'

(पृ. 147)

'सखी संग लंकुअरि तब
चलि जनु राज मराल,
देखत फिरइ महीप सब
कर सरोज जयमाल.' (पृ. 148)

(उपरोक्त सभी पंक्तियाँ 'रामचरित मानस,' बालकांड से ली गई हैं.)

क्या सीता के विवाह में भी उन्हें यह सुविधा थी कि उपस्थित राजसमाज में से किसी को अपना पति चुन लें? इस विवाह में सीता तो क्या, उन के घर वालों या नगरनिवासियों तक की पसंद का कोई स्थान नहीं था। जो भी व्यक्ति धनुष उठा लेता या तोड़ लेता, उसी को सीता पति के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश थी।

यह बात दूसरी है कि सीता तथा अन्य लोग राम के रूप पर मोहित होकर उन्हीं को पसंद कर चुके थे और संयोग से राम धनुष तोड़ने में सफल हुए। यदि राम धनुष नहीं तोड़ पाते या कोई अन्य व्यक्ति जनक की प्रतिज्ञा पूरी कर देता तो सीता की स्थिति क्या हो जाती?

स्वयंवर के आयोजन से तो कन्या को प्रसन्न होना चाहिए। इस में उसे अपनी पसंद का पति चुनने का अधिकार

रहता है। क्या सीता इस आयोजन से प्रसन्न थीं? तुलसी के ही शब्दों में उन की मनोदशा देखिए :

‘जानि कठिन सिव चाप बिसूरति,
चली राखि उर स्यामल मूरति.’
(पृ. 227)

तब रामहिं विलोक वैदेहि
सभय हृदय बिनवति जेहि तेहि
मन ही मन मनाव अकुलानि...

(पृ. 245)

‘नीकें निरखि नयन भरि सोभा,
पितु पन सुमिरि बहुरि मनु छोभा.
अहह तात दारुन हठ ठानी,
समुझत नहिं कछु लाभ न हानी.
सचिव सभय सिख देइ न कोई,
बुध समाज बड़ अनुचित होई.
कहं धनु कुलिसहु चाहि कठोरा,
कहं स्यामल मृदु गात किसोरा.
विधि केहि भांति धरौं उर धीरा,
सिरस सुमन किमि बेधिय हीरा.
सकल सभा कै मति भै भोरी,
अब मोहिं संभु चाप गति तोरी.’
(पृ. 246)

‘लोचन जलु रह लोचन कोना,
जैसे परम कृपन कर सोना.’
(पृ. 247)

(यह सभी पंक्तियां ‘रामचरित मानस’ के बालकांड से ली गई हैं।)

कन्या की प्रसन्नता ही माता का सब से बड़ा सुख है। स्वयंवर के आयोजन से सभी माताएं प्रसन्न होती होंगी। माता-पिता के दुखी होने का अवसर केवल तभी आ सकता है, जब कन्या किसी गलत व्यक्ति को वरण कर ले। पर यह स्थिति स्वयंवर समाप्त होने पर ही आ सकती है।

सीता की माता इस आयोजन से कितनी प्रसन्न थीं, यह भी देख लीजिए :

‘रामहिं प्रेम समेत लखि
सखिन्ह समीप बोलाइ,

सीता मातु सनेह बस
बचन कहइ बिलखाइ,
सखि सब कौतुक देखनि हारे,
जेउ कहावत हितु हमारे,
कोउ न बुझाइ कहहि गुरु पाहीं,
ए बालक अस हठ भलि नाहीं.’
(राम. बाल. पृ. 244)

‘भूप सयानप सकल सिरानी,
सखि विधिगति कछु जाति न जानी.’
(राम. बाल. पृ. 245)

जहां कन्या और उस की माता विवाह की बात पर रोती और विलाप करती हों, उस आयोजन को स्वयंवर कैसे कहा जाए? स्वयंवर में कन्या अपनी इच्छा से वर को जयमाला पहनाती है। राम के गले में जयमाला सीता ने भी डाली थी पर अपनी इच्छा से नहीं, शतानंद पुरोहित की आज्ञा से :

‘सतानंद तब आयसु दीन्हा,
सीता गवनु राम पहि कोन्हा.’
(राम. बाल. पृ. 251)

‘गार्वाहिं दवि अवलोकि सहेली,
सिय जयमाल राम सर मेली.’
(राम. बाल.)

यह जयमाला सीता ने अपनी इच्छा से पहनाई होती तो धनुष ढूँढ़ने की आवश्यकता ही न पड़ती। वह पहले ही राम का कंठ अपनी जयमाला से सुशोभित कर चुकी होतीं।

अंत में हम यही कहेंगे कि सीता के विवाह के समय धनुष तोड़ने की शर्त थी। यज्ञ हुआ था, राजा लोग एकत्र हुए थे। जयमाला पहनाई गई थी। पर इसे न ‘धनुषयज्ञ’ कहा जा सकता है और न ‘स्वयंवर’। कितने आश्चर्य की बात है कि सैकड़ों वर्ष से रामकथा पर चर्चा करते समय लोग इन शब्दों का निस्संकोच प्रयोग करते आ रहे हैं। ●

कृष्ण और गोपियां

डा. गंगासहाय 'प्रेमो'

कृष्ण की प्रणय कथाएं कौन से चरित्र के
अनुकरण की प्रेरणा देती हैं?

कृष्ण का बचपन नंदगांव और गोकुल में गोपों के बीच बीता। कृष्ण और तों के मामले में शुरू से ही स्वतंत्र विचार के थे। पुराणों के अनुसार उन का मिजाज लड़कपन से ही आशिकाना मालूम होता है।

गोपियों के साथ कृष्ण का यौन संबंध था, इस विषय में लगभग सारा कृष्ण साहित्य एकमत है। इन गोपियों में विवाहिता और कुमारी दोनों प्रकार की थीं। वे अपने पतियों, पिताओं और भाइयों के कहने पर भी नहीं सकती थीं :

‘ताः वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा, कृष्ण गोपांगना रात्रौ रमयन्ति रतिप्रियाः..’ (विष्णुपुराण, अंश 5, अध्याय 13-59)

(वे रतिप्रिय गोपियां अपने पतियों, पिताओं और भाइयों के रोकने पर भी रात में कृष्ण के साथ रमण करती थीं)।

कृष्ण और गोपियों के अनुचित संबंध

भागवत के अनुसार भी घर वालों के मना करने के बावजूद गोपियां कृष्ण से मिलने गईं। जो घर से नहीं निकल सकीं, उन्होंने कृष्ण के आलिंगन का ध्यान करतेकरते प्राण त्याग दिए :

‘ताः वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबंधुभिः गोविंदापहृतात्मानो न न्यवर्तत मोहिताः ८ अंतर्गृहगताः काश्चित् गोप्योऽलब्ध विनिर्गमाः, कृष्णं तद्भावनायुक्ता दधु-मौलित लोचनाः 9

दुःसह प्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ध्यान-प्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगला.’ 10 (भागवत, स्कंद 10, अध्याय 29)

कृष्ण और गोपियों का अनुचित संबंध था, यह बात भागवत में स्पष्ट स्वीकार की गई है :

‘तमेव परमात्मानं जारबुद्धयाऽपि संगताः जहुर्गुणमयं देहं सद्यः, प्रक्षीणबंधना.’ (स्कंद 10, अध्याय 29-11)

(कृष्ण के साथ जारबुद्धि से संगत होने के कारण भी उन गोपियों के सांसारिक बंधन नष्ट हो गए तथा उन्होंने अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया।)

गोपियां कृष्ण की बिना पैसे की गुलाम थीं। कृष्ण उन के संभोग के पति थे :

‘सुरतनाथ! तेऽशुल्कदासिका वरवं निघ्नतो नेहर्कवधः’

(भागवत स्कंद 10, अध्याय 31-2)

गोपियों को रात में जंगल में बुलाया

आक्षेपों से बचने के लिए पौराणिक पंडित कहते हैं कि कृष्ण का गोपियों के साथ यौन संबंध नहीं था। वे तो केवल नाचने-गाने आदि से मनोरंजन करते थे। पर यह बात लोगों को बहकाने के लिए कही जाती है। कृष्ण रात में गोपियों को जंगल में बुला कर जो कुछ करते थे, उस का कुछ विवरण इस प्रकार है :

नद्याः पुलिनभाविद्व गोपीभिर्हिम बालुकम्,

रेमे तत्तरलानंद कुमुदामोद वायुना. 45
बाहुप्रसार परिर्भ करालकोरु नीवीस्तना-
लभन नर्म नखाप्र पातैः,

क्ष्वेत्यावलोक हसितै ब्रजसंदरी गांमुत्तमदन्
रतिर्पाति रमयांचकार.' 46

(भागवत, स्कंद 10, अध्याय 29)

(कृष्ण ने गोपियों के साथ ठंडी बालू
वाले नदी पुलिन पर प्रवेश कर के रमण
किया. वह स्थान कुमुद की चंचल और
सुगंधित वायु से आनंददायक बन रहा था.
बाहू फैलाना, आलिंगन करना, गोपियों
के हाथ दबाना, बाल (चोटी) खींचना,
जंघाओं पर हाथ फेरना, नीवी एवं स्तनों
को छूना, नर्म (गोपियों के) अंगों को
नाखूनों से नोचना, तिरछी निगाह से देखना,
हंसीमजाक करना आदि क्रियाओं से गोपियों
में कामवासना बढ़ाते हुए कृष्ण ने रमण
किया).

रमण की अंगभूत जिन क्रियाओं का
ऊपर वर्णन किया गया है, वे सब संभोग के
ही अंग हैं. योगाभ्यास के नहीं, इसे सभी
जानते हैं. उक्त श्लोक में 'नीवी' शब्द
ऐसा है जिस की अन्यथा व्याख्या संभव
नहीं है. नीवी कमर में पहने हुए वस्त्र को
बांधने की आगे वाली गांठ होती थी. उस
के स्पर्श का तात्पर्य सभी समझते हैं.

'भागवत' के अनुसार कृष्ण ने स्वयं
को गोपियों का जार बताया है और अपने
पास आना लोकमर्यादा के विरुद्ध माना है :
'अस्वर्ग्य भयशत्यं फलुकृच्छ्रं न भदावहम्,
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रिवः'
(स्कंद 10, अध्याय 29-26)

गोपियों का जार

(कुलीन स्त्रियां यदि उपपत्ति के
समीप जाती हैं तो उन का स्वर्ग नष्ट हो
जाता है. उन का यश नहीं रहता. यह कर्म
अत्यंत तुच्छ, कष्टकारक और भयदायक
है. इसे सभी जगह निंदनीय बताया गया
है. अतः तुम्हें मेरे पास नहीं आना चाहिए.)

रात के समय गोपियां और कृष्ण

जंगल में एकत्र हो कर जो कुछ करते थे,
उस का वर्णन 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में थोड़ा
खुल कर किया गया है :

'एकदा हरिरनक्तं वनं वृन्दावनं पथौ. 6
चकार तत्र कुतुकाद् विनोद मुरलीस्वरम्,
गोपीनां कामुकी नां च वामवर्धनकारणम्.

18

कामशास्त्रेषु यद्गोप्यं चूंबनाष्ट विधंपरम्,
कामिनीनां मनोहारि चकार रसिकेश्वरः.

74

अंगैरंगानि प्रत्यंगैः प्रत्यंगानि स्मरातुरः
चकारादलेषणं तत्र कामुकीनां सुखावहम्. 75
एवं गृहेगृहे रम्ये नाना मूर्तिविधाय च
रेमे गोपांगनाभिश्च सुरस्ये रासमंडले. 77
अभ्यतर रतिं कृत्वा वहिःक्रीडां चकारह,
काचित् कामातुरा कृष्णं बलादाकृष्ण
कौतुकात्.

हस्ताद् वंशी निजग्राह वसनं च चकर्षह. 85
काचित् काम प्रमत्ता च नग्नं कृत्वा लु माधवम्.
निजग्राह पीतवस्त्रं परिहरस्यं पुनर्ददौ. 86
अंगारोद्रेकतस्तत्र वभव सुंदरो रवः
मूळमिवापुस्ताः सर्वा नव संगममात्रतः 105
नखदंत प्रहारं च प्रचकार परस्परम्,
कृष्णः कररुहाघातं ददौ तासां कुचोपरि. 107
श्रोणिदेशे सुकठिने नखचिह्नं चकारह,
नीवीवस्त्रं सितता तासां कबरी क्षुद्रघटिका.

108

दूरीभूतं सुवसनं सुवेषं सुमेराहरम्,
आलिंगनं नवविधं चूंबनाष्टविधं मुदा. 109
अ गार षोडश विधं चकार रसिकेश्वरः
अंगैरंगानि प्रत्यंगैः प्रत्यंगानि च योषिताम्

110

गोपीभिः सह जग्मुश्च मायाः श्रीकृष्ण-
रूपिकाः,

प्रपीडिता कामवाणः क्रीडां चक्रुर्जले मुदा

134

एवं रेमे कौतुकेन कामाः त्रिंशद् दिवानिशम्
तथापि मानसं पूर्णं न च किञ्चित् वभूव ह. 70
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्णजन्म खंड 4,
अध्याय 28)

(एक बार कृष्ण रात में वृन्दावन गए
वहां उन्होंने कौतुकपूर्वक मनोविनोद करने

वाली मुरली बजाई वह मुरली का सुकी 30 दिन और सत लगातार रमण करते रहे. फिर भी उन का काम तनिक भी पूरा नहीं हुआ.)

रसिकश्रेष्ठ कृष्ण ने गोपियों के आठ प्रकार के उत्तम चुंबन लिए जो कामशास्त्र में भी स्पष्ट नहीं हैं. वे चुंबन कामिनी गोपियों का मन हरने वाले थे. कामवासना से आतुर कृष्ण ने अपने अंगों से गोपियों के अंग और प्रत्यंगों से प्रत्यंग चिपटा कर उन कामुकियों को सुख देने वाला आलिंगन किया. (यह तो बात हुई वन में पहुंचने वालियों की. घर में बंद गोपियां भी कृष्ण के संपर्कसुख से वंचित नहीं रहीं.)

इस प्रकार कृष्ण ने अपनी विभिन्न मूर्तियां बना कर गोपियों के साथ सुंदर घर-घर में तथा रासमंडल में रमण किया. अंदर (परदे में, आड़ में) संभोग कर के बाहर (खुले में) खेल करने लगे. किसी कामातुरा गोपी ने कृष्ण को बलपूर्वक खींच लिया. हाथ से वंशी छीन ली. उन का कपड़ा खींचा. किसी काम मतवाली ने कृष्ण को नंगा कर के उन का पीला कपड़ा ले लिया और हंसने लगी. वहां श्रृंगार (संभोग) की अधिकता से सुंदर शब्द हुआ. वे सब गोपियां नए संभोग के कारण मूर्छित हो गईं. गोपियों और कृष्ण ने एक-दूसरे पर नाखून तथा दांतों का प्रहार किया. कृष्ण ने उन के स्तनों पर नाखूनों की चोट की. उन के कठोर नितंबों पर भी कृष्ण ने नाखूनों के निशान बना दिए. उन गोपियों की नीवी ढीली हो गई. बालों का जुड़ा खुल गया. पैरों और कमर के छोटेछोटे घुंघरू अस्त-व्यस्त हो गए. उन के सुंदर वस्त्र और मनोहर वेश अलग हो गए क्योंकि कृष्ण ने नौ प्रकार का आलिंगन और आठ प्रकार का चुंबन किया था. रसिकवर कृष्ण ने अपने अंगप्रत्यंगों से गोपियों के अंगप्रत्यंग का सोलह प्रकार का श्रृंगार किया. श्रीकृष्ण का रूप धारण किए हुए उन की माया (मायारूपी कृष्ण) गोपियों के साथ गई. कामवाणों से पीड़ित गोपियों ने आनंदपूर्वक जल में क्रीड़ा की. इस प्रकार कृष्ण कौतुक-

माया से मनचाहे रूप

साधारण आदमी को भला इतनी सुविधाएं कहाँ होती हैं! वह तो एक बार में केवल एक ही नारी का भोग कर सकता है और वह भी सीमित समय तक. पर ईश्वर की तो बात ही निराली है! वह माया से अपने चाहे कितने रूप बना ले. जो गोपियां वन में आ गईं, उन के साथ तो रास हो ही रहा है लेकिन जो घर रह गईं, उन के यहां भी कृष्ण अलगअलग रूप बना कर खुद जा पहुंचे. कृष्ण ने जलथल में घर के भीतर और बाहर असीमित स्त्रियों का 30 दिन और रात (720 घंटे) उपभोग किया. फिर भी उन का काम शांत नहीं हुआ. कृष्ण ने तो अवतार ही इस के लिए लिया था. फिर उन का काम साधारण कैसे होता?

आप शंका कर सकते हैं कि 30 दिन और रात तक गोपियां कृष्ण के साथ रमण करती रहीं तो इन के घर वालों ने हल्ला क्यों नहीं मचाया? रात भर की बात होती तो वे सोते भी रहते पर दिन में उनका काम नारियों के बिना कैसे चला होगा? यह शंका करने वाले लोग शायद ईश्वर की अमोघ शक्ति योगमाया को नहीं जानते! कृष्ण ने योगमाया को इशारा किया. उस ने भी गोपियों की प्रतिमूर्ति तैयार कर दी : 'नासूयन् खलुं कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया, मन्यमानाः स्वपाश्वस्थान् स्वान्स्वान् दारान् ब्रजौकसः.'

(भागवत, स्कंद 10, अध्याय 33-38)

(कृष्ण की माया से मोहित ब्रजवासियों ने कृष्ण की निंदा नहीं की. वे अपनी अपनी पत्नियों को अपने पास स्थित ही मानते रहे.)

लगता है कृष्ण ने धरती पर आ कर सारी शक्ति और माया कामतप्ति के लिए

प्रयोग कर डाली थी। इतने विवेचन के बाद मैं पूछता हूँ कि क्या कृष्ण और गोपियों का संबंध पवित्र था? दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या यह सब सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से उचित था कि एक व्यक्ति अपने गांव के आसपास रहने वाली अपनी जाति की सभी स्त्रियों का उपभोग करे? वह इतना भी विचार न करे कि यह इस गांव की बहू है या बेटी है! वह व्यक्ति भी धर्म की स्थापना करने के लिए अवतार लेने वाला ईश्वर हो, तब तो यह नारी साम्यवाद अत्यंत आपत्तिजनक लगता है। कृष्ण ने 'गीता' में स्वीकार किया है कि साधारण व्यक्ति श्रेष्ठ मनुष्यों का ही अनुकरण करते हैं। ईश्वर अथवा उस के अवतार से कौन श्रेष्ठ होगा? तो क्या कृष्ण जनसाधारण के आगे यही आदर्श रखना चाहते थे?

वृद्धाओं को भी नहीं छोड़ा

यदि 'आनंद रामायण' की बात पर विश्वास करें तो कृष्ण ने युवती गोपियां ही नहीं, अर्धेड़ और वृद्धाओं को भी नहीं छोड़ा था :

'स तासां काम पूर्यर्थ निशि निद्राविर्वाजितः, बंधुभ्यां गोपिका भुक्त्वा मातृतुल्य वयो-
ऽधिकाः.'

(राज्य सर्ग 3-47)

(कृष्ण ने रातरात भर जाग कर अपने साथियों सहित अपने से अधिक अवस्था वाली और माता जैसी लगने वाली गोपियों को भोगा। ऐसा कृष्ण ने गोपियों की इच्छापूर्ति के लिए किया।)

कृष्ण का यह आचरण धार्मिक लोगों को न खटकता हो, ऐसी बात नहीं है। पुराण बनाने वाले ने स्वयं ही यह शंका उठा कर समाधान किया है। समाधान क्या? वही एक शस्त्र कि कृष्ण ईश्वर थे। ईश्वर सब कुछ कर सकता है। उसे दोष नहीं लगता।

कृष्ण और गोपियों के संबंध पर

परीक्षित की शंका और शुकदेव का समाधान देखिए :

राजोवाच—'संस्थापनाय धर्मस्य प्रशा-
मायेतरस्य च,
अवतीर्णो हि भगवानंशेन हरिरीश्वरः. 27
सकत्रं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभि रक्षिता,
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभि र्शनम्.' 28
शुक उवाच—'धर्म व्यतिक्रमौ दृष्ट ईश्वरा-
शुक उवाच—'धर्म व्यतिक्रमौ दृष्ट ईश्व-
राणां च साहसम्,
तेजीयसां न दोषाय वन्दे: सर्वभुजो यथा:'. 30
(भागवत, स्कंद 10, अध्याय 33)

तेजस्वी लोगों को दोष नहीं

(राजा परीक्षित बोले—भगवान् कृष्ण ने तो धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए अवतार लिया था। वह धार्मिक नियमों के व्याख्याता, निर्माता और रक्षक थे। उन्होंने परदारागमन का उलटा काम कैसे किया? शुकदेव जी बोले—धर्म का व्यतिक्रम (उलटना, पलटना, अव्यवस्था) तो ईश्वरों का साहस है। जैसे सब कुछ खाने वाली अग्नि को दोष नहीं लगता, उसी प्रकार तेजस्वी लोगों को दोष नहीं लगता।

इसी प्रकार की शंका कृष्ण के कार-
नामे सुन कर पावती ने की :

पावत्युवाच—

धर्मसंरक्षणार्थाय जगत्याम् तीर्थं सः,
परदाराभिगमनं कथं कुर्याज्जनार्दनः. 174

रुद्र उवाच—

तयापहृत पापत्वात् सामर्थ्याद् व्यापिनः
प्रभो,

दोषोऽत्र नास्ति सुभगे देवस्य परमात्मनः.
177 (पद्मपुराण, उत्तरखंड, अध्याय 245)

(पावतीजी बोलीं—उस विष्णु ने तो धर्म की रक्षा के लिए संसार में अवतार लिया। उन्होंने परदारागमन क्यों किया? शिवजी बोले—वह व्यापक प्रभु पापरहित हैं। उन्हें कोई दोष नहीं लगता।)

कितनी लचर दलील है! इसलिए

पाप नहीं ललटा कि ईश्वर पापमूर्ति है। यह भी कोई बात हुई? लगता है, ईश्वर और विशेष कर कृष्ण को पाप करने की छूट मिली हुई है। वह चाहे कितने ही कुकर्म करे, उन्हें लगते ही नहीं। शंका के रूप में साधारण जनता का स्वर बोल रहा है जिसे गोलमोल उत्तर दे कर दबा दिया गया।

पंडित लोग समझते थे कि यदि जनता कृष्ण के इन यौन संबंधों को अनुचित समझने लगी तो बड़ी हानि होगी। एक तो कथाओं से होने वाली आय मारी जाएगी, दूसरे मंदिरों का चढ़ावा समाप्त हो जाएगा। साथ ही जिस वासना की शांति के लिए इस प्रकार के प्रसंग जोड़े गए हैं, वह भी पूरी नहीं हो सकेगी। जब स्त्रियाँ इन कथाओं को सुनेंगी ही नहीं या श्रद्धा नहीं करेंगी तो वे अपने धर्मगुरुओं को साक्षात् कृष्ण मान कर उन के साथ व्यभिचार में रत कैसे होंगी? इसलिए उन्होंने कृष्ण और गोपियों का संबंध उचित ठहराने के लिए अनेक कथाओं की कल्पना की है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के अनुसार राधा और तीस करोड़ गोपियाँ कृष्ण की पत्नियाँ थीं और गोलोक में उन के साथ रहती थीं। सुदामा के शाप के कारण उन्होंने अवतार लिया। भला अपनी पत्नियों से संभोग करना कहीं पाप माना जाता है!

‘वृषभानुमुता राधा सुदाम्मः शापकारणात्।

86

त्रिंशत् कोटि च गोपीना गृहीत्वा भर्तुराज्ञया पुण्यं च भारतं क्षेत्रं गोलोकादाजगाम सा।

87

ताभिः सार्द्धं स रेमे च स्वपत्नी भिर्मुदान्वितः’ 88

(कृष्णजन्म खंड 4, अध्याय 115)

तीस करोड़ गोपियों को लाई

(वृषभानु पुत्री राधा सुदामा के शाप के कारण अपने पति (कृष्ण) की आज्ञा से तीस करोड़ गोपियाँ ले कर आई थीं। वे

सब गोलोक से पवित्र भारत में आई थीं। उन अपनी पत्नियों के साथ कृष्ण ने आनंद से रमण किया।)

बिना औरतों के कृष्ण का काम चलना कठिन था। क्या भरोसा कि इस भारत भूमि में औरतें मिलती या नहीं! इसलिए अपना इंतजाम साथ कर लाए थे। ‘पद्मपुराण’ में कृष्ण और गोपियों के संबंध को उचित बताने के लिए एक विचित्र कल्पना की गई है :

‘अवधीरित कंदर्प कोटि लावण्य मच्युततम, सर्वा गोपस्त्रियो दृष्ट्वा मन्मथास्त्रेण पीडिताः 163

पुरा महर्षयः सर्वे दंडकारण्य वासिनः, दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सु विग्रहम्। 164

ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना समुद्भूतास्तु गोकुले’ हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् 165’

(उत्तरखंड, अध्याय 245)

(सारी गोपियाँ कृष्ण के करोड़ों काम-देवों से भी अधिक सौंदर्य को देख कर कामबाणों से परिचित हो गईं। (इस का कारण इस प्रकार है)। प्राचीन काल में दंडकारण्यवासी ऋषि विष्णु के अवतार राम को देख कर उन का सुंदर शरीर भोगने के लिए इच्छुक हुए। वे स्त्रीत्व को प्राप्त हो कर गोकुल में जन्मे। कामवासना के सहारे ही भगवान को फ-कड़-संसार रूपी सागर से पार हो गए।)

समलैंगिक मैथुन

ऋषियों ने राम के सुंदर शरीर को भोगना चाहा। इस बात का मतलब समलैंगिक मैथुन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? तो ऋषि लोग गुदामैथुन के शौकीन थे? वे क्या इसी लिए राम को घरे रहते थे? कृष्ण के कुकृत्य को उचित बताने के लिए महर्षियों और राम पर कितना बड़ा कलंक लगाया गया है! क्या राम इस अमानवीय कृत्य को बुरा नहीं

समझते थे जो उन्हें उचित दंड देने के स्थान पर अगले जन्म में उन की इच्छा पूरी कर दी. ऋषियों को गोपियां बना कर उन की इच्छा पूरी करने से तो अच्छा था कि विष्णु नारी का अवतार ले कर ऋषियों पर उपकार करते. सागर मंथन के समय मोहिनी अवतार लिया ही था, उसी समय दंडकारण्यवासी ऋषियों का भी दंडा निपटा देते.

इस संबंध में 'आनंद रामायण' की कल्पना और भी ऊंची है :

अथैकदा देवपत्न्यो ज्ञात्वाऽस्पृश्यां विदेह-
जाम. 31

परस्परं ताः संमंत्रयः निशीथे राघवं प्रति,
समाजगमुर्दिव्य वस्त्र रत्नाभरण भूषिताः. 33
रामसौंदर्यं संभ्रंता काम वाण प्रपीडिताः,
दृष्ट्वा राम दूतास्तेप्रच्छुः रक्षणे स्थिता.

34

यूयं किमर्थं संप्राप्ता निशीथेऽत्र भयावहे,
कथयध्वं हि नः सर्वं मा शंकाकुस्ता त्रहि. 35
ता ऊचू राघवं दृष्टुं समायाता वयं स्त्रियः,
अधुना चेद्राघवस्य दर्शनं न भविष्यति. 36
जातीवधस्तदस्माकं जीवितस्यनदीजले,
इतिहासां वचः श्रुत्वा दूतास्ते राघवं जवात्.

37

दास्या निवेदयामासुः स्त्रीवृत्तं तत्सविस्तर-
म्,
श्रुत्वा दासी मुखाद्रामः सैकते मंचके स्थितः.

38

समाहूय स्त्रियः सर्वाः ददर्श रघुनायकः,
ताश्चापिदृष्ट्वा श्रीरामं मेनिर कृतकृत्य-
ताम्. 39

ततस्ता राघवं नत्वा लज्जवाधो मुखा स्त्रियः,
पीडिताः कामवाणंश्च तस्थुः श्रीराम
सन्निधौ. 40

ज्ञात्वा तासां रामचंद्रो हृद्गतं प्राहताः पुनः,
एकपत्नी व्रतं मेऽस्ति चेतज्जमनि भोः स्त्रियः.

42

न ज्ञेयं मे मृषा वाक्यं गम्पतां स्वस्थलं
जवात्. 43

इति राघव वागवाणोभिर मर्मस्थलाः स्त्रियः.
ययुर्मूर्छा क्षणादेव सिकतायां सहस्रशः. 44

ता मूर्छा विह्वला दृष्ट्वा रामो विह्वल-
मानसाः

नारीः संतोषयन् प्राह, हे नार्यः! श्रूयतां मम.

45

वाक्यं खेदापहं वोऽद्य द्वापरे कृष्णरूपधृक्,
अहं ब्रजे भविष्यामि नंद गोपेश पालिते. 46
तदा देवास्तु गोपाला भाविमद् वरदानतः,
भविष्यति सुरेशश्च नंदस्तत्र भविष्यति. 47
भविष्यथ तदां यूयं गोपिकाः सकला ब्रजे,
युष्माकं पूरयिष्यामि यथेच्छं वाञ्छितं तदा.

48

रासक्रीडां हि युष्माभिः करिष्यामि न
संशयः,

वृंदावने तु कारिदया. सैकते निशि वै
चिरम्. 49

भवध्वं स्वस्थ चित्ताश्च गच्छध्वं स्वस्थल
मुदा. 50'

(विलासखंड, सर्ग 5)

काम वाणों से पीड़ित देव पत्नियां

(एक बार देवपत्नियों को मालूम हुआ कि सीताजी छूने योग्य नहीं हैं, अर्थात् उन का मासिक धर्म चल रहा था. उन्होंने आपस में सलाह की और सुंदर कपड़े, रत्न, गहने आदि से सज कर आधी रात के समय राम के पास चल दीं. वे राम की सुंदरता को देख कर मतवाली हो रही थीं. वे काम-देव के वाणों से दुखी थीं. उन्हें देख कर राम की रक्षा में लगे दूतों ने पूछा, "तुम इस भयानक रात्रि में किस कारण आई हो? हमें सब कुछ बता दो. भय मत करो." वे बोलीं, "हम नारियां राम का दर्शन करने आई हैं. इस समय यदि राम का दर्शन नहीं होगा तो हम सब नदी के जल में डूब कर मर जाएंगी." उन की यह बात सुन कर दूतों ने दासियों को उन स्त्रियों का हाल विस्तार-पूर्वक बताया. बाल के बने हुए मंचान पर बैठे राम ने दासियों के मुख से जब यह समाचार सुना तो उन सब नारियों को बुला कर देखा. वे भी राम को देख कर अपने-आप को कृतकृत्य मानने लगीं. इस के बाद

CC-0. Agamligam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उन नारियों ने राम को समझा दिया। इसलिए उन्होंने सीता के राजस्वला होने के वे कामबाणों से पीड़ित होने के कारण समय जा कर ठीक हो किया। राम राजा लज्जा से मुंह नीचा कर के राम के पास होने के कारण कड़े पहरे में रहते थे। इसलिए उन तक पहुंचने के लिए इन स्त्रियों खड़ी हो गईं।

राम उन की हृदयगत इच्छा जान कर बोले, “हे स्त्रियो! इस जन्म में तो मेरा एक पत्नीव्रत चल रहा है। मेरी बात को असत्य मत समझो। शीघ्र ही अपने घर चली जाओ।” इस प्रकार राम के वाक्य-रूपी बाणों से उन स्त्रियों का हृदय बिंध गया और वे हजारों की संख्या में उसी क्षण बाल पर मूर्छित हो गईं। उन नारियों को मूर्छा से बचने देख कर राम भी अपने मन में दुखी हुए और उन नारियों को संतोष देते हुए बोले, “मेरी बात सुनो। इस से तुम्हारा दुख दूर हो जाएगा। मैं द्वापर में कृष्ण का रूप धारण कर के गोपों के स्वामी नंद के द्वारा पालित ब्रज में जन्म लूंगा। उस समय सभी देवता मेरे वरदान से गोपाल बन जाएंगे। वहां इंद्र नंद बनेंगे। उस समय तुम सब ब्रज में गोपियां बन जाना। उस समय तुम्हारी इच्छा भली प्रकार पूरी कर दूंगा। तुम्हारे साथ रासक्रीड़ा करूंगा। इस में कोई संशय नहीं है। यह रास वृंदावन में यमुना की बालू पर रात के समय बहुत देर तक होगा। अब तुम अपना मन स्वस्थ करो और आनंदपूर्वक अपने घर जाओ।”)

एक पत्नीव्रत वाली बात बाधा

हजारों देवपत्नियों के रहते हुए ईश्वर के अवतार राम को संभोग की अमुविधा हो जाए, इस से बुरी बात और क्या होती!

इसलिए उन्होंने सीता के राजस्वला होने के समय जा कर ठीक हो किया। राम राजा होने के कारण कड़े पहरे में रहते थे। इसलिए उन तक पहुंचने के लिए इन स्त्रियों ने धमकी भी खूब दी। राम इतनी नारियों की हत्या का पाप अपने ऊपर कैसे लेते, इसलिए उन्हें तुरंत अपने पास बुलवा लिया। नारी के मुख पर व्याप्त कामवासना तो साधारण व्यक्ति भी पढ़ लेता है। फिर राम तो ठहरे अंतर्धामी। उन्हें देववधुओं के मन की बात समझने में भला क्या देर लगती?

राम को देवपत्नियों से यौन संबंध स्थापित करने में कोई आपत्ति नहीं थी। केवल एक पत्नीव्रत वाली बात ने उन का रास्ता रोक रखा था। जब राम का निषेध भरा कठोर वाक्य सुन कर वे नारियां मूर्छित हो गईं तो राम को उन का मन रखना पड़ा। उन्होंने अगले यानी कृष्णावतार में उन नारियों को गोपियां बनने की आज्ञा दी और तभी उन की इच्छा पूरी करने का वचन भी दिया। अब कृष्ण गोपियों को प्रेयसी नहीं बनाते तो और क्या करते? राम के रूप में किया हुआ वायदा तो उन्हें पूरा करना ही था। इस में उन का भला क्या दोष?

कृष्ण का गोपियों के साथ संबंध किसी प्रकार भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। यदि कृष्ण ईश्वर थे तो सारी प्रजा उन की संतान हुई। यदि वे महापुरुष थे तो उन्हें समाज में अच्छा आदर्श रखना चाहिए था। लोग धर्मकथाओं के नाम पर ऐसी बातें कहते-सुनते हैं, उन्हें क्या कहा जाए? ऐसा धर्म कब तक श्रद्धा बटोर सकता है? ●●●

सरिता का रचनात्मक आंदोलन

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी हो या किसी समाज की भर्त्सना करनी हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए, मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी यानी धन की बुराई की है, पर किसी धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो. क्यों? भगवान खुश होंगे. तो क्या धन कमाने वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता है तो घृणायोग्य बन जाता है.” पर क्या बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए. बिना पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है? आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को रोजगार में लगाने के लिए कम से कम 10,000 रुपए की पूँजी चाहिए. बिना पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह सकता है. रोजगार बिना पूँजी के नहीं हो सकता. बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती. मानसिक व शारीरिक सुख बिना पूँजी नहीं मिल सकता.

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती. धन बिना मेहनत किए नहीं आता. और आसदानी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी नहीं बन सकता. व्यक्ति ही पूँजी बनाता है, वह ऊपर से नहीं टपकती. सरकार (यानी राजनीतिबाज) उसे जन्त कर सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना नहीं सकती.

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है. जब तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में रोजगार बढ़ेंगे, न बेकारी कम होगी और न ही समृद्धि आएगी.

जिस देश में करोड़ों लोगों को भरपेट भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और पूँजीपतियों को गालियां दे कर राजनीति-बाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन का पेट नहीं भर सकते. उन का पेट तो तभी भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने और उद्योगधंधे होंगे. और वे तब होंगे जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी. याद रखिए, पूँजी और गरीबी का आपस में बंद है. पर राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजी-पति का बंद बना दिया है.

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए. पूँजी व्यापार-उद्योग में लगाइए, स्वयं काम में लगिए. दूसरों को रोजगार दीजिए. यदि व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग सर्टिफिकेट खरीद कर. बंसे समाजवाद यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध नहीं बन सकता. इस से केवल राजनीति-बाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है.●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए.

हमारे देवमंदिर

कुमार काश्यप

क्या सही अर्थों में धर्म के प्रतीक है?

यदि हिंदू धर्म में केवल देवमंदिर ही होते तो शायद पहली नजर में ही यह कहा जा सकता था कि दुनिया के तमाम धर्मों में सब से कम 'धार्मिक' धर्म तथाकथित हिंदू धर्म है. करण, 'धर्म' शब्द के व्यापक अर्थ में श्रद्धाउपासना, पूजाप्रार्थना आदि तत्त्वों का जो समावेश है उस का आभास कम से कम हिंदू देवमंदिरों में तो बिलकुल नहीं मिलता.

कोई व्यक्ति आखिर किसी पूजास्थान या प्रार्थनास्थान में क्यों जाता है? जाहिर है कि श्रद्धा के कारण. और यदि वह वहां बैठ कर किसी प्रकार की पूजाअर्चना, ध्यानप्रार्थना आदि करता है तो उस तल्लीनता से उस का ध्येय कुछ मानसिक शांति व आध्यात्मिक स्वच्छता प्राप्त करना होता है.

श्रद्धा व उपासना का अर्थ ही यह है कि मन को कुछ समय के लिए सांसारिक संकीर्णता व स्वार्थपरता से मुक्त कर के किसी आदर्श शक्ति (ईश्वर आदि) या उच्चतर लक्ष्य की ओर उन्मुख किया जाए, और उस से जो उपलब्धि होती है वह मुख्य रूप से शांति व स्वच्छता की है.

लेकिन क्या कोई निष्पक्ष व्यक्ति हिंदू देवमंदिरों में जाने वाले किसी साधारण भक्तसमूह के हावभाव को देख कर यह कह सकता है कि ये लोग किसी श्रद्धा-भावना या उपासनावृत्ति से प्रेरित व

संचालित होते हैं? बिलकुल नहीं. यदि उन के मन में कोई श्रद्धाभाव होता तो क्या वे मंदिरों के दरवाजों, ड्योढ़ियों, प्रांगणों व उपासनागृहों में उस प्रकार की धक्कमधक्का व खींचातानी करते, जैसी वे अकसर सभी मंदिरों में नित्य ही करते दिखाई देते हैं? क्या वे मंदिरों में सर्वत्र श्रद्धा जमाए, सड़ीगली फूलपत्तियों, केलों, संतरो, मृगफलियों आदि के छिलकों की गंदगी बिखेरते रहते, जैसा किसी भी दिन किसी भी मंदिर में देखा जा सकता है?

मंदिरगमन शांति प्राप्ति के लिए नहीं

सब से बढ़ कर, क्या वे पूजा या आरती के दौरान ही या उस के बाद प्रसाद के लिए उस प्रकार का दानवी कोलाहल मचाते, जैसा सभी मंदिरों में प्रसाद वितरण के समय सुना जा सकता है? इस सारी धमाचौकड़ी व चीखपुकार में कितनी तो श्रद्धा रह जाती है और कितनी उपासना, कहने की जरूरत नहीं! हां, जो बड़ी हुई अशांति, शारीरिक थकावट और आध्यात्मिक शून्यता इस सारी गतिविधि के बाद गले पड़ती है, उस से इतनी बात अवश्य सिद्ध हो जाती है कि प्रचलित हिंदू धर्म में मंदिरगमन का मतलब किसी श्रद्धाउपासना या शांति प्राप्ति के लक्ष्य से उत्प्रेरित होना नहीं है. तो फिर ये लाखोंकरोड़ों भक्तजन,

जो प्रति दिन मंदिरों में जाते हैं, आखिर वहाँ क्यों जाते हैं? एक कारण तो यांत्रिक है और दूसरा मनोवैज्ञानिक। यांत्रिक कारण यह है कि हमारे यहाँ समाज के बड़े अंश में बच्चों का पालनपोषण अभी तक जिस ढंग से होता आ रहा है उस में मातापिता के साथ उन के बच्चों का भी मंदिर जाना एक नियम सा बन जाता है। फिर जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते जाते हैं वैसे-वैसे उन में अन्य निश्चित स्थानों पर जाने की तरह मंदिर जाना भी उन के स्वभाव का एक अंग बन जाता है। तब वे उन निश्चित समय या तिथियों पर अनायास ही, लगभग यंत्रवत्, मंदिर की ओर चल पड़ते हैं।

इस में उन की इच्छाशक्ति या निर्णय का कोई विशेष हाथ नहीं रहता। इस तत्त्व को हम मंदिर जाने की परंपरागत प्रवृत्ति या स्वभाव कह सकते हैं। यह स्थिति लगभग एक नशे की तरह है, अर्थात् एक ऐसी प्रवृत्ति जिस का कोई स्पष्ट औचित्य न होने पर भी व्यक्ति उस से मुक्त नहीं हो पाता।

मंदिर जाना केवल ग्रंथविश्वास

मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि जैसे-जैसे बड़े होते व्यक्ति में यह प्रवृत्ति या नशेबाजी रूढ़ होती जाती है और साथ ही उस की समझ भी बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसे अपने-आप ही अपनी उस प्रवृत्ति का कोई औचित्य भी तलाश करना पड़ता है, जैसे सिगरेट की लत वाले लोग अंत में यह कहने लगते हैं कि वे तो केवल अपने हाजमे के लिए ही सिगरेट पीते हैं! तब नियमित रूप से मंदिर जाने के चमत्कारी प्रभावों का प्रचलित मिथ्यावाद उस औचित्य का काम करता है जिस के सहारे मंदिरगमन का नशेबाज अपनी उस आदत को खुद अपने निकट उचित व उपयोगी सिद्ध करता है। स्पष्ट शब्दों में,

उसे मंदिर जाने के सुफलों व न जाने के कुफलों का जो मंत्रपाठ व वचन से कराया जाता रहा है उस में उस का सहज विश्वास उसे निरंतर मंदिर की ओर ही आकर्षित करता है। इस तत्त्व को हम मंदिरगमन का ग्रंथविश्वास कह सकते हैं, अर्थात् यह धारणा कि मंदिर जाने से देवमूर्ति के दर्शन मात्र करने से कुछ वांछित सांसारिक फल सुलभ हो जाते हैं। अतः जो हिंदू लोग मंदिरों में जाते हैं, वे किसी 'उच्चतर शक्ति' या आदर्श की उपासना करने के लिए वहाँ नहीं जाते, बल्कि वे जाते हैं, अपने उन्हीं सांसारिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए जिन का वास्तव में धर्म के शुद्ध अर्थों के साथ कोई संबंध ही नहीं होना चाहिए।

भगवान को भोगी मानते हैं

फिर ये लोग वहाँ एकाग्र मन से ध्यान लगा कर अपने उन स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही कुछ विशेष अध्यवसाय करने का संकल्प भी नहीं करते, बल्कि वे एक मानवाकार पुतले के दर्शन मात्र कर के और बतौर घूस कुछ पैसे, फलमिठाई, भेंट आदि उस के आगे रख कर के लगभग उतनी ही तेजी व बौखलाहट के साथ वहाँ से भाग खड़े होते हैं, जितनी कि वे किसी लौकिक सत्ताधारी को भेंट चढ़ाने समय प्रदर्शित करते हैं। इस तरह यह बिल्कुल जाहिर है कि हम में से अधिकांश लोग खुद अपने ही रूप में अपने भगवान को देखते हैं, अर्थात् जैसे हम खुद को और अपने सांसारिक सत्ताधारियों को घोर लालची व भ्रष्ट जानते हैं उसी प्रकार अपने भगवान को भी एक भयंकर रूप से खाऊ, पिथक्कड़ व 'भोगी' सत्ता मानते हैं। यह बात न होती तो हम एकएक भगवान के लिए प्रति दिन सैकड़ों हजारों की संख्या में फलमिठाई के थाल भला क्यों चढ़ाते?

मंदिर जाने का एक सामाजिक कारण भी है, यानी दिखावे मात्र का

कारण. लेकिन उस की चर्चा का यह स्थान नहीं क्योंकि यहां हम केवल 'सच्चे मंदिरों' व 'सच्चे भक्तों' का ही विवेचन कर रहे हैं, 'जाली मंदिर' व दिखावे के 'झूठे भक्तों' का नहीं. वैसे यह बात सही है कि अधिकतर मंदिर और अधिकतर भक्त ऐसे जाली व झूठे ही हैं!

दो पतनकारी तत्व

हमारे मंदिरों में केवल धक्कमधक्का, चिल्लपों और गंदगी ही नहीं होती, दो और पतनकारी तत्व भी उन के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े मिलते हैं : एक, बाजार—यानी ढाबे, रेस्तोरां, चाय व पानबीड़ी की दुकानें—और, दूसरा, गलीज भिखारियों और कोढ़ियों की एक विशाल सेना. आज तक किसी हिंदू धर्म सुधारक के दिमाग में यह प्रश्न नहीं उठा कि आखिर हिंदू समाज के गठन में ऐसी क्या खराबी है जिस के फलस्वरूप इतने सारे बीभत्स भिखारी व कोढ़ी पैदा होते हैं. शायद केवल गांधीजी को ही यह स्थिति अखरी थी, और उन्होंने मेरा बस चले तो तमाम सदाव्रतों व भिखारियों पर कानूनी पाबंदी लगा दूं... कह कर असंतोष व्यक्त किया था.

आम तौर पर हमारे यहां इन रोगियों और भिखारियों जैसे अमानवी जीवों को 'नारायण का रूप' कह कर उन की प्रशंसा ही की जाती है. इस प्रकार हिंदुओं की दृष्टि में 'नारायण' का एक रूप तो काठपत्थर की वह मूर्ति है, जिस के गले में लाखों के हीरेजवाहिरात व सोने के गहने झूलते रहते हैं और जिस की कल्पित विलासप्रियता की कोई हद नहीं है, और दूसरा रूप है मंदिर के बाहर पड़ा हुआ, घायल सूअर की तरह बिलबिलाने वाला वह भिखारी कंकाल या भिनभिनाती मक्खियों से ढका वह कोढ़ी अर्धमानव, जिसे दान दे कर जीवित व सक्रिय रखना स्वर्ग में सीट सुरक्षित करने अथवा अगले

जन्म में मध्याह्ना या कोढ़ीकोड़ा बनने से बचने के लिए बहुत जरूरी है! और इन दो छोरों के बीच हिंदू समाज का झूला बड़े आराम के साथ झूलता रहता है.

वास्तव में केवल इसी एक बात से हमारे मूल प्रश्न का उत्तर मिल जाता है, यानी यह कि वह खराबी क्या है जिस का यह भयानक नतीजा है? वह खराबी है हमारे समाज में असाधारण असमानता, जिस के परिणामस्वरूप हजारों लाखों की संख्या में ऐसे लोग प्रकट होते रहते हैं जो अंततः केवल भिखारी बन कर ही जिंदा रह सकते हैं. और इस असमानता को थोड़े से संपन्न लोगों के हितार्थ सदा बनाए रखने के लिए दानपुण्य संबंधी एक पूरे पाखंडवाद का उदय हुआ है. यह हमारी अकल्पनीय सामाजिक, असमानता व दान संबंधी मिथ्यानीति दर्शन का ही फल है कि हमारे देश में लगभग एक करोड़ भिखारी और घुमक्कड़ साधु निष्क्रियता का जीवन बिता सकते हैं.

भिखारीगृह की व्यवस्था

फिर मंदिरों के आगे इन भिखारियों व कोढ़ियों की मौजूदगी से भी ज्यादा विचित्र बात यह है कि किसी मंदिर के व्यवस्थापकों के दिमाग में यह विचार नहीं आता कि जो पैसा, भोजन आदि इन भिखारियों, कोढ़ियों की भक्तों के हाथ से किसी न किसी बहाने मिल जाता है, उसी को किसी एक स्थान पर संग्रहीत कर के इस पूरे भिखारी वर्ग के लिए ही किसी स्थायी आवास और उपयोगी काम आदि की व्यवस्था की जाए! देश भर में एकदो बड़े मंदिरों को छोड़ कर और किसी मंदिर की अपनी सीधी आय में से कोई ऐसा भिखारीगृह चलाया जा रहा हो, इस का भी कोई संकेत नहीं.

बात साफ है, खुद मंदिरों के व्यवस्थापक यह नहीं चाहते कि उन के

दरवाजों पर पड़े इन भिखारियों, रोगियों, कोढ़ियों आदि को वहाँ से हटाया जाए अथवा उन की देखरेख का भार खुद उन के मंदिरों की आमदनी पर डाल दिया जाए. इस के विपरीत वे यही चाहते हैं कि ये लोग मंदिरों के आगे ही पड़े रहें इस तरह वे अपनी वीमत्स आकृति व असहनीय दुर्दशा और पीड़ा के प्रदर्शन से श्रद्धावश्यासी भक्तों के मन में इतना आतंक भर दें कि वे न केवल उन भिखारियों को ही कुछ देकर छोड़कर अपनी पापी आत्मा को संतुष्ट करें, बल्कि वे भीतर प्रवेश करने तक इतने कफी हतबुद्धि व मतिहीन हो चुके हों कि गांठ में जो कुछ भी छिपा हो उस से शीघ्रातिशीघ्र अनासक्त होने की तत्परता दिखाएं!

इस भिखारी मंदिर की आय में सहायक

हि १३

कए इस प्रकार ये सभी तत्त्व आपस में जुड़े हुए हैं : भिखारी व कोढ़ी इसलिए हैं ताकि भक्त लोग दान देने के मूड में आएँ, और भीतर देवमूर्ति इसलिए है ताकि उस दान को वसूल करे. इस दृष्टि से ये 'भिखारी दृश्य' उन 'नग्न नारी' पोस्टरों की उलटा खूब ही है जिन्हें देख कर सचिवों के होटल में जाने या फिल्म को देखने की इच्छा जाग्रत होती है.

फिर भी वे हेस्तोराँ और चाय, पानबीड़ी की दुकानों में हैं ताकि भक्त लोगों को उपस्थित भिखारी सेना तक उस की बुनियादी जरूरत का सामान व नशा आदि पहुंचाने में कोई दिक्कत न हो. फिर इन दुकानों में जो अकसर मंदिर की जायदाद से आगमियों के द्वारा नाजायज रूप से अधिग्रहण की गयी जमीनों पर होती हैं, मंदिर संचालकों को पगड़ीकिराए के रूप में भी आबदादी खूब होती रहती है. इन सब कारकों से वे न भिखारियों को ही वहाँ से हटवाना चाहते हैं, न उस गलीज को जहाँ से ही है और न इन दोनों तत्वों से फैलने वाली सर्वव्यापक गंदगी व

सड़ांध को ही, जो हिंदू मंदिरों का लगभग इतिहासप्रसिद्ध प्रधान लक्षण बन गई है.

मंदिरों की आय का उपभोग

इस विवेचन से हम सहज ही अपने विषय के सब से महत्वपूर्ण अंग पर आ जाते हैं, और वह है मंदिरों की आय का उपभोग. भारत में विभिन्न मंदिरों की आय कुछ हजार रुपए वार्षिक से ले कर कुछ करोड़ रुपए वार्षिक तक है. यह आय आम तौर से धर्मार्थ संपत्ति की पगड़ी, किराए और बांडों, शेरों और बैकों में लगे हुए रुपए के व्याज व मुनाफे से होती है. व्यक्तिगत व संस्थागत दान और नित्य-प्रति का चढ़ावा इस के अतिरिक्त है. इस प्रकार भारत में धर्मार्थ संस्थाओं में शायद मंदिर ही सब से ज्यादा धनी, संपन्न व समृद्ध हैं! किसीकिसी बड़े मंदिर में, विशेषतया दक्षिणी राज्यों में, देवमूर्तियों के आभूषणों व स्वर्णकोश का मूल्य ही करोड़ों में आंका जाता है.

लेकिन इस सारी आय के प्रबंध व उपयोग का न कोई देशव्यापी कार्यक्रम है और न एकदो बड़े मंदिरों को छोड़ कर हर मंदिर के दायरे में ही कोई खुला हिसाब है. हर देवस्थान की व्यवस्था या तो किसी पुरतनी पुरोहित परिवार के हाथ में है, या फिर कुछ ऐसे स्थानीय वृद्ध लोगों के न्यासपरिवारों के हाथों में जो अपने अधीन मंदिरों के नित्य प्रबंध और आय के सही हिसाबकिताब के उपयोग में कोई विशेष व्यक्तिगत रुचि नहीं ले सकते.

अधिकांश मंदिरों की आय का एक-दम खुला या गुप्त दुरुपयोग होता है. उस से न हिंदू धर्म के प्रचार में ही कोई सहायता मिलती है, और न समाजकल्याण की अन्य गतिविधियों को ही कोई लाभ होता है.

इस विशाल आय के किसी अंश का उपयोग तथाकथित हरिजनों व आदि-

वासियों को इससे अपने सरोकारों के लिए भी नहीं किया जाता. न उस से कुछ ऐसे विशेष धार्मिक शिक्षालय या क्षेत्रीय अथवा अखिल भारतीय धार्मिक विश्वविद्यालय ही चलाए जाते हैं जहाँ उपयुक्त योग्यता वाले सदाचारी व्यक्तियों को शास्त्रार्थ व पुरोहिताई आदि का प्रशिक्षण दिया जा सके.

पुजारी अभावग्रस्त रहते हैं

यही वजह है कि मंदिरों में नियुक्त होने वाले अधिकतर पुजारी, भजनकीर्तन वाले, व्याख्यानकर्त्ता आदि न केवल अपनी विद्या में ही पारंगत होते बल्कि वे साधारण ज्ञान व चरित्र की दृष्टि से भी काफी हीन कोटि के होते हैं. फिर जिस स्तर के ये पुजारी होते हैं उसी स्तर का उन्हें निम्न वेतन मिलता है. इस से उन्हें अकसर ही अभावग्रस्त रहना पड़ता है और यह स्थिति उन की स्वाभाविक याचनावृत्ति व लिप्सा को कुछ और पुष्ट करती है.

मंदिरों के ये कर्मचारी खुद इन स्थानों की सुव्यवस्था के लिए होते हैं. इसलिए जब इस आवश्यक कार्यश्रेणी (काडर) को ही वांछित स्तर पर लाने के लिए मंदिरों की आय का कोई सदुपयोग नहीं होता तो अन्य कल्याणकारी कार्यों—जैसे साधारण शिक्षा, स्वास्थ्यरक्षा, दलितों के उद्धार, नशाविरोध, चरित्र निर्माण आदि पर उस का कितना अंश व्यय किया जाता होगा, इस की सहज ही कल्पना की जा सकती है! रह गए पुश्तैनी महंत परिवारों वाले मंदिर (बहुत से सार्वजनिक मंदिरों के महंत, पुजारी आदि भी पुश्तैनी हैं) तो उन की आय का किसी सार्वजनिक कार्य में लगने का तो खैर सवाल ही नहीं है. ऐसे मंदिर संबद्ध महंतों की 'निजी संपत्ति' ही माने जाते हैं और उन की सारी आय, मय चढ़ावे के, उन महंतों की निजी जायदाद होती है.

हिंदू मंदिरों का एक और अष्ट

ध्यानार् है उन का मुबहशाम निश्चित समय पर ही खुलना और बंद होना. इस स्थिति का जो दुरुपयोग होता है उन की चर्चा हम आगे करेंगे. पहले यहां यह समझ लें कि मंदिरों के साथ यह 'खुलने और बंद होने' का मानवी व्यवहार आखिर किया क्यों जाता है?

पहला कारण तो भगवान संबंधी हिंदुओं की धारणा है. हिंदुओं ने क्योंकि भगवान को अपने ही मानवी रूप में कल्पित किया है इसलिए वे ऐसा समझते हैं कि जैसे खुद उन्हें खानेपीने, सोने, आराम करने की जरूरत है उसी तरह उन के भगवान को भी मुबहशाम के दर्शनों व आरती आदि की 'थकावट' के बाद रात को कुछ निद्रामग्न होने की आवश्यकता होती है. यों व्यवहार में आराम व निद्रा की जरूरत तो केवल महंतों व पुजारियों को होती है, लेकिन कहा यही जाता है कि 'श्रव भगवान अपने शयनकक्ष में जा रहे हैं!'

भगवान सतत कार्यशील है

इस खुली विडंबना का अंत होना चाहिए और मंदिर में कोई देवमूर्ति हो या न हो (आर्य समाज व ब्रह्म समाज मंदिरों में कोई मूर्ति नहीं होती) पर भगवान का जो कल्पित, मानवातीत और अमूर्त रूप है वह हर मंदिर में अक्षुण्ण बना रहना चाहिए. मतलब यह कि भगवान के खानेपीने, स्नान आदि करने का कोई समय नहीं होना चाहिए. भगवान बस भगवान होना चाहिए—सतत विद्यमान व सतत कार्यशील!

दूसर. कारण है चोरी का भय. हिंदू लोग अपने धर्म में इतनी अधिक 'श्रद्धा' रखते हैं कि जब वे अपनी देवमूर्तियों के शरीर पर सोनेचांदी के आभूषण देखते हैं तो अनायास ही उन के मुंह में पानी भर आता है. उन में काफी बड़ी संख्या ऐसे लोगों की होती है जिन का यदि उसी

समय या रात के अंधेरे में बस चले तो भगवान को नंगा करने से भी बाज न आए! इसलिए इन कीमती गहनों, वस्त्रों आदि की खातिर भी रात के समय मंदिरों के दरवाजों पर भारीभारी ताले लगाने पड़ते हैं।

अब दुरुपयोग की बात लीजिए, होता यह है कि मंदिर बंद होने से उन के महंत व पुजारी लोग, जो ग्राम तौर पर मंदिर के भीतर ही आवासक्षेत्रों में रहते हैं, दिन या रात में काफी लंबे समय के लिए सार्वजनिक दृष्टि से सुरक्षित हो जाते हैं। तब इन में से बहुत से लोग जो पूजा, व्याख्यान आदि के समय धर्मार्त्ता बने रहते हैं, चढ़ावे की आमदनी समेट कर रागरंग की महफिलों में मग्न हो जाते हैं। मथुरा, बनारस व दक्षिण के अनेक मंदिरों में रात के समय क्या नहीं होता! वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, अप्राकृतिक व्यभिचार, नशे-बाजी, जुआ, डाका, चोरी और अन्य अनेक अपराध वहां होते हैं।

मंदिर चौबीसों घंटे खुलने चाहिए

इसलिए यदि मंदिरों के लिए चौबीसों घंटे खुले रहने का कड़ा नियम हो तो जहां एक तरफ केवल एक महंत की बजाए कम से कम दो और शिपटों में चलने के लिए तीनतीन पुजारी काम से लगे (अर्थात् पुजारियों की मांग व रोजगार बढ़े), वहां दूसरी ओर मंदिर के भीतर किसी प्रकार के व्यभिचारअनाचार की गुंजाइश भी बहुत कम रह जाए। और फिर मुकुटधारी भगवान भी शायद अपने तामझाम से मुक्त हो कर या तो वैसा ही 'अदृश्य रूप' अपनाएं (अर्थात् अंतर्धान हो जाएं) जैसा कि प्रकट प्रकृति में 'उन का' है, या फिर मात्र रंगे काठ अथवा ईंटपत्थर का एक ऐसा ढेर रह जाएं जिसे श्रकैलेदुकेले भी अपने भक्तों से किसी हाथ की सफाई का खतरा न हो!

दो अन्य खराबियां हैं—कुछ खास धर्म संप्रदायों व तथाकथित जातियों के

लोगों का हा मंदिर में प्रवेश पा सकना तथा कुछ अन्य अनुसूचित लोगों का (जो श्रद्धावश व यथानियम ही वहां जाना चाहते हैं) प्रवेश निषिद्ध होना। आज के युग में किसी प्रार्थनास्थान को, जिसे 'भगवान का घर' कहने का दावा किया जाता हो, अपने भक्तों में इस प्रकार का विभेद करने की अनुमति किसी हालत में भी नहीं दी जा सकती। यों ही यह स्थिति जहांजहां भी है, भारतीय संविधान व छुआछूत उन्मूलन अधिनियम आदि कानूनों के विरुद्ध है। इसलिए इस विषय में जिन लोगों पर कानून की पाबंदी कराने की जिम्मेदारी है उन्हें तुरंत ध्यान दे कर स्थिति में सुधार करना चाहिए।

अंतिम बात यह है—हिंदू मंदिरों में (इस संदर्भ में केवल सनातनी मंदिर ही अभिप्रेत हैं) केवल तथाकथित ब्राह्मण जातीय पुरोहितों को ही लगाया जाना। हिंदू पुरोहित के लिए वैदिक, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान, धर्मशास्त्रों, यज्ञक्रियाओं, पूजाअनुष्ठान आदि का कुशल अभ्यास, आधुनिक विषयों, भाषाओं, आदि की पर्याप्त जानकारी, उत्तम स्वास्थ्य व आदर्श चरित्र, सुभाषितवक्ता आदि योग्यताएं आवश्यक रूप से होनी चाहिए। लेकिन ये सारी योग्यताएं यदि (मान लीजिए) किसी तथाकथित हरिजन ने भी प्राप्त कर ली हैं तो उसे किसी मंदिर में परोहित क्यों न नियुक्ति किया जाए? फिर मंदिर जो हर दृष्टि से सार्वजनिक संस्थाएं हैं और सार्वजनिक हित के लिए हैं यानी वे कोई मुनाफा कमाने का धंधा नहीं हैं, तो उन में कोई भी पदाधिकारी वंशानुगत क्यों हो? इन प्रश्नों के उत्तर भी आज विचारशील हिंदू समुदाय को खोजने चाहिए। या जो लोग आज मंदिरों के कर्ताधर्ता बने बैठे हैं उन से ये प्रश्न किए जाने चाहिए।

मंदिर व्यवस्था कानून बनाना चाहिए

अब दरअसल वह समय आ गया है

जब हमारे सित्ति के ही इस विषय में विचार करना चाहिए और हिंदू मंदिरों की व्यवस्था के लिए कोई सर्वांगपूर्ण कानून बनाना चाहिए. उस कानून के कुछ मुख्य सिद्धांत इस प्रकार हो सकते हैं :

तमाम मंदिरों के आयव्यय का हिसाब पूर्ण रूप से खुला व सार्वजनिक हो.

आय में से खासखास अनुपात में रकमें खासखास कल्याणकारी व धार्मिक उद्देश्यों के लिए रखी जाएं.

तमाम मंदिरों की आय के एक निश्चित प्रति शत से एक 'अखिल भारतीय हिंदू धर्मार्थ कोश' स्थापित किया जाए और उस का व्यय केवल हिंदू धर्म के प्रचार व उत्थान के लिए हो.

एक 'अखिल भारतीय धनकोश' भी कायम किया जाए, जिस में भिक्षावृत्ति का

सहायता करने का काम लिया जाए.

महंत प्रथा व महंत परिवारों का उन्मूलन कर दिया जाए और मंदिरों में नियुक्त होने वाले पुरोहितों व पुजारियों के लिए आवश्यक योग्यताओं और उपयुक्त प्रशिक्षण के बाद प्रमाणपत्रों की व्यवस्था की जाए. मतलब यह कि पुरोहिताई को एक बाकायदा वृत्ति (पेशा) समझा जाए, जैसे डाक्टर, वकालत आदि. प्रशिक्षण में जाति, लिंग, प्रांत आदि का कोई भेद न हो.

मंदिरों के दरवाजे चौबीसों घंटे खुले रखने का कड़ा नियम बनाया जाए.

मंदिरों में प्रवेश तथा किसी पद आदि पर नियुक्ति के लिए धर्म, संप्रदाय, जाति, वर्ण, लिंग वय आदि का कोई भेदभाव न हो.

सरिता का रचनात्मक आंदोलन

**बच्चे तीन से कम पैदा कीजिए,
पेड़ पांच से अधिक लगाइए.**

भारत की सब से बड़ी समस्या है गरीबी और जनसंख्या का बेलगाम बढ़ते जाना. सभी धर्म ग्रंथों में लिखा होने पर भी कि अमुक राजा या व्यक्ति अमुक पुरुष के वीर्य से, अमुक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ, जनता को यही भुलावा दिया जाता रहा कि संतान भगवान की देन है.

जब तक आधुनिक विज्ञान और पश्चिमी चिकित्सा पद्धति भारत में नहीं आई थी, गरीबी, भुखमरी, अकाल और अनेक महामारियों के कारण जनसंख्या सीमित रहती थी. मृत्यु दर लगातार घटती जा रही है. जहाँ पहले 100 बच्चों में से मुश्किल से 5-10 बच्चे पोते थे, आज 60-70 से अधिक जीवित रहते हैं.

इस सब के कारण जनसंख्या में भारी वृद्धि हो रही है और इस व्याधि को भगवान और भाग्य के भरोसे छोड़ना सामूहिक आत्महत्या के समान है. 'भगवान जिसे दो हाथ देता है, उसे खाना भी देगा,' यह सिद्धांत बिल्कुल ही गलत और भ्रामक है.

यदि आप अपनी, अपने परिवार की और देश की गरीबी रोकना चाहते हैं तो बच्चे कम पैदा कीजिए. भगवान का इस में कोई दखल नहीं है. यदि गर्भ निरोधक सही प्रकार से प्रयोग में लाए जाएं तो भगवान भी किसी स्त्री के संतान उत्पन्न नहीं कर सकते.

आज के मशीनी युग में. सैकड़ों व्यक्तियों का काम एक मशीन हजार गुना गति से पूरा कर देती है. आज वही व्यक्ति शक्तिशाली व धनी हो सकता है, जिस को ऊँचे दर्जे की शिक्षा और प्रशिक्षण मिला हो. इन सब के लिए धन चाहिए. जितने अधिक बच्चे होंगे, उतना ही धन

प्रति बच्चा कम होता जाएगा. नतीजा यह होगा कि जिन के बच्चे कम होंगे, वे उन्हें अच्छा, महंगा प्रशिक्षण दे सकेंगे.

देश में अधिक से अधिक पेड़ लगाने की भी आवश्यकता है. क्योंकि बाढ़ें अधिक आ रही हैं, नदियों और बांधों में मिट्टी भरती जा रही है, सूखा पड़ता जा रहा है, रेगिस्तान फैलता जा रहा है. लकड़ी कम और महंगी होती जा रही है.

इसलिए आप अपने बच्चों का मोह अधिक वृक्ष उगा कर पूरा कीजिए. यह निश्चय कीजिए कि अपने जीवन में आप कम से कम पांच वृक्ष अवश्य लगा कर बड़े करेंगे. बच्चे बड़े हो कर विश्वासघात कर सकते हैं, आप को कष्ट पहुँचा सकते हैं, परंतु वृक्ष सदा आप के प्रति वफादार रहेंगे, वे आप को बराबर हर वर्ष अपनी शक्ति के अनुसार फलफूल देंगे, छाया देंगे, मौसम की बदलती आँखों से आप के घर की रक्षा करेंगे.

हो सकता है आप किराए के मकान या फ्लैट में रहते हों. यदि आप निचली मंजिल में रहते हैं तो वहाँ भी पेड़ लगा सकते हैं—और इस पर लागत अधिक नहीं आती. यदि आप केवल ऊपरी मंजिलों में रहते हैं तो वहाँ गमलों में पौधे लगाइए, सब्जी बोइए, बेलें चढ़ाइए. अपनी जमीन न हो तो किसी सार्वजनिक स्थान में—स्कूल, अस्पताल, बगीचा, सड़क, धर्मशाला आदि में, प्रबंधकों से अनुमति ले कर वृक्ष लगाइए. ज्योंज्यों वे बढ़ते जाएंगे, आप को एक अपूर्व संतोष, शांति और परिपूर्ति का उत्तरोत्तर अनुभव हो जाएगा.

आज ही निश्चय कीजिए :

बच्चे दो या तीन, पेड़ पांच से पचीस.

क्या समाजवाद अनिवार्य है?

बसंत चटर्जी

अनेक वादों के जाल में उलझे विश्व
के सामने एक निर्णयात्मक प्रश्न

मार्क्सवादी दर्शन में विश्वास करने वाले समाजवादी प्रचारक एक दलील देते हैं कि समाज में समाजवाद का उदय किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की इच्छाअनिच्छा या पसंदनापसंद पर निर्भर नहीं है, बल्कि वह इतिहास की एक ऐसी परिणति है, जो देर या सवेर से दुनिया के हर समाज में हो कर रहेगी. और अंततः इस सारी ही दुनिया को समाजवादी व्यवस्था के अधीन होना होगा.

समाजवाद से बच नहीं सकते

इन प्रचारकों का कहना है कि जिस प्रकार मध्ययुगीन सामंतवाद व साहूकारे के गर्भ से आधुनिक औद्योगिक पूंजीवाद का जन्म हुआ उसी प्रकार इस औद्योगिक अथवा मशीनी पूंजीवाद के गर्भ से समाजवाद अर्थात् अद्वैतिक संपत्ति के दौर का जन्म होगा. इस प्रक्रिया से बचने या भागने का कोई उपाय नहीं है, यह तो हो कर ही रहेगा.

मार्क्सवादी दर्शन में इस सारी विचारधारा को 'ऐतिहासिक निश्चयवाद' (हिस्टोरिकल डिटरमिनिज्म) की विचारधारा कहा जाता है और इस की मूल धारणा यह है कि मानवी इतिहास में सभी घटनाएं आर्थिक वर्ग संघर्ष के

कारण होती हैं. अतः किसी समाज में इस सतत वर्ग संघर्ष की जिस समय जैसी स्थिति रहती है, उसी के अनुसार उस समाज का भावी इतिहास पूर्व निर्धारित होता है. इसी कल्पना का नाम 'भौतिक नियतिवाद' या 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' भी है.

अपनी मूल प्रकृति से यह सारी विचारधारा लगभग वैसी ही है जैसी प्रायः सभी संगठित धर्मों के आचार्यों व अनुयायियों की यह कल्पना कि उन के द्वारा जिस धर्म का प्रतिपादन व परिपालन हो रहा है वस वही एक मात्र सच्चा ईश्वरीय धर्म है और सारी ही दुनिया को देर या सवेर से उस धर्म का अनुगामी बनना होगा.

ऐतिहासिक निश्चयवाद संबंधी यह धारणा धार्मिक विचारधारा से कितनी मिलतीजुलती है! इस का एक खुला प्रमाण इस में विश्वास करने वालों का यह स्थायी मनोभाव है, जहां एक ओर वे यह मानते हैं कि समाज में निरंतर परिवर्तन अथवा विकास या पतन होता रहता है (आखिर उसी परिवर्तन के 'अनिवार्य परिणाम' के तौर पर समाजवाद स्थापित होता है) वहां वे इस तथ्य को दृष्टिगत रखने में पूर्णतया असमर्थ

रहते हैं कि समाज के साथसाथ जिस प्रस्तावित व्यवस्था को वे समाजवाद कहते हैं वह भी परिवर्तित व विकसित होनी चाहिए।

इस का मतलब यह हुआ कि खुद समाजवाद संबंधी धारणाओं का भी उसी तरह विकास होना चाहिए जैसे स्वयं समाज का। पर यह बात कोई भी मार्क्सवादी नहीं मानता। दूसरे शब्दों में वे समाज में तो परिवर्तन मानते हैं पर समाजवाद में नहीं।

यह एकांगी दृष्टिकोण धर्मवादियों की स्थायी मनोवृत्ति के बिल्कुल अनुरूप है। धर्मवादी भी मानवी समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया को मानते हैं, पर वे उस परिवर्तन का 'अनिवार्य परिणाम' एक ऐसी स्थिति को बताते हैं जिस से वे आज इस समय परिचित हैं, अर्थात् उन का आज का धर्म। वे यह नहीं समझते कि जो समाज परिवर्तित हो गया, उस में उन के इस आज के धर्म के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। और यदि किसी समाज में तब भी इसी धर्म की गुंजाइश बनी रहेगी, तो फिर यही मानना होगा कि वह समाज विकसित नहीं हुआ, अथवा वह पतित ही हुआ है।

समाजवाद के विभिन्न रूप

इस दृष्टि से यदि समाजवाद को ही ऐतिहासिक घटनाक्रम का अनिवार्य परिणाम मान लिया जाए तो भी 'समाजवाद' विभिन्न देशों या समाजों में विभिन्न समयों में उदित होगा, वह इस समाजवाद से बिल्कुल भिन्न होगा जिस की तसवीर आज के विभिन्न रंगों के समाजवादियों के दिमाग में है। वास्तव में भावी समाजवाद अथवा समाजवाद के विभिन्न भावी रूप क्या होंगे, इस संबंध में आज निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, यहां तक की यह कहना भी संभव नहीं कि वे सिद्धांततः समाजवाद के ही रूप होंगे अथवा कुछ और।

इस प्रकार ऐतिहासिक निश्चयवाद का सारा भवन ही ढह जाता है और हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि किसी भी वर्तमान व्यवस्था के गर्भ से समाजवाद का ही जन्म होगा, ऐसी कोई भविष्यवाणी आज नहीं की जा सकती लेकिन एक भविष्यवाणी अवश्य की जा सकती है, वह यह कि यदि भविष्य में किसी नई व्यवस्था का जन्म होगा, तो वह आज की सभी जानीपह-चानी व्यवस्थाओं से जरूर ही भिन्न होगा। पर वह होगा क्या, ऐसा कोई निश्चय इतिहास में नहीं है। उस का रूप निर्भर करेगा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की प्रतिभा पर—कुछ ऐसे विशिष्ट व्यक्ति, जो विभिन्न समाज में विभिन्न समयों पर जन्म लेंगे अथवा नहीं।

हर समाज को जिंदा रहना है

इन विशिष्ट व्यक्तियों या विभूतियों के जन्म लेने का कोई नियम नहीं है, सिवा इस के कि हर जानदार, बल्कि वस्तु मात्र की तरह, हर समाज को भी यथासंभव जिंदा रहना और बने रहना होता है, अथवा यदि जिंदा रहना संभव न हो तो फिर उसे मर जाना होता है। अतः जब किसी समाज को जिंदा रहना या मरना होता है तो उस में कुछ ऐसे 'विशिष्ट व्यक्तियों' का जन्म होता है, जो उसे जिंदा रहने या मरने का उपाय सुझा सकते हों। और इन व्यक्तियों की अपने मिशन में सफलता भी तभी मिलती है जब उन के सुझावों पर चल कर वह समाज या तो जिंदा रह सकता हो या मर सकता हो।

इस दृष्टि से किसी समाज का इतिहास क्या होगा, यह पूर्णतया निर्भर करता है कुछ व्यक्तियों की इच्छा या पसंद पर। शर्त केवल यह है कि उन की इच्छा या पसंद से वह समाज या तो जिंदा रह सकता हो या मर सकता हो। इस में किसी ऐतिहासिक निश्चयवाद या

किसी व्यवस्था विशेष के अनिवार्य होने का कोई सबूत ही नहीं है। यदि यह सच है तो इस जगत में किसी भी चीज को स्थायित्व प्राप्त नहीं, सभी कुछ निरंतर बदलता जाता है। बस, यही एक मात्र ऐतिहासिक निश्चयवाद है—जिस व्यक्ति ने जन्म लिया है, वह एक दिन मरेगा भी।

आज की दुनिया में वैचारिक दृष्टि से समाजवादियों के दो बड़े बल प्रकट हो गए हैं: एक अपना संबंध रूस की कम्युनिस्ट पार्टी से जोड़ता है, और दूसरा चीन की कम्युनिस्ट पार्टी से। जैसे बहुत से समाजवादी स्वयं को इन दोनों से ही स्वतंत्र घोषित करते हैं, पर वैचारिक दृष्टि से वे या तो एक शिविर में हैं अथवा दूसरे में।

तानाशाही द्वारा समाजवाद

इन दोनों में आज मूल अंतर यह बताया जाता है कि जहां रूसी शिविर के समाजवादी यह विश्वास करने लगे हैं कि आज की परिस्थितियों में मुक्त निर्वाचन प्रणाली और बहुमत के समर्थन से भी—अर्थात् लोकतंत्रीय उपायों से भी—समाजवाद स्थापित हो सकता है, वहां चीनी गुट के समाजवादी अभी तक मार्क्स व लेनिन की इस स्थापना पर डटे हैं कि केवल सर्वहारा वर्ग की तानाशाही सत्ता द्वारा ही समाजवाद स्थापित हो सकता है।

इस कथित मतभेद को यों भी व्यक्त किया जा सकता है कि जहां रूसी गुट के समाजवादी यह दावा करते हैं कि आज के युग में समाजवाद लाने के लिए हिंसा व रक्तपात की जरूरत नहीं, वहां चीनी गुट के समाजवादी आज भी यही मान कर चलते हैं कि 'सारी सत्ता बढ़क की नाल में से निकलती है।'

लेकिन क्या वास्तव में कोई ऐसा मतभेद है? अथवा समाजवाद के नाम पर विश्व विजय की किसी व्यूहरचना में

यह कथित मतभेद महज एक कार्य निष्कर्ष है? तो दो त्वास्याएं संभव हैं: या तो यह कि रूसी गुट के समाजवादी रूस में समाजवाद के 50 वर्षीय अनुभव के बाद अब समाजवाद संबंधी कोई और ही नक्शा अपने सामने रख रहे हैं—कोई ऐसा नक्शा, जो मुक्त निर्वाचन व बहुमत के समर्थन द्वारा कार्यान्वित किया जा सकता हो, या फिर चीनी गुट के साथ उन का कोई वास्तविक मतभेद नहीं है, और उन का सारा आपसी झगड़ा महज सत्ता का संघर्ष है।

लोकतंत्र समाप्त

यदि रूसी गुट के समाजवादी लोकतंत्र को स्वीकार कर चुके होते, तो उन्हें उस स्वीकृति का क्रियात्मक रूप सब से पहले खुद अपने रूस में ही प्रदर्शित करना चाहिए था, जहां समाजवादी क्रांति को आज पूरी अर्ध शताब्दी बीत चुकी है और एक पूरी पीढ़ी इस व्यवस्था के अधीन ही जीवनयापन कर बढ़ापे की दहलीज में कदम रख चुकी है। लेकिन तथ्य क्या है? न सिर्फ रूस में ही आज लोकतंत्र का कोई अस्तित्व नहीं; बल्कि यदि कोई अन्य समाजवादी देश भी अपने यहां लोकतंत्र की ओर कदम बढ़ाना चाहे तो रूस उसे भी इस की अनुमति देने के लिए तैयार नहीं।

रूस ने चैंकोवस्लोवाकिया में जो कुछ किया, उस से रूसी गुट के समाजवादियों के न सिर्फ इस दावे का ही झंडाफोड़ हुआ कि वे लोकतंत्र द्वारा समाजवाद की स्थापना व सुरक्षा को संभव समझते हैं, बल्कि उन के इस झूठ का भी परदाफाश हुआ कि उन के समाजवाद में राष्ट्रों की प्रभुसत्ता का सम्मान अंतर्निहित है।

इस पृष्ठभूमि में रूसी गुट व चीनी गुट के कथित मतभेदों की क्या कीमत रह जाती है? दोनों ही गुट मार्क्स, लेनिन व स्टालिन के इस सिद्धांत में विश्वास करते दिखाई देते हैं कि उन का समाज-

वाद केवल हिंसा व तानाशाही द्वारा ही स्थापित हो सकता है और जहाँ दुर्भाग्य से उसे बना कर रखा जा सकता है। इस विषय में रूस व चीन के बीच कोई मतभेद नहीं दिखाई देता। उन का मतभेद यदि कोई है तो केवल इस बात में कि दोनों में से किस की हिंसा व तानाशाही को प्रथम स्थान प्राप्त होना चाहिए, अर्थात् संपूर्ण विश्व पर दोनों में से किस का राज्य होना चाहिए।

रूस में समाजवाद नहीं

यूरोप के बहुत से तथाकथित मुक्त समाजवादी अब ऐसा विचार व्यक्त करने लगे हैं कि रूस में जो कुछ हुआ, अथवा रूस ने चैकोस्लोवाकिया में जो कुछ किया, अथवा आज चीन व क्यूबा में जो कुछ हो रहा है, वह सब समाजवाद नहीं है। यदि यह समाजवाद होता तो इस के लिए न शुरु में किसी हिंसा व तानाशाही की जरूरत होती न बाद में। इस दृष्टि से रूस, चीन आदि जो कुछ कर रहे हैं वह समाजवाद नहीं है बल्कि समाजवाद के साथ गद्दारी है।

ये ईमानदार पर भोले विचारक भूल जाते हैं कि राज्यसत्ता की जिस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए न हिंसा की जरूरत पड़े और न दमन की, उस का एक सर्वजनपरिचित नाम पहले से ही चला आ रहा है। वह नाम है लोकतंत्र। इसलिए ये विचारक अपने निकट जिस व्यवस्था को समाजवाद कह रहे हैं वह लोकतंत्र के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। रूस, चीन आदि के संदर्भ में ये लोग जो बात कहते हैं उस का अर्थ भी इस के सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि इन देशों के शासक गुटों ने समाजवाद की खातिर लोकतंत्र को तिलांजलि दी

है। इस दृष्टि से ये तथाकथित वामपंथी समाजवाद कोई भी नया नाम नहीं कह रहे हैं। समाजवाद में सब से पहली हत्या लोकतंत्र की ही होगी, बल्कि यों कहिए कि लोकतंत्र की हत्या कर के ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है।

हिंसा और दमन आवश्यक

तथ्य यह है कि जैसे हिंदू धर्म पुनर्जन्म व जातिपांति को माने बिना संभव नहीं, इस्लाम धर्म एक खुदा के एकतत्व और मुहम्मद को उस का पैगंबर माने बिना संभव नहीं और ईसाई धर्म ईसा को खुदा का बेटा माने बिना संभव नहीं, उसी तरह समाजवाद भी यह माने बिना संभव नहीं कि उस की स्थापना के लिए बहुत काफी मात्रा में हिंसा व दमन करना होगा और उसे बनाए रखने के लिए भी लगभग स्थायी रूप से दमन का चक्कर भी चलाना होगा। कारण, आज जिस चीज को समाजवाद कहा जाता है उस का आधार एक ऐसी पूर्ण धारणा पर है जो मानवी प्रकृति के विरुद्ध है, अर्थात् मनुष्य मात्र की इस स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध कि वह सहज ही अपने पास कुछ साधन बनाए रखता है। समाजवाद इस का खंडन करता है इसलिए वह दमन के बिना संभव नहीं।

यही कारण है कि समाजवाद में आम लोगों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता देना संभव नहीं है, उस में खुले व मुक्त निर्वाचन व बहुमत के समर्थन की गुंजाइश नहीं है। अतः जो भोले समाजवादी इस उम्मीद पर जी रहे हैं कि समाजवाद में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता अपने चरम बिंदु पर पहुँच जाएगी (यह फ्रांस के ज्यां पाल सार्त्र का विचार है) वे मूर्खों की जन्नत में रह रहे हैं। ●●

विवाह पूर्व यौन संबंध

अणिमा

नैतिकता और अनैतिकता के दायरे में.

प्रायः सभी सभ्य समाजों में विवाह पूर्व यौन संबंधों को अनैतिक मान कर उन की निंदा की जाती है. लेकिन इस निंदा का असल कारण केवल यह नहीं है कि ऐसे संबंधों से सामाजिक मर्यादाओं का खंडन होता है, या विवाह व परिवार संबंधी मानवंड टूटते हैं, बल्कि असली व बड़ा कारण यह है कि इन से सब से ज्यादा नुकसान खुद उन युवकयुवतियों का होता है जो अपने बीच इस प्रकार के अनुचित संबंध स्थापित करते हैं.

अनुभव बताता है कि यह नुकसान चार तरह का है :

ऐसे संबंधों से स्वयं युवकयुवतियों का व्यक्तिगत नैतिक स्तर काफी गिर जाता है.

इन में यौन रोगों की आशंका अपेक्षाकृत अधिक रहती है.

कौमार्य नाश का मनोवैज्ञानिक व व्यावहारिक प्रभाव युवतियों पर विशेषतया काफी खराब पड़ता है.

अनैच्छिक गर्भधारण की स्थिति में काफी जटिल समस्या उठ खड़ी होती है.

विवाह पूर्व यौन संबंध क्योंकि सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध हैं, इसलिए जो युवकयुवतियां ऐसे संबंधों से दूषित होती हैं वे इस तथ्य को समाज की नजरों से छिपा कर रखना ही उचित समझते हैं. दूसरे शब्दों में, ऐसे संबंध आम तौर से केवल चोरीछिपे ही होते हैं, और छिपाव में

ही इन की सफलता मानी जाती है. लेकिन क्या इस से समस्या हल हो जाती है?

नैतिकता का यह एक माना हुआ नियम है कि जो भी 'गलत काम' समाज की सहज जानकारी या दृष्टि से छिपा कर किया जाएगा, उस से व्यक्ति स्वयं अपनी नजरों में कुछ गिरेगा जरूर परंतु इस का यह अर्थ नहीं कि जो काम सामाजिक मान्यता के विरुद्ध खुले आम किया जाएगा, उस से औसत व्यक्ति का नैतिक स्तर कुछ ऊंचा हो जाएगा! फिर भी इतनी बात मानने लायक है कि एक समाज में जहां, मान लीजिए, मद्यपान निषिद्ध है, वहां खुल कर शराब पीने वाला व्यक्ति उस पाखंडी व्यक्ति से हमेशा बेहतर होता है, जो एक ओर तो नशाबंदी का प्रचार करता है और दूसरी ओर रात में छिप कर खुद शराब पीता है. इस दृष्टि से यदि कोई युवा जोड़ा अपने बीच विवाह पूर्व यौन संबंधों की आम घोषणा कर सके तो वह घोषणा ही उन का विवाह मानी जाएगी, और इस आधार पर वह जोड़ा माफी का हकदार होगा. आखिर साधारण विवाह भी केवल एक घोषणा ही तो होती है!

जो हो, आम व्यवहार यही है कि विवाह पूर्व यौन संबंधों के विषय में निरंतर छिपाव ही बरता जाता है. पर साथ ही उन के भंडाफोड़ की भी आशंका व परिणामों का जो भय मन पर हावी

रहता है, वह अपने आप ही एक समीप रहता है। उस सब के कारण न केवल उन यौन संबंधों का सही आनंद ही नष्ट हो जाता है, बल्कि युवकयुवती स्वयं भी किसी न किसी हद तक आत्मग्लानि के शिकार होते हैं। इस प्रकार कुल मिला कर परिणाम यह निकलता है कि ऐसे युवकयुवतियों का नैतिक स्तर उन की पूर्व की स्थिति के मुकाबले कुछ गिर जाता है।

यौन विशृंखलता एवं रोग

अब आगे और अधिक हानि होती है। वह इस तरह कि नैतिकता में ऐसा नहीं है कि बस इतनी अनैतिकता कर ली जाए और इस से अधिक न की जाए। वह तो एक ढलान के समान है, जब एक बार पर फिसला, तो फिर नीचे तक फिसलता ही चला जाता है। अतः जो युवकयुवती यौन संबंधों जैसे सहत्वपूर्ण विषय में अनैतिकता कर सकते हैं, वे फिर किसी अन्य विषय में भी वैसा ही अपराधी रह सकते हैं। मतलब यह कि ऐसे युवकयुवती फिर उतनी ही सरलता के साथ चोरी भी कर सकते हैं, डाका भी डाल सकते हैं और मौका मिल जाए तो आगजनी व कत्ल भी कर सकते हैं।

ऐसी अपराधी मनोवृत्ति इन दूषित युवकयुवतियों के भावी जीवन के लिए कितनी विनाशकारी हो सकती है, इसे विस्तार के साथ बताने की जरूरत नहीं। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि आज हमारे यहां युवा छात्रों की ओर से आए दिन जो अनुचित व अनैतिक मांगें उठाई जाती हैं, (जैसे बिना परीक्षा पास करो, पढ़ाई के घंटे कम करो इत्यादि) और उन्हें ले कर जो हुल्लड़बाजी व तोड़फोड़ की जाती हैं, उस सब के पीछे केवल शोछी राजनीति ही क्रियाशील नहीं है, बल्कि इस स्थिति में उस यौन विशृंखलता का भी काफी हाथ है, जिस

से यहां का रूढ़िवादी समाज ही है। साफ शब्दों में यों कहिए कि यदि हमारा युवा छात्र वर्ग यौन विषयों में कुछ अधिक संयत व अनुशासित होता तो उस का आम जीवन भी इतना अनियमित न होने पाता, जैसा कि देखने में आ रहा है।

अगली बात है ऐसे संबंधों में यौन रोगों की आशंका के अधिक होने की। इस विषय में चिकित्साशास्त्र का कहना यह है कि मनुष्य जाति में सूजाक, आत-शक आदि नाम के जो कुछ बीभत्स यौन रोग देखने में आते हैं, उन का प्रारंभिक कारण कोई प्रकृति विरुद्ध यौन क्रिया ही थी। यौन से प्रकृति का उद्देश्य केवल संतान उत्पत्ति ही है, और यह उद्देश्य विवाह संस्था के भीतर भी पूरा हो सकता है और बाहर भी। लेकिन बाहर के संबंधों में एक व्यावहारिक दोष अवश्य आ जाता है, और उसी के कारण उन संबंधों में यौन रोगों की संभावना काफी बढ़ जाती है। वह दोष है 'अभेद यौन संबंधों' का, जिसे अंगरेजी में 'प्रायिस्क्यूटी' कहते हैं।

विवाह पूर्व यौन संबंधों में क्योंकि यह जरूरी नहीं कि संबद्ध युवकयुवतियां हर हालत में अपने स्थायी जोड़े बनाए रखें (जो विवाह का असल प्रयोजन होता है) इसलिए यह संभावना भी अधिक रहती है कि वे परस्पर ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में आएँ, जो इन रोगों से ग्रस्त हों, चाहे उन्होंने यह रोग वेश्यागमन से लिए हों या वेश्यागमन करने वालों के संपर्क से।

इन रोगों के विषय में इतनी बात और याद रखने की है कि इन के खिलाफ पूरी सुरक्षा केवल निरोध इत्यादि उन बाहरी उपकरणों के प्रयोग से संभव न हो जिन के इस्तेमाल की सिफारिश गर्भ-निरोध के लिए अथवा वेश्यागमन करने वालों के बचाव के लिए की जाती है। कारण यह है कि यौन रोग केवल प्रजनन अंगों के स्पर्श से ही नहीं होते, बल्कि उन की छूत मुंह, थूक, पसोने आदि तत्त्वों

से भी हो सकती है। और यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि कोई प्रेमी जोड़ा अपने को इस छूत से बचाने का उतना प्रबंध भी न कर सके, जो वेश्यागमन की स्थिति में शायद फिर भी संभव है। इसलिए जहां तक छूत के रोगों से बचने का सवाल है, युवकयुवतियों को यह सलाह देना कि वे निरोधक वस्तुओं का प्रयोग किया करें, बिल्कुल बेकार है।

यौन-दुश्चिन्ताएं

अब प्रश्न है कौमार्य का। कौमार्य या कुंआरेपन का महत्व यों तो युवक व युवती दोनों के लिए ही है, लेकिन कुछ खास ऐतिहासिक व प्राकृतिक कारणों से इस की अधिक महत्ता केवल स्त्री के लिए ही मानी जाती है। इस का एक कारण तो अवश्य यह सामाजिक जरूरत थी कि संतान के पिता का बिल्कुल निश्चित होना आवश्यक है, ताकि उत्तराधिकार में कोई गड़बड़ी न होने पाए।

लेकिन एक अतिरिक्त कारण यह भी था कि खुद प्रकृति ने ही कौमार्य के विषय में पुरुष व स्त्री के बीच एक अंतर रखा है। वह यह कि जहां पुरुष के यौन जीवन में कोई एक घटना ऐसी नहीं होती जिसे उस का कौमार्य भंग होना कहा जा सके, वहां स्त्री के जीवन में यह घटना केवल एक ही बार हो सकती है। दूसरे जहां पुरुष के जीवन में एक खास उमर के बाद उस के प्राकृतिक कौमार्य का बने रहना लगभग असंभव होता है, वहां स्त्री का कौमार्य अपनेआप कभी नष्ट नहीं हो सकता।

अधिक स्पष्ट शब्दों में यों समझिए कि जहां एक साधारण युवक को एक खास उमर के बाद यह अनुभव जरूर होगा, जिसे 'स्वप्न दोष' कहा जाता है—और यदि वह किसी समय हस्तमैथुन भी करे तो वह भी उस के लिए स्वाभाविक ही होगा—वहां स्त्री के लिए न स्वप्नदोष

स्वाभाविक है और न हस्तमैथुन। स्त्री को जब तक कोई अन्य व्यवसाय—प्रायः पुरुष ही—उत्तेजित न करे, तब तक उस के मन में काम भावना स्वयमेव पैदा नहीं हो सकती। इन दो कारणों से स्त्री का कौमार्य खुद उस के लिए एक अमूल्य निधि का स्थान रखती है, जिस की पूरी कीमत वसूल कर के ही उसे आत्मसमर्पण करना चाहिए, अन्यथा यह सस्तापन होगा।

अब जिस समाज में विवाह ही यौन संबंधों का एकमात्र स्वीकृत आधार है, वहां विवाह पूर्व यौन संबंधों की स्थिति में यह कीमत वसूल नहीं हो सकती। कारण, इस संबंध के संभव परिणामों की भुगतने के लिए दोनों पक्षों के जम कर रहने की जो सामाजिक शर्त है, यानी उन का इकट्ठे रहना, वह उस स्थिति में पूरी नहीं कराई जा सकती। तब व्यवहार में इस संबंध के तुरंत बाद युवक अपना रास्ता पकड़ सकता है और युवती अपना और इस प्रकार वे प्रकृति के उस मूल उद्देश्य को विद्रूप करते हैं, जिस के लिए यह संबंध स्थापित किया जाता है। साथ ही वे समाज के साथ भी धोखा करते हैं।

अतः यह धारणा बिल्कुल गलत है कि विवाह पूर्व यौन संबंध के फलस्वरूप स्त्री के मन में विशेषकर आत्मग्लानि की जो प्रतिक्रिया होती है, उस का कारण केवल विवाह संस्था का भय है। अर्थात् यदि विवाह संस्था न हो तो यह ग्लानि भी अनुभव नहीं होगी। तथ्य यह है कि विवाह पद्धति हो या न हो, जो प्रेमी यौन संबंध के तुरंत बाद अपना रास्ता पकड़ सकता है, अथवा सचमुच ही चलता बनता है, उस के प्रति लुट्टी हुई प्रेमिका के मन में कुछ अधिक प्रेम भाव या आदर भाव बना नहीं रह सकता।

विवाह पूर्व यौन संबंधों में क्योंकि आम तौर से विवाह का सवाल ही नहीं होता, इसलिए इन संबंधों की कहानी, युवती के लिए खास तौर से, महज एक

अच्छी या बुरी याद हो बन कर रह जाती है।

इस के विपरीत, स्त्री की प्रकृति कुछ ऐसी है कि उस के मन में इस प्रकार की कोई याद, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, उस के भावी वैवाहिक जीवन को इतना सुखी व संतोषपूर्ण नहीं होने देती, जो ऐसी किसी याद के बिना उस के लिए संभव हो सकती थी। अतः स्त्री की दृष्टि से विवाह पूर्व यौन संबंधों का सब से पहला कुप्रभाव यह होता है कि उस के आगे का पारिवारिक जीवन फिर उतना उदार व साफसुथरा नहीं रह पाता जितना कि होना चाहिए। तब उस में कुछ न कुछ खेद, पछतावा या दुश्चिन्ता का मिश्रण रहता ही है।

अवैध शिशु

दूसरी संभावना खालिस व्यावहारिक व सामाजिक है और वह है ऐसे पूर्व संबंधों के आधार पर संबद्ध व्यक्ति या व्यक्तियों की ओर से किसी प्रकार के अनुचित दबाव या ब्लैकमेल के खतरे की। दुनिया में सभी व्यक्ति सज्जन नहीं होते, उन में कुछ लोग बड़े दुष्ट, पाजी व हीन प्रवृत्ति के भी होते हैं, विशेषकर, जैसा कि पीछे कहा गया, जो युवक किसी जिम्मेदारी का अंशट पाते बिना यौन संबंध स्थापित कर सकते हैं, वे अन्य किसी अपराध के विषय में भी उतने ही दुस्साहस का परिचय दे सकते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्तियों में दुष्ट व पाजियों का अनुपात ही अधिक होगा, यह स्वाभाविक है।

अतः व्यवहार में ही ऐसे संबंध रखने वाली स्त्री को अकसर यह विश्वास नहीं रह पाता कि उस का वैवाहिक जीवन किसी ऐसी अड़चन या दबाव की संभावना से हमेशा मुक्त ही रहेगा। और यह स्थिति हमारे वर्तमान समाज में, जो पुरुष प्रधान ही है, स्त्री जीवन को किस प्रकार संकट-मय व अंधकारपूर्ण बना सकती है, यह

कहने की जरूरत नहीं।

हमारी चौथी व अंतिम विचारणीय बात थी गर्भधारण के संकट की। इसी पक्ष को वस्तुतः इस विषय में प्राथमिकता देने की परंपरा रही है, अर्थात् यह माना जाता रहा है कि जो संतान विवाह के दायरे से बाहर पैदा होगी, वह 'हरामी' कहलाएगी। और उस को मां (क्योंकि केवल मां ही निश्चित होती है) समाज में रहने लायक नहीं होगी। विवाह पूर्व गर्भधारण की यह संभावना ही दरअसल वह आधार है, जिस पर इस विषय से संबंधित सामाजिक नैतिकता का भवन खड़ा है।

स्पष्ट शब्दों में, यौन संबंधों का एक ठोस परिणाम क्योंकि गर्भाधान के रूप में निकल सकता है, इसलिए जब ऐसा हो जाता है तो उस स्थिति में सवाल केवल एक या दो व्यक्तियों के अपने निजी जीवन का नहीं रह जाता, बल्कि तब सवाल यह हो जाता है कि जो गर्भ स्थित हुआ है, अथवा यदि उसे सामान्य रूप से जन्म लेने दिया जाए, तो जो नया व्यक्ति इस दुनिया में आने वाला है, उस का स्थान समाज में क्या होगा।

प्रायः सभी समाजों में ऐसी संतानों के लिए 'हरामी,' 'अवैध,' 'लावन्ध' आदि निंदनीय शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अतः यह बिलकुल जाहिर है कि अनियमित गर्भधारण व संतानोत्पत्ति से एक सामाजिक समस्या की सृष्टि होती है, और उस के लिए जो व्यक्ति जिम्मेदार होते हैं, उन की उचित ही निंदा की जाती है।

लेकिन व्यवहार में यह सारी निंदा व सामाजिक बहिष्कार केवल स्त्री के लिए ही होता है, क्योंकि इस विषय में खुद प्रकृति ने पुरुष के साथ कुछ रियायत कर रखी है। वह इस तरह कि पिता के साथ संतान का कोई सीधा शारीरिक संबंध नहीं होता, और न पिता को 'पकड़ने' का कोई अचूक वैज्ञानिक तरीका ही अभी

तक निकाला जा सका है। गर्भधारण के सारे दुष्परिणाम फैलते हैं और ये परिणाम क्योंकि बड़े भयंकर हैं, इसलिए हमारे यहां ऐसी स्थिति में आम तौर से कृत्रिम गर्भपात का सहारा लिया जाता है। जहां यह संभव नहीं होता, वहां कभीकभी तो बेचारी युवती की ही हत्या कर दी जाती है। पर आम तौर से बच्चे को गुप्त रूप से जन्म दिलवा कर फिर उस बच्चे को ही नष्ट कर दिया जाता है। हमारे यहां हर साल खेतों, नालियों व तालाबों में जो हजारों नवजात शिशु, जिंदा या मर्बा पाए जाते हैं, उन के अधिकांश के पीछे इसी बर्बरता की कहानी छिपी होती है।

यौन-अज्ञानता एवं गर्भ निरोधक

अवश्य यह कहा जा सकता है कि आजकल के बहुत उन्नत व लगभग निश्चित गर्भनिरोधक साधनों के रहते यह समस्या पैदा हो नहीं होनी चाहिए! लेकिन एक तो, जैसा कि हम ने पीछे देखा, उक्त हजारों फेंके हुए नवजात शिशुओं के मिलने से ही यह जाहिर है कि बर्थ कंट्रोल या निरोधक साधनों के बावजूद यह समस्या अपनी जगह पर है। और दूसरे, सौ बातों की एक बात यह है कि उन्माद में यौन संबंध करने वाले युवकयुवती से यह आशा नहीं रखी जा सकती कि उन्हें ठीक समय पर कोई निरोधक वस्तु तलाश करने की सूझ होगी, अथवा इस झंझट के लिए उन्हें पर्याप्त फुरसत ही मिल पाएगी।

फिर एक तीसरा तत्व भी इस विषय के साथ जुड़ा हुआ है, और यह है अज्ञानता। कई बार युवकयुवती दोनों को, पर आम तौर से केवल युवती को वास्तविकता का पता ही नहीं होता, और इसी से चतुर युवक अकसर लाभ उठा जाते हैं। तथ्य यह है कि आज भी हमारे यहां ऊंचे घरानों व मध्यम वर्ग की बहुत सी युवतियों को

मासिक धर्म होने के वर्षों बाद तक, और कई बार तो विवाह के जाने के बाद तक, ठीक से यह पता नहीं होता कि गर्भ कैसे और कहां स्थापित होता है, संतानोत्पत्ति किस प्रकार होता है इत्यादि। बहुत सी कालिज छात्राओं तक को इस भ्रांति में पाया गया है कि संतान केवल विवाह के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। अर्थात् उस से पहले चाहे कितनी ही बार यौन संबंध स्थापित कर लिया जाए, पर उस से कोई हानि नहीं होने वाली है।

इसी प्रकार कुछ युवतियां इस वहम में देखी गई हैं कि गर्भाधान व संतानोत्पत्ति के लिए केवल एकदो बार का यौन संबंध पर्याप्त नहीं होता, उस के लिए तो काफी लंबे समय तक लगभग लगातार ही यौन संबंध रखना पड़ता है! कुछ आश्चर्य नहीं, यदि ये अज्ञानतापूर्ण धारणाएं भी इन युवतियों के दिमाग में उन्हीं मूर्ख या चतुर युवकों ने डाली हों, जो इन की सरलता का अनुचित लाभ उठाते हैं अथवा उठाना चाहते हैं।

बहरहाल, जिस अनुमानित संख्या में हमारे यहां अवैध गर्भाधान, कृत्रिम गर्भपात तथा शिशु हत्या की वारदातें होती रहती हैं, उन्हें देखते हुए यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि हमारे यहां भी अवैध विवाह पूर्व यौन संबंधों के क्षेत्र में न केवल निरोधकों का प्रयोग बहुत सीमित है, बल्कि यौन संबंधी अज्ञानता भी कुछ कम नहीं है।

अब कहने की बातें केवल दो हैं : एक तो यह है कि गर्भाधान केवल एक और पहले ही यौन संबंध से हो सकता है, इसलिए ऐसे अवसरों की सीमित संख्या कोई सुरक्षित नहीं, और न इस विषय का विवाह होने या न होने से कोई संबंध ही है।

दूसरी यह कि गर्भ निरोध का कोई भी ऐसा उपाय या उपकरण अभी तक अस्तित्व में नहीं आया, जो हमेशा व

हर हालत में शर्त प्रति शर्त सुरक्षा की गारंटी दे सके. अतः जो अविवाहित युवक-युवतियां कुछ ऐसे साधनों के सामाजिक प्रयोग के साथ अनियमितताएं करते हैं, उन्हें भी इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि वह हमेशा और हर हालत में अपनी करनी के नतीजे भुगतने से बचे रहेंगे. यों भी उन्हें याद रखना चाहिए कि किसी भी गलत काम का नतीजा कभी अच्छा नहीं हो सकता.

कुछ स्वच्छंद युवकयुवतियों की ओर से कहा जाता है कि विवाह पूर्व यौन संबंध रखने पर पाबंदी लगाना मानव की स्वतंत्रता का अपहरण है और इसलिए इस बंधन को तोड़ दिया जाना चाहिए. कम्युनिस्ट रूस में क्रांति के प्रारंभिक दिनों में विवाह के बंधन तोड़ दिए गए थे— उस समय की कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुसार विवाह एक बुरा प्रतिबंध था जिस का जल्दी से जल्दी अंत हो जाना चाहिए परंतु रूसी सरकार को बहुत जल्दी विवाह को पुनर्स्थापित करना पड़ा— अनाथ बच्चों और बिना पति की माताओं की समस्या इतनी भयंकर हो गई कि संभले नहीं संभली.

आवश्यकता कठोर मर्यादाओं की

अन्य पशुओं और पक्षियों की तरह मानव शिशु पैदा होते ही स्वावलंबी नहीं हो जाता. इस के लिए उसे 18 से 20 वर्ष की अवधि चाहिए. इस अवधि में उस

की देखभाल, पालन-पोषण कौन करेगा? यदि विवाह का बंधन नहीं होगा तो पुरुष अपनी कामवासना पूरी कर के स्त्री को छोड़ जाएगा, और उसे अकेले ही बच्चे पालने होंगे, जो उस के लिए संभव नहीं होगा. इसी लिए समाज ने यह नियम बनाया कि यदि यौन संबंध चाहते हो तो उस की कीमत चुकाने के लिए भी तैयार रहो, यही विवाह की पाबंदियों का मूल कारण है.

यदि समाज पुरुषों को यौन संबंध के विषय में छूट देता है और स्त्रियों को बांधता है तो इस का भी कारण है. विवाह का प्रतिबंध स्त्रियों की ही सुरक्षा के लिए है, पुरुष उसे तोड़ कर भी मौज कर सकता है. पर बिना उस के स्त्री को भयंकर कष्ट भोगने होंगे.

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवाह पूर्व यौन संबंधों में जहां एक हद तक दोनों ही पक्षों का जीवन, स्वास्थ्य व चरित्र दूषित होता है, वहां अकेली युवती का भविष्य कुछ विशेष ही दुःखान्त रूप से पतित व नष्ट होता है. ऐसी हालत में इन कई मजबूत आधारों पर, जिन की सविस्तार चर्चा हम ने इस लेख में की है, यह आशा रखी जा सकती है कि हमारे युवकयुवतियां, जिन्हें अब पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा आज दी दी जा रही है, वे अपने संबंधों में उन सामाजिक मर्यादाओं का कठोरता के साथ पालन करेंगे, जो सब से ज्यादा खुद उन्हीं के हित में हैं.

सरिता, दिसंबर 1962 से उद्धृत

श्री कृष्ण

अपने जीवन की संध्या में

• श्रीमती लीलावती मुंशी

असाधारण पुरुष की साधारणतम मृत्यु

दिन ढल रहा था। सूर्य की प्रचंड गरमी अब शांत हो चली थी। उस की किरणों में अब तेज नहीं रह गया था। सामने एक पहाड़, कहीं तो सूर्य की शांत सुनहरी किरणों में चमक रहा था, कहीं बादलों की छाया में अंधकाराच्छन्न था। रास्ते के दोनों ओर खेत थे, परंतु अनाज उन में से किसी में उगा हुआ नहीं था। थोड़ीथोड़ी दूर पर रास्ते के किनारे वृक्ष भी थे, परंतु मुसाफिरो की थकान दूर करने में वे पूर्णतया सफल नहीं थे।

इसी रास्ते पर अवस्था के बोझ से झुके हुए और मार्ग की थकावट से क्लान्त कृष्ण आगे बढ़ रहे थे। उन का उस समय कोई गंतव्य अथवा निर्धारित स्थान नहीं था। जहां पृथ्वी माता अपनी गोद में शरण दे, जहां उन्हें कोई पहचानता न हो, ऐसे ही किसी शांत कोने की तलाश उन्हें थी। उन के पैर थकथक कर चर रहे थे। शरीर क्लान्त, आंखें निस्तेज थीं, वस्त्र मंले और अस्तव्यस्त थे।

यादवों के युद्ध और सर्व स्वजनों के संहार के पश्चात् श्रीकृष्ण अपने लिए कोई शांत, अपरिचित स्थान ढूंढने निकले थे। परंतु अब तक भारत में ऐसा कोई कोना उन्हें नहीं मिला था जहां लोग उन्हें जानते न हों। उन के पूर्व पराक्रमों से सारा संसार सुपरिचित था। ऐसा कोई जन नहीं था, जो उन्हें देख कर कांपता

न हो, पलायन करने की चेष्टा न करता हो।

लोग उन्हें देख कर पूतना वध से ले कर जरासंध, भीष्म, शिशुपाल तथा अन्य अनेक वधों में अमानुषी देवी शक्ति अथवा दैत्य का छल और क्रूरता देख कर उन के मार्ग से दूर भागते। रूपवती स्त्रियों के स्वामी तथा सुंदरी बालाओं के पिता उन के स्त्री पराक्रमों को याद कर अपनी स्त्रियों व बालिकाओं को उन की दृष्टि से बचाते। पंडित वादविवाद में हार जाने और राजा अपने राज्य गंवाने के भय से उन के पास नहीं फटकते। साधारण जन उन को समझ में न आए, ऐसा विलक्षण पुरुष मान कर उन से किनारा करते। यहां तक कि नन्हेनन्हे बालक भी इस विचित्र व्यक्ति को देख कर दूर भागते।

हारेयके देवी श्रीकृष्ण अपने मार्ग पर निरंतर आगे बढ़े जा रहे थे। महा-भारत युद्ध के विजेता, अर्जुन के सखा एवं सारथि, कंस के हंता, कालियनाग का मर्दन करने वाले, अनेक दैत्यों के काल और ऋषिमुनियों के भक्तिगानों के पात्र, गोपियों के प्रिय श्रीकृष्ण आज असहाय अवस्था में विश्रामस्थल की खोज में मारे-मारे फिर रहे थे।

उन का एक भी मित्र, एक भी स्व-जन नहीं बचा था। जीवन में महाभारत आदि अनेक युद्धों में और अंत में यादव-

स्थली में वे सभी नष्ट हो गए थे। केवल वही एक बचे थे—भक्तविहीन, मित्र-विहीन, सोलह हजार और आठ पत्नियों से विहीन। जिस के एकएक शब्द का पालन करने के लिए मानवों तथा देवों का समस्त विश्व तत्पर रहता था, उसी का साथ देने के लिए आज संसार में कोई नहीं था।

दिन भर तेज धूप में चलचल कर ताप तथा भूख से कृष्ण के प्राण व्याकुल हो रहे थे। सामने एक झोंपड़ी में एक ग्वालिन गाएं दुह रही थी। सारे जीवन में श्रीकृष्ण का अधिक से अधिक सत्कार स्त्रियों ने ही किया था। इसी आशा में वह झोंपड़ी की ओर बढ़े।

ग्वालिन कृष्ण को अपनी ओर आते देख कर चौंकी और खड़ी हो गई। यह बात उस ने सुन रखी थी कि श्रीकृष्ण उस प्रदेश में घूम रहे हैं। आज इस वृद्ध, मलीन, हारैयके व्यक्ति की मुसकान में गोकुल की गोपियों का हृदय हरण करने की शक्ति नहीं रह गई थी। उन्होंने थके-मांड़े स्वर में पूछा, “ग्वालिन, दही देगी?”

ग्वालिन से न कहते नहीं बना। पत्ते की तरह कांपती हुई उस ने ताजे दूध का घड़ा उठाया, परंतु वह उस के हाथों से छूट गया और सारा दूध जमीन पर बह गया। बिना कुछ कहे वह अपनी झोंपड़ी से दधि का मटका उठा लाई और उसे कृष्ण की अंजलि में उड़ेलना शुरू किया। कई दिनों के भूखे कृष्ण सारा मटका गटगट पी गए। उन के शरीर में कुछ शक्ति का संचार हुआ। आभार की एक गहन दृष्टि डाल कर भयभीत ग्वालिन से उन्होंने विदा ली।

कृष्ण को जीवन में प्रथम बार आत्म-ग्लानि हुई। यह नहीं कि वह किसी मानव के सहवास योग्य नहीं रह गए थे, बल्कि कोई मानव ही स्वयं को उन के सहवास योग्य नहीं समझता था और उन्हें देख कर दूर भागता था। हजारों स्त्रीपुरुषों से

घिरा रहने वाला व्यक्ति ऐसा भयंकर एकांत किस प्रकार सहन कर सकता था? मानव के उद्धार के लिए उन्होंने अवतार लिया, मानवजाति की सेवा में उन्होंने अपनी शक्तियां समर्पित कीं और मानवों के युद्ध ही वह जीवनपर्यंत लड़ते रहे और इस सवा सौ वर्षों की पकी आयु में एक झोंपड़ी भी ऐसी नहीं जो उन्हें आश्रय दे सके। “हे परमात्मा, इस जीवन का अंत कर दे!” कृष्ण के हाहाकार कर रहे हृदय ने पुकारा।

पूर्वजीवन की स्मृतियां उन्हें एक के बाद एक सताने लगीं। संसार की दृष्टि में सर्वाधिक सफल और विजयी जीवन उन्होंने जिया था। राज्य खोए, प्राप्त किए और दे दिए। शत्रु रूपी दुष्टों का संहार किया, मित्रों का उद्धार किया, प्रेम पाया और बांटा, चक्रवर्त्ती की संपत्ति प्राप्त की और खोई, इस से अधिक कोई जीवन में क्या कर सकता है। परंतु इन सब वर्षों में क्या उन्होंने एक पल भी शांति अथवा सुख से व्यतीत किया? उन की दंवी अथवा दानवी शक्तियों के भय से मित्र अथवा शत्रु क्या उन पर कभी पूरी तरह विश्वास कर सके? तथाकथित मित्र उन की अपार शक्ति का लाभ उठाने को ही उन के पास आते। स्वजन सदा उन की शरण मांगते और अपना काम निकाल लेते। शत्रु संभवतया उन्हें छोड़ते नहीं। उन के अंतःपुर में वास करती सोलह हजार सुंदरियों और उन के सहस्रों पुत्र उन के साथ निर्भयता अथवा विश्वास से व्यवहार नहीं कर सकते थे। सभी उन को कपटी और क्रूर मानते थे। भक्तों को भी जरूरत के वक्त खुशामद के शब्द कह कर अपना काम निकालने के सिवा और कोई प्रयोजन श्रीकृष्ण से नहीं था। वह एक बड़े अत्याचारी थे, उन की इच्छानुसार ही सब को चलना पड़ता था। नाराज होने पर किसी समय वह क्या कर बैठते थे, यह उन के परममित्र भी नहीं कह सकते थे।

विक मित्र भी था? श्रीकृष्ण को अब शंका होने लगी थी। यदि वह कोई साधारण मनुष्य होते, उन की शक्तियों में किसी ने दैवी अथवा दानवी अंश न देखा होता, तो इतने तथाकथित मित्रों के स्थान पर थोड़े से वास्तविक मित्र तो उन्हें मिले ही होते और जीवन के संध्याकाल से इस तरह अकेले उन्हें नहीं भटकना पड़ता। कोई सहृदय मित्र उन का कष्ट और थकावट मिटाने अवश्य उपस्थित होता। कृष्ण बहुत थक गए थे। आगे एक डग भी और बढ़ना उन के लिए असंभव था। रास्ते के किनारे पर एक वृक्ष के नीचे जा कर वह पड़ गए। विचार कर-कर के उन का मस्तिष्क भग्नता गया था, चलचल कर उन का प्रत्येक अंग दुखने लगा था। स्वर्ण के सिंहासन पर बैठने वाले मुरारी आज जमीन पर हाथ का तकिया बना कर लेट गए। शरीर को उन्होंने अंगोछे से ढक लिया और आंखें बंद कर लीं। उन्हें अब कोई विचार नहीं करना था, परंतु सारे संसार को नचाने वाला इस दशा में निश्चितता से किस प्रकार सो सकता था?

आंख मूंद लेने पर उन्हें शंका होने लगी—मैं ने पृथ्वी का भार उतारने के लिए जन्म लिया था, परंतु मेरे समस्त जीवनकाल में पृथ्वी को क्या सर्वाधिक पीड़ा नहीं सहनी पड़ी?

गोकुल से ही उसकी शुरुआत हो गई थी। कृष्ण की शक्ति पर गर्वित ग्वालों ने आसपास के गांवों में कितना उत्पात मचाया था। और कंस के वध होने पर यादव गर्व से कितने प्रमत्त हो उठे थे। एक द्रौपदी के लिए उन्होंने पांडव जैसे मूर्खों को राज्य दिलाने के लिए महा-भारत के युद्ध में करोड़ों का संहार कराया और उस में हुई अपने मित्रों और गुरुजनों की हत्या का विचार नहीं किया।

बने यादव इतने गिर पड़े कि न्याय और अन्याय का विचार भी उन्हें नहीं रहा। नीतिअनीति को भी वे भूल बैठे और रातदिन मदिरा में मस्त रहने लगे। उन में बलराम, सांब, प्रद्युम्न तथा प्रिय अनिरुद्ध सभी थे। कृष्ण जैसे जगतपुरुष की आंखों में भी इस विचार से आंसू आए बिना नहीं रहे।

“हे परमेश्वर, जिस तेज के अंश में से तुम ने मेरा निर्माण किया, वहीं मुझे वापस बुला ले। तुम ने मुझ में जो विश्वास रखा था, वह सफल हुआ है। मेरे जीवन में निष्फलता की परंपरा के अतिरिक्त और कुछ मुझे दिखाई नहीं दे रहा। जीवन भर नाश ही नाश मैं ने किया। मेरे चाहने वालों ने भी कभी मुझ पर विश्वास नहीं किया। परंतु आज तो वह आडंबर और भव्यता भी नहीं रही। जिंदगी के तूफान भी पूरे हो गए। अब तो अशक्त और अकेला, जर्जरित तथा निर्बल, तेरा बालक—मैं पुकार रहा हूं, दीनानाथ, यह जीवनलीला अब शेष कर दे।”

क्या वास्तव में विश्वपालक ने कृष्ण की प्रार्थना सुनी? जो कपड़ा उन्होंने ओढ़ रखा था वह उतना बड़ा नहीं था कि उन के समूचे तन को ढक सके। उन के पैर उस में से बाहर निकल आए थे। पाद पर लाल पद्म का चिह्न संध्या के हलके प्रकाश में दूर से चमक रहा था, जिस से पैर एक पक्षी सा दिखाई पड़ रहा था। एक व्याध ने दूर से उसे देखा और तीर मारा। क्षण भर में कृष्ण का पैर जलभी हो गया और वह पुकार उठे, “पिता, तू ने मेरी प्रार्थना सुन ली।”

मृत्यु? जगत का महापुरुष इस प्रकार वीरान में व्याध के हाथों मरे? मानने को मन नहीं करता, फिर भी जंसा कि कथा में वर्णित है, ऐसा ही हुआ था।

—‘भारती’ से साभार.

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—
घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी
हो या किसी समाज को भर्त्सना करनी
हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए,
मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी
यानी धन की बुराई की है, पर किसी
धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा
नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर
प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-
जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां
भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या
करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो। क्यों?
भगवान खुश होंगे। तो क्या धन कमाने
वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज
होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले
को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले
उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों
एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या
अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन
तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता
है तो घृणायोग्य बन जाता है।” पर क्या
बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम
चल सकता है?

जब मानद और आगे बढ़ता है तो
उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए। बिना
पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है?
आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को
रोजगार में लगाने के लिए कम से कम
10,000 रुपए की पूँजी चाहिए। बिना
पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह
सकता है। रोजगार बिना पूँजी के नहीं
हो सकता। बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती। मानसिक व शारीरिक सुख बिना
पूँजी नहीं मिल सकता।

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती।
धन बिना मेहनत किए नहीं आता। और
आसदानी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी
नहीं बन सकता। व्यक्ति ही पूँजी बनाता
है, वह ऊपर से नहीं टपकती। सरकार
(यानी राजनीतिबाज) उसे जस्त कर
सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना
नहीं सकती।

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है। जब
तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित
नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में
रोजगार बढ़ेंगे, न बेकारी कम होगी और
न ही समृद्धि आएगी।

जिस देश में करोड़ों लोगों को भरपेट
भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और
पूँजीपतियों को गालियां दे कर राजनीति-
बाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन
का पेट नहीं भर सकते। उन का पेट तो तभी
भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने
और उद्योगधंधे होंगे। और वे तब होंगे
जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी। याद रखिए,
पूँजी और गरीबी का आपस में बंद है। पर
राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजी-
पति का बंद बना दिया है।

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए। पूँजी
व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में
लगाइए। दूसरों को रोजगार दीजिए। यदि
व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है
तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक
में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग
सर्टिफिकेट खरीद कर। वैसे समाजवाद
यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध
नहीं बन सकता। इस से केवल राजनीति-
बाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है।●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए।

सताई गई नारी

उपेन्द्रनाथ राय

सामाजिक व नैतिक मूल्यों में असमानता क्यों?

काम वासना मानव प्रकृति का एक अंग है. मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस का दमन नहीं किया जा सकता बल्कि इस को स्वाभाविक रूप से तुष्टि होनी चाहिए नरनारी के संबंधों में यह वासना एक बुनियादी चीज है. पर इस वासना को बेलगाम छोड़ना उचित नहीं. यदि इसे खुली छूट दे दें तो मनुष्य और पशु में अंतर ही नहीं रह जाएगा और समाज की सुखशांति नष्ट हो जाएगी. इसी लिए समाज में विवाह और दांपत्य की मर्यादाएं बनी हैं और उन को तोड़ने वाले नरनारी समाज द्वारा दंडित होते हैं.

मर्यादा का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति नर और नारी दोनों में समान रूप से मिलती है. इस प्रकार का आचरण दोनों के लिए बुरा है और कुछ पुराने धर्मशास्त्रों में व्यभिचार के लिए स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से दोषी मानते हुए दोनों के लिए उचित दंड की व्यवस्था की गई है. उदाहरणार्थ, बृहत् वाराही संहिता (47/13) में उद्धृत एक सूत्र के अनुसार अपनी स्त्री को छोड़ पराई स्त्री के साथ व्यभिचार करने वाला पुरुष छः महीने गधे की खाल ओढ़ कर भोख मांगने के बाद मुक्ति पाता है.

भारतीय समाज के पतन काल में मर्यादा को लांघने वाले नरनारियों के प्रति यह स्वस्थ दृष्टिकोण बदल गया. नारी चरित्र को विशेष रूप से दोषपूर्ण माना

गया और उस के अपराध अक्षम्य माने जाने लगे. पुरुष, क्योंकि अपने दुष्कर्मों को छिपा सकता है और समाज में उस की स्थिति मजबूत है, इसलिए व्यभिचार आदि के लिए उसे बहुत कम दोषी माना जाता है. यही नहीं. कहींकहीं तो पुरुषों में इस प्रकार का नैतिक पतन देखा जाता है कि वे व्यभिचार, बलात्कार आदि बुरे कर्मों को कर के लज्जित नहीं होते बल्कि पुरुषार्थ मान कर उन का बखान करते फिरते हैं. हमारा समाज कितना नीचे गिर गया है. यह इस से स्पष्ट है.

फिर भी हम व्यभिचार और बलात्कार के लिए नारी को दोषी मानते हैं, उस की निंदा करते हैं. प्रायः उस का समाज से ही नहीं, कुटुंब से भी बहिष्कार कर दिया जाता है. इस विषमता का क्या औचित्य है? इस के उत्तर में हमें यह बताया जाता है कि नारी और नर में प्रकृति ने ही अंतर रखा है और कुल की व्यवस्था नारी पर आश्रित है, इसलिए उस को चारित्रिक पवित्रता विशेष रूप से आवश्यक है. इस पवित्रतावाद के प्रचारक व्यभिचार और बलात्कार दोनों में कोई अंतर नहीं मानते और दोनों के लिए समान रूप से नारी को दोषी समझते हैं.

यह पवित्रतावाद वास्तव में अंधेर-नगरी का चौपट राज है. जिस के गले में फंदा फिट बैठे उसी को फांसी दे देने के

हकम के अलावा इसे और क्या कहा जाए? प्रति मास रजोदर्शन से इन के पाप दूर हो जाते हैं।

नारी दंडनीय है, इसलिए क्योंकि वह दुबल है! यह भी अंधेर ही है कि व्यभिचार और बलात्कार में कोई अंतर नहीं रखा जाता। व्यभिचार समाज की मर्यादा को तोड़ कर स्थापित किया गया यौन संबंध होता है और इस के लिए पुरुष की भांति नारी को भी दंड मिले, यह बात समझ में आ जाती है। इसके विपरीत बलात्कार पुरुष द्वारा बलपूर्वक किया गया अत्याचार है, जिस के लिए अत्याचार की शिकार बनी हुई नारी को ही दोषी मानना और उसे दंड देना घोर अन्याय है।

वस्तुस्थिति जानें

आज हिंदू समाज ऐसे ही अन्याय और अविवेक को अपनाए हुए है और सनातन धर्म को दुहाई दे कर इस से चिपका रहना चाहता है, परंतु जब हम प्राचीन धर्मशास्त्रों पर दृष्टि डालते हैं तो बहुत से प्रमाण हमें इस के विरोध में मिलते हैं। पुराने लोगों ने क्या उचित बताया है और क्या अनुचित, यह आज हम लोगों की तमाम समस्याओं को हल करने का कोई बहुत अच्छा साधन नहीं। क्योंकि गुजरी पीढ़ियों के पीछे आंखें मूंद कर चलना बुद्धिमानी नहीं। फिर भी चूंकि कितने ही लोग शास्त्रों से बंधे हुए हैं अतः उन को आंखें खोलने के लिए यह बताना जरूरी हो जाता है कि धर्म-शास्त्रों में क्या लिखा है!

बाराहमिहिर ने 'बृहत्बाराहोसंहिता' में (47। 7-9) में मनु का हवाला देते हुए लिखा है, "सोम ने स्त्रियों को शौच दिया है, गंधर्व ने सुंदर वाणी, अग्नि ने सर्व भक्षित्व का गुण। अतः स्त्रियां तपाए हुए सोने की तरह शुद्ध हैं, ब्राह्मणों के पर पवित्र हैं, गायों का पिछला भाग, बकरे और घोड़े का मुख लेकिन स्त्रियों के सभी अंग पवित्र हैं। स्त्रियां प्रति पवित्र हैं इन्हें दोष नहीं लगता क्योंकि

इस कथन का अर्थ इतना ही है कि पर पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न दोष आदि से नारी रजोदर्शन के साथ ही मुक्ति पा जाती है। दूसरे ग्रंथों में इस को स्पष्ट रूप से कहा गया है।

'आपस्तंब स्मृति' (2। 3) के अनुसार "बहुती हुई जल को धारा, हवा से उड़ाई गई धूल तथा स्त्रियों, बूढ़ों और बच्चों को कभी दोषपूर्ण नहीं समझना चाहिए।"

इस का मतलब यही है कि पवित्रता का विचार वहीं तक उचित है जहां तक हमारे नित्य प्रति व्यवहार में ऐसी कठिनाईयां नहीं आती कि मानव जीवन असंभव हो जाए। साथ ही अज्ञान या असमर्थता के कारण जो कार्य किसी व्यक्ति से हो जाते हैं, उन के लिए उसे कदापि दोषी नहीं मानना चाहिए। हर एक विवेकपूर्ण, तटस्थ और उदार विचारक ऐसा ही कहेगा।

'बोधायनधर्मसूत्र' (4। 1। 17) में कहा गया है कि क्वारी लड़की का भी अगर कोई बलपूर्वक हरण कर के ले गया हो तो भी बलात्कार के कारण वह त्याग्य नहीं होगी, बल्कि उस का बलपूर्वक विवाह कर देना चाहिए। उस का कुमारी कन्या की भांति ही दूसरे पुरुष को दान किया जा सकता है। दूसरी तमाम संकीर्णताओं के बावजूद 'आपस्तंब' और 'बोधायन' में आजकल के हिंदुओं जैसा अविवेक नहीं था, अतः उन्होंने अपहरण और बलात्कार की शिकार नारियों के प्रति उदारता ही दिखाई है।

'अत्रिस्मृति' में एक श्लोक है जिस का अर्थ है, "स्त्री जार के संसर्ग से दूषित नहीं होती, ब्राह्मण हिंसात्मक वैदिक यज्ञ आदि से दूषित नहीं होता, मलमूत्र से जल दूषित नहीं होता और सब कुछ जला कर आग भी दूषित नहीं होती।"

यह श्लोक पहलेपहल मैं ने एक आर्य

समाजी विद्वान की पुस्तक में उद्धृत देखा था और उन की अनुसंधान प्रमाणों को प्रसंग प्रलाप तथा क्षेपक मान लिया था. पर 'अत्रिस्मृति' पढ़ने से मेरा विचार बदल गया.

बाल विवाह और छुआछूत की तमाम हानिकारक बातें भरी होने पर भी 'अत्रिस्मृति' का यह श्लोक निरर्थक नहीं है. प्रसंग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस का प्रयोजन सिर्फ यह बताना है कि बलात्कार, अपहरण, प्रवंचना या चारित्रिक स्खलन के कारण भी नारी को त्याग नहीं देना चाहिए बल्कि उसे अपने जीवन को सुधारने का मौका देना चाहिए.

दूषित संभोग

अत्रि के मतानुसार, "अपने समाज के लोगों की कौन कहे, स्लेच्छ के संसर्ग में आई हुई स्त्री का भी त्याग अनूचित है. हां, जब तक ऐसी नारी शुद्ध नहीं हो जाती तब तक पति उस के साथ यौन संबंध स्थापित न करे. जानेअनजाने जो इस प्रकार से दूषित पत्नी के साथ संभोग करता है उसे प्रायश्चित्त करना पड़ेगा. इस प्रायश्चित्त की विधि यह है कि कपड़े समेत स्नान करे और घों खाए." अत्रि ने कहीं भी स्लेच्छ के साथ यौन संबंध स्थापित हो जाने के कारण नारी को त्याग देने को नहीं लिखा.

पर पुरुष के साथ यौन संबंध के कारण दूषित नारी कब और कैसे शुद्ध होती है? इस के उत्तर में अत्रि ने बताया है कि नारी यदि गर्भवती हो गई हो तो बच्चा पैदा होने के बाद रजोदर्शन से शुद्ध हो जाती है. यदि नारी खुद भटक गई हो या बहकाई गई हो, बलात्कार हुआ हो या चोरी से यौन संबंध स्थापित किया गया हो तो स्त्री का त्याग नहीं करना चाहिए.

'मनुस्मृति' में भी एक स्थान पर बलपूर्वक किए कार्यों को असिद्ध माना

गया है. इस प्रकार दूसरे के धनधान्य या स्त्री को दूसरा प्रादुर्भी यदि बलपूर्वक हथिया लेता है तो उस पर उस का अधिकार मान्य नहीं हो जाता, बल्कि उस के असली स्वामी का ही उस पर हक रहता है और उसे उस के द्वारा ग्रहण करना चाहिए.

पाराशर की स्मृति कलियुग के लिए सब से ज्यादा मान्य समझी गई है. उस में भी बलात्कार के कारण नारी को त्याग देना चाहिए, ऐसी धारणा के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता. पाराशर नारी की तुलना भूमि से करते हैं. प्राचीन धर्म शास्त्रों में ऐसी तुलना एक आम चीज है. दूसरे की भूमि पर अगर कोई जबरदस्ती दखल कर ले तो भूमि का स्वामी उसे दूषित कह कर छोड़ नहीं देगा, इसी प्रकार स्त्री का भी त्याग नहीं करना चाहिए. कंद कर के, मारपीट कर, बांध कर, धमका कर जिस स्त्री के साथ बलात्कार किया गया है, पाराशर के मत में 'सांतपन कृच्छ' नामक व्रत से वह स्त्री शुद्ध हो जाती है.

धोखेधड़ी या बलात्कार के कारण जिन का शील भंग हुआ है वे स्त्रियां त्याग के योग्य नहीं हैं, यह ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट हो गया. अब यदि हम 'महा-भारत,' 'मनुस्मृति' तथा दूसरे धर्म शास्त्रों को देखते हैं तो ऐसे वचन सुलभ हैं जिन में न त्यागने योग्य स्त्री का त्याग घोर पातक माना गया है. 'कात्यायनस्मृति' (20.113) में लिखा है, "पति द्वारा अपमानित नारी यदि मर जाती है तो पुरुष को तीन जन्मों तक नारी हो कर जन्म लेना और वैसा ही कष्ट भोगना पड़ता है." न मालूम क्यों हिंदू समाज में ऐसे शास्त्र वाक्यों की उपेक्षा की जाती है!

यहां यह शंका हो सकती है कि शायद ये सूत्र बाद में मिलाए गए क्षेपक अथवा नारी जाति के प्रति पक्षपात रखने वालों द्वारा गढ़े हुए हैं. अतः सब से पहले यह जान लेना जरूरी है कि जिन शास्त्रों

में सूत्र मिले हैं वे स्त्रियों के प्रति किसी प्रकार भी पक्षपात नहीं रखते बल्कि स्त्रियों की स्वतन्त्रता का विरोध करने के कारण बहुधा नए युग में उन की कड़ी आलोचना ही होती रही है। फिर भी इन शास्त्र वाक्यों को क्षेपक इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि इन के अनुसार ही प्राचीन काल के लोगों का आचरण था, इस के प्रमाण इतिहासपुराण में सुलभ हैं। यहां कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं।

नारियां अत्याज्य

‘महाभारत’ के वनपर्व में अध्याय 135 से 138 में वर्णित कथा से ज्ञात होता है कि भारद्वाज के पुत्र यवक्रीत ने रंभ्य की पुत्रवधू के साथ व्यभिचार किया था लेकिन वह अपने घर से निकाल दी गई हो या समाज से अलग कर दी गई हो, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। यदि धर्मशास्त्रों के अनुसार ऐसी नारी को त्याग देना ही उचित होता तो वेदज्ञ रंभ्य और उन के बेटे उसे घर में कैसे रहने देते?

‘महाभारत’ के आदिपर्व में भी ऐसी ही एक कहानी है। भृगु मुनि की पत्नी को एक राक्षस हरण कर के ले जा रहा था। उसी समय च्यवन का जन्म हुआ और राक्षस उस के तेज से भस्म हो गया। इस के बाद भृगु मुनि ने अपनी पत्नी को पुनः ग्रहण किया। इस प्रकार अपहरण की गई नारी को स्वीकार करने में भृगु जैसे मुनि कोई दोष नहीं समझते थे।

अनुशासनपर्व के अध्याय 154 में यह वर्णन है कि सोम की कन्या भद्रा उत्तथ्य को व्याही थी पर वरुण देवता भी उसे चाहते थे। अंततः वरुण ने आ कर यमुना के तट से उस का अपहरण कर लिया। इस का पता लगने पर उत्तथ्य ने नारद द्वारा वरुण के पास संदेश भेजा और उन्हें समझाया। वरुण ने उत्तथ्य की पत्नी उन्हें वापिस देना स्वीकार नहीं

किया और उसमें छिपे दिव्य तेजस्वी उत्तथ्य ने जल को सुखा कर वरुण को लाचार कर दिया। तब वरुण भद्रा को लेकर उत्तथ्य की शरण में आया। उत्तथ्य ने वरुण को फटकार पत्नी को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया और अपने घर चले गए। यहां यह भी स्पष्ट लिखा है कि भद्रा के साथ वरुण का यौन संबंध अरसे तक रहा था—“तत्र देवस्तया सार्धं रेमे राजन् जलेश्वरः” (महाभारत, 13-154-16), लेकिन उस को स्वीकार कर लेने से उत्तथ्य या उन के पूर्वज नरक को नहीं गए।

एक अन्य कथा है जो ‘श्रीमद्भागवत’ एवं पुराणों में मिलती है और जिस से हिंदू समाज भलीभांति परिचित है। चंद्रमा ने दर्पवश देवों के गुरु बृहस्पति की रूपवती पत्नी तारा को हर लिया। इस के कारण एक भारी लड़ाई छिड़ गई क्योंकि शुक्राचार्य और असुरों ने चंद्रमा का पक्ष लिया और देवों ने इंद्र के नेतृत्व में उस का विरोध किया। अंततः ब्रह्मा के बीचबचाव से चंद्रमा ने बृहस्पति को उन की पत्नी तारा वापस कर दी। तारा उस समय गर्भवती थी, यह बृहस्पति को ज्ञात हो गया (‘श्रीमद्भागवत’, 9-14-4-8)।

तारा पराए पुरुष के साथ रह चुकी थी उस के संसर्ग से वह गर्भवती भी हो चुकी थी, पर बुद्धिमानी के लिए प्रसिद्ध बृहस्पति ने उसे छोड़ देना उचित नहीं समझा। क्या उन्हें शास्त्रों का कम ज्ञान था या हिंदू समाज के कर्णधारों से उन की सूझबूझ कम थी?

गौतम की पत्नी ग्रहल्या की कथा सब से ज्यादा हिंदू समाज में प्रसिद्ध है और सब से ज्यादा भ्रम भी लोगों में इस के बारे में पाया जाता है। ग्रामतौर से यह समझा जाता है कि ग्रहल्या मुनि के शाप से पत्थर हो गई थी और राम के पैरों के स्पर्श से वह पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त हुई। बाल्मीकीय ‘रामायण’ बालकांड, अध्याय 48 श्लोक 30-31 को देखने से ज्ञात होता है कि मुनि ने

अहल्या को शिलाओं के बीच घस कर दीर्घ काल तक तप करने का आदेश दिया था और इस की मियाद उसी दिन खत्म हुई जिस दिन राम गौतम के आश्रम में पहुंचे। दूसरा महत्वपूर्ण घम शाप के कारण के संबंध में फैला हुआ है। कुछ ग्रंथों में ऐसा मिलता भी है कि यद्यपि इंद्र ने धोखे से ही अहल्या का सतीत्व नष्ट किया था फिर भी मुनि ने उसे अपराधिनी माना पर बाल्मीकीय 'रामायण' से इस की पुष्टि नहीं होती।

धर्म प्रामाणिकता

बाल्मीकी स्पष्ट कहते हैं कि अहल्या ने कपटवेश में आए हुए इंद्र को पहचान लिया था पर कुतूहलवश वह उस के सहवास से विरत नहीं हो सकी (बाल्मीकीय 'रामायण,' बालकांड 48-19-20)।

ऐसी हालत में व्याभिचार के लिए उसे दंड मिलना ही चाहिए था और मुनि ने इस के लिए कोई व्यवस्था की हो तो इस के लिए उन्हें दोषी नहीं कहा जा सकता। प्रकरण से स्पष्ट है कि मुनि ने उसे परित्याग के योग्य नहीं समझा बल्कि प्रायश्चित्त के लिए कुछ समय कठोर तप करने का आदेश दिया जो कि उस के नैतिक भटकाव को देखते हुए आवश्यक ही था।

नारी यदि बलात्कार का शिकार हो या धोखा दे कर कोई उस का शील भंग कर दे तो इस के कारण वह दोषी मानी जाए और उस का सामाजिक बहिष्कार हो, ऐसी धारणा की पुष्टि के लिए बाल्मीकीय 'रामायण' की इस कथा में कोई गुंजाइश नहीं दिखाई पड़ती। अहल्या ने यद्यपि इंद्र को पहचान लिया था फिर भी उस ने दुष्कर्म से बचने की चेष्टा नहीं की, बल्कि कुतूहलवश उसे अपने हाव-भाव से सहमति प्रदान की। इसी लिए व्याभिचार का दोष उसे लगा। इस प्रकार

यद्यपि अपराध जानबूझ कर ही किया हुआ था फिर भी दंड के रूप में प्रायश्चित्त का ही विधान हुआ, बहिष्कार का नहीं। यह पूर्वोक्त धारणा का खंडन करने के लिए एक सबल उदाहरण है।

फिर भी इस धारणा का हिंदू जाति के पतनकाल में पर्याप्त पोषण हुआ है और 'रामायण,' 'महाभारत' एवं पुराणों में इस के दर्शन अनेक स्थलों पर होते हैं। उदाहरणार्थ वृंदा की कहानी अनेक पुराणों में मिलती है। इस का विष्णु ने धोखे से शील भंग किया जिस से वृंदा का तेज क्षीण हो गया और इस के पति जलंधर असुर की हार हुई।

इस कथा में हम देखते हैं कि मन से निष्पाप होते हुए भी पुरुष द्वारा छली गई नारी के सदाचार द्वारा अर्जित तेज क्षीण हो जाते हैं। ऐसी ही गलत धारणा के कारण 'रामायण' में सीता की अग्नि परीक्षा आवश्यक हो जाती है और झूठे लोकापवाद से उन्हें वनवास मिलता है। यह मूर्खतापूर्ण धारणा हिंदू समाज में इतनी बड़ी और फलीफूली है कि रामचरित के कुछ रचयिताओं ने परपुरुष द्वारा किसी सतीसाध्वी का स्पर्श भी असंभव मान लिया है। इस के लिए उन्होंने यह कल्पना की है कि असली सीता तो अग्नि में वास कर रही थी, रावण ने जिस सीता का हरण किया वह तो केवल माया थी।

ऐसी धारणा को स्वीकार कर के हिंदू समाज सदाचार में वृद्धि नहीं कर पाया है, उल्टे उस के कायदेकानून व्यावहारिकता से दूर चले गए हैं। राजनीतिक परिवर्तनों, सांप्रदायिक दंगों आदि के समय स्त्रियों पर बहुधा अत्याचार हुए हैं और होते हैं। ऐसी स्त्रियों को पतिता कह कर ठुकरा दिया जाता है और वे या तो मुसलमान या ईसाई परिवारों में जगह पाती हैं या वेश्याएं बन जाती हैं। हिंदू समाज के नियम ही उन्हें इस के लिए मजबूर करते हैं।

ईसाइयों और मुसलमानों की संख्या बढ़ जाने से और उस के कारण विभिन्न उलझनें पैदा होने से हिंदू यद्यपि सतर्क हो रहे हैं। पर वे इस का कोई व्यावहारिक हल निकाल नहीं पाए हैं। वेश्यावृत्ति तो ऐसी स्त्रियों के लिए आदर्श मार्ग के रूप में पुराणों में बताई ही गई है। अपहिता और बलात्कृता यादव स्त्रियों के लिए यही मार्ग दाल्भ्य मुनि ने सुझाया।

भारत सरकार ने कानून बना कर वेश्यावृत्ति को मिटा देने का संकल्प कर लिया है। लेकिन हिंदू समाज जब तक पीड़ित नारियों के प्रति अपना रुख नहीं बदलता, हिंदू कहलाने के लिए इस 'आदर्श मार्ग' को छोड़ कर उन के पास दूसरा चारा ही क्या है?

व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता

हिंदू समाज की सदाचार विषयक धारणाएं कितनी वाहि्यात हैं, यह इस से भी समझा जा सकता है कि यदि कोई पुरुष मुसलिम या ईसाई महिला के प्रेम में पड़ गया तो भी वह बहिष्कृत हो जाता है और कोई मुसलिम या ईसाई किसी हिंदू औरत के संपर्क में आता है (चाहे यह संबंध स्त्री की सहमति से हो, चाहे बलात्कार रूप में) तो भी हिंदू समाज का ही एक अंग अलग फेंक दिया जाता है।

फिर भी हिंदू समाज के ठेकेदार अपनी इस मर्यादावादिता पर गर्व करते हैं, पर सत्य तो यह है कि इसी मूर्खता ने भारत में ईसाइयों और मुसलमानों की संख्या को काफी हद तक बढ़ाया है,

जिस कारण से वे इतना नहीं बढ़े हैं!

मुसलमानों या ईसाइयों के संसर्ग के कारण ही हिंदू स्त्रियों को समाज से निकाला जाता हो, ऐसी बात नहीं। अन्य कई प्रकार के अत्याचार भी हिंदू समाज में प्रचलित हैं। दूसरी जाति या वर्ण के पुरुष के साथ संबंध हो जाने पर, बलात्कार या अपहरण होने पर, हर दशा में नारी के साथ अन्याय होता है। उस को नारी सुलभ भावनाओं का सम्मान नहीं किया जाता और न उस को लाचारी का खयाल किया जाता है। कितनी ही नारियां कुमारी अवस्था में ही दुराचारी पुरुषों के बहकावे में आ जाती हैं। इन को आत्महत्या, झूठहत्या, वेश्यावृत्ति आदि निंदनीय कार्यों के लिए समाज के कर्णधार ही बाध्य करते हैं और अपने इस हीन कृत्य पर गर्व करते हैं।

इस अंधेर का अंत होना ही चाहिए। अध्याभिचार के लिए जहां दंड आवश्यक है वहां बलात्कार या प्रवंचना की शिकार नारियों को आशवासन भी मिलना चाहिए। जिन्हें दंड के योग्य समझा जाए उन्हें भी ऐसा दंड न दिया जाए कि समाज के द्वार उन के लिए बंद कर दिए जाएं, बल्कि उन्हें भी अपने जीवन को सुधारने का मौका मिलना चाहिए। यदि शास्त्रों के पीछे ही चलना है तो हिंदू समाज को दुर्बल, पंगु और अल्पसंख्यक बनाने वाले मूर्खतापूर्ण नियमों को छोड़ कर शास्त्रों में उल्लेखित प्रमाणों का ही अनुसरण क्यों न किया जाए!

कृष्ण और कुब्जा

डा. गंगासहाय 'प्रेमी'

उन के प्रेम संबंध का क्या कोई नैतिक आधार था?

पौराणिक साहित्य के अनुसार लगभग एक लाख नारियों से कृष्ण ने संबंध स्थापित किया। इन संबंधों की संख्या के कारण चाहे जितनी आलोचना की गई हो, पर ये थे समान स्तर पर। इस दृष्टि से कृष्ण और कुब्जा की जोड़ी ही विषम लगती है। ब्रज में रह कर कृष्ण ने गोपियों से प्रेम किया। वे गोपियां समान स्तर की कही जा सकती हैं, क्योंकि ब्रज में कृष्ण स्वयं ही गोपसुत के रूप में पल कर बड़े हुए। वह नरकासुर के यहां से जो सोलह हजार लड़कियां लाए थे वे भी राज-कुमारियां थीं। रुक्मिणी आदि आठ पत्नियों से कृष्ण ने विधिपूर्वक विवाह किया था।

कुब्जा के साथ कृष्ण का प्रेम किसी प्रकार भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। कुब्जा का प्रसंग कृष्ण की विलासी प्रकृति का ही द्योतक है। मथुरा में पहुंच कर कृष्ण की भेंट सब से पहले जिस नारी से हुई, वह थी कुब्जा। कृष्ण ने ऊंचनीच का ध्यान छोड़ कर उसी से प्रेम संबंध जोड़ लिया। मथुरा में कृष्ण को नई प्रेमिकाएं मिलने में समय लगता। क्या वह तब तक बिना प्रेमिका के ही रहते? उन के इस कृत्य के औचित्य का मनोवैज्ञानिक कारण यह भी हो सकता है कि देहाती आदमी शहर में जा कर हीन भावना का शिकार हो जाता है। वह शहर में उच्च वर्ग के लोगों से बात न कर के दास वर्ग के लोगों

से ही संपर्क बढ़ाता है।

कुब्जा कंस की दासी थी। वह कंस के यहां अनुलेप पहुंचाती थी। कृष्ण के पूछने पर कुब्जा ने अपना परिचय इस प्रकार दिया:

दास्यस्मि अहं सुंदर कंससम्भता त्रिवक्त्र-
नामा ह्यनुलेपकर्मणि,
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं विना युवां
कोऽन्यतमस्तदहंति ।

(भागवत, स्कंद 10, अध्याय 42-3)

(हे सुंदर! मैं कंस के यहां अनुलेप कर्म में रत त्रिवक्त्रा (तीन जगह से कुबड़ी) नाम की दासी हूं। भोज नरेश कंस को अति प्रिय मेरा अनुलेप (चंदन) आप दोनों के सिवा और कौन चाह सकता है?)

भागवत के अनुसार कुब्जा पहली मुलाकात में ही कृष्ण पर आसक्त हो गई थी:

रूप पेशल माधुर्य हसिता लाप वीक्षितैः,
घषितात्मा ददौ सांद्रमुभयोरनुलेपनम् ।

(भागवत, स्कंद 10, अध्याय 42-4)

(उस ने रूप, सुकुमारता, रसिकता, हंसी, बातचीत एवं चितवन से मुग्ध हो कर दोनों को गाढ़ा चंदन दिया।)

कुब्जा कृष्ण को देखते ही मोहित हो गई, इस में उस का दोष नहीं है। कृष्ण ने उसे इस के लिए स्वयं उत्साहित किया था:

अथ ब्रजन् रालपथेन माधवः स्त्रियं गृही-

तांग विलेपभाजितम्, विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः । 1 ।

का त्वं वरोवैतदु हानुलेपनं कस्यांगने वा कस्यस्व साधु नः । 2 ।

(भागवत, स्कंद 10, अध्याय 42)

(कृष्ण राज मार्ग पर जा रहे थे कि उन्होंने एक सुंदर मुख वाली कुबड़ी युवती को अंगविलेप का वरतन ले जाते हुए देखा. रसिक कृष्ण ने हंसते हुए उस राह चलती से पूछा, "हे सुंदर जंघाओं वाली, तुम कौन हो? हे सुंदर अंगों वाली, यह अनुलेप किस का है? हमें ठीक से बताओ.")

प्रशंसा से अभिभूत

राह चलती युवती से एक रसिक व्यक्ति हंस कर बात करे, सारा नगर जिसे कुरूपकुबड़ी कह कर अपमानित करता था, उसे वरोह और अंगना कहे, इस से अधिक आकर्षण उस के लिए क्या होगा? कोई भी नारी स्वयं को कुरुपा नहीं समझती. जिसे सब कुरुपा कह कर घृणा करते हैं उसे कोई सुन्दरी कह दे तो वह उस पर न्यौछावर हो जाती है. कुब्जा का कृष्ण के प्रति आकर्षित होने का यही कारण था.

सभी लोग सुंदर नारियों से प्रेम करते हैं. कृष्ण भी ब्रज में यही करते रहे. मथुरा में कोई सुंदरी नहीं मिली तो कुबड़ी से ही प्रेम कर लिया और बाद में उसे सुंदरी बनाने की सोची. कृष्ण साक्षात् ईश्वर थे, सभी कुछ कर सकते थे. फिर अपनी प्रेयसी को सुंदरी बनाने में उन्हें क्या अड़चन थी :

प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवकां रुचिराननाम्,

ऋग्वी कर्तुं ननश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम् । 6 ।

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्वयं गुल्युत्तान पाणिना, प्रगृह्य चिबुकं श्रद्धात्ममुददीनमदच्युतः । 7 ।

सौमित्रं संपन्नं गौर्धराय पयोधर, मुकुंदस्पशनात् सद्यो ब्रभूव प्रमदोत्तमा । 8 ।

ततो रूपगुणौदार्य संपन्ना प्राह केशवम्, उत्तरीयांतमाकृष्य स्मर्यंती जात हृच्छया । 9 ।
एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे, त्वयोन्मथित चितायाः प्रसीद पुरुषर्षभ । 10 ।

एवं स्त्रियायाच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः,
मुखं वीक्ष्यानुगानां च प्रहसंतामुवाच ह । 11 ।
एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः प्रंसामाधिविकर्शनम्,
साधितार्थोऽगृहाणां नः पांथानां त्वं परायणम् । 12 ।

(भागवत, स्कंद 10, अध्याय 42)

(भगवान् कृष्ण ने प्रसन्न हो कर उस तीन जगह से टेढ़ी सुमुखी कुब्जा को सीधी करने का विचार किया. वह उसे अपने दर्शन का फल भी दिखाना चाहते थे. कृष्ण ने अपने दोनों पैरों से कुब्जा के पैरों के अग्रभाग (पंजों) को दबा लिया और उठे हुए हाथ की दो ऊंगलियों से ठोड़ी पकड़ कर उसे उचका दिया. इतने से ही वह सीधे और समान शरीर वाली बन गई. उस के नितंब और स्तन विशाल हो गए. कृष्ण के छूते ही वह नारियों में श्रेष्ठ बन गई. रूप, गुण और उदारता से युक्त वह कुब्जा तब कृष्ण के प्रति कामासक्त होती हुई उन के दुपट्टे का सिरा खींच कर बोली, "हे वीर! आओ, हम लोग घर चलें. मैं तुम्हें छोड़ना नहीं चाहती. तुम ने मेरा मन मथ डाला है. हे पुरुष श्रेष्ठ, आप प्रसन्न हों." बड़े भाई बलराम के सामने ही नारी ने कृष्ण से (काम) याचना की. कृष्ण ने नौकरों का मुख देख कर हंसते हुए कुब्जा को उत्तर दिया, "हे सुंदर भौंहों वाली, मैं तुम्हारे घर आऊंगा. तुम्हारा घर मनुष्यों का मानसिक कष्ट मिटाने वाला है. मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूंगा. हम बेघर

पथिकों का तो तुम्हीं सहारा हो।")

राज मर्त्य-पराक्रमाने कुब्जा को पकड़ कर सीधा कर दिया। दासी कुब्जा को क्या संकोच लगता? और कृष्ण तो औरतों के मामले में संकोच करना सीखे ही नहीं थे। किसी कुबड़ी औरत को ठीक करने का कितना सरल उपाय है! अपने दोनों पैरों से उस के पंजे दबाइए और दो उंगलियों से ठोड़ी को थोड़ा उचका दीजिए। बस कुबड़ गायब हो जाएगा। या तो लोग भागवत ठीक से पढ़तेसुनते नहीं अथवा उन्हें भागवत पर श्रद्धा ही नहीं है। अन्यथा भारत में किसी को कुबड़ा न रहना चाहिए।

अभयार्थित प्रस्ताव

बड़े भाई और नौकरों के सामने ही कुब्जा ने कृष्ण से अपने घर चलने का प्रस्ताव किया और कृष्ण ने उसे स्वीकार करते हुए उस के घर आने का आश्वासन दिया। इस निर्लेज्जता पर आप को आश्चर्य हो सकता है। पर हमें तो इस बात का आश्चर्य है कि कृष्ण उसी समय कुब्जा के साथ क्यों नहीं गए? बलराम और नौकर थोड़ी देर प्रतीक्षा कर लेते। कृष्ण ने कुब्जा का घर 'पुरुषों का आधिविकर्षण' बताया। इसे चालू भाषा में दिल बहलाने या गम-गलत करने का स्थान कह सकते हैं। तो क्या कुब्जा वैश्या थी? क्या कृष्ण जैसे बेघरवार मुसाफिरों को उसी के घर का सहारा था?

कंस वध के पश्चात् कृष्ण को कुब्जा का ध्यान आया:

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वार्त्ता सर्वदर्शनः
सैरंध्रयः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं
ययौ । 1 ।

महार्होपस्करंराढ्यं कामोपायोपबृंहितम्,
मुक्तादाम पताकाभिचितान् शयनासनैः
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्धरैरपिमुंडितम्। 2।
गृहं तमायांतमवेक्ष्य साऽऽसनात् सखः समु-
त्थाय हि जात सम्भ्रमा,

तथोपसंगम्य सखीभिरच्युतं सभाजयामास

सखीभिरच्युतं । 3 ।

तथोद्धवः साधु तथाभिपूजितो न्यषीददु-
र्व्यामभिमृश्य चासनम्,
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं विवेश
लोकाचरितान्यनुव्रतः । 4 ।

सा मज्जनालेपदुकूलभूषणस्त्रगंधतांबूल-
सुधासवादिभिः,
प्रसाधितात्मोपससार भाधवं सस्त्रीडलीलो-
त्स्मितविभ्रमेक्षितैः । 5 ।

आहूय कांतां नवसंगमेह्लिया विशंकितान्
कंकणभूषिते करे,
प्रगूह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमे
नुलेपार्पणपुण्य लेशया । 6 ।

सानंग तप्तकुचयोरुरस्तथाक्षणोजिघ्रन्त्य-
नन्त चरणेन रजो भूजन्ती,
दोभ्यां स्तनान्तरगतं परिरम्य कांतमानंद-
मूर्तिमज्जहादति दीर्घतापम् । 7 ।

सर्वं कैवल्य नाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्,
अंगरागापर्पणेनाहो दूर्भगेदमयाचतं । 8 ।
अथोण्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्
मया,

रमस्व नोत्सहे त्युक्तुं संगं तेऽम्बुरुहेक्षण । 9।
तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः,
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधममागमद-
चितम् । 10 ।

(भागवत, स्कंद, 10, अध्याय 48)

सर्वदर्शन, सर्वार्त्ता भगवान् कृष्ण कामतप्ता सैरंध्रयी (कुब्जा दासी) के विषय में जान कर उस का प्रिय करने की इच्छा से उस के घर गए। उस कुब्जा का घर बहुमूल्य सामान से सजा था, कामोद्दीपक उपायों से युक्त था। उस में मोती की मालाएं, झंडे, तंबू और सोने के पंलग उपस्थित थे। वह सुगंधित धूप, दीप, माला और सुगंधित वस्तुओं से सुशोभित था। कृष्ण को घर आया देख कर कुब्जा संभ्रम शीघ्रता से उठ बैठी। सखियों के साथ कृष्ण की अगवाानी की और सुंदर आसन आदि से उन का स्वागत किया। कुब्जा ने उद्धव की भी ठीक से पूजा की। वह आसन ले कर धरती पर बैठ गए।

कृष्ण भी सांसारिक आचरण का अनुगमन करते हुए मूढवान अज्ञानमग्न हो गये। वे भी कंस के आदेशानुसार घुस गए। कुब्जा ने स्नान, विलेपन, वस्त्र, भूषण, माला, सुगंध, तांबूल, मदिरा आदि से अपना शृंगार किया था। वह लज्जा, लीला, विभ्रम, स्मित युक्त नयनों से देखती हुई कृष्ण के समीप पहुंची। कृष्ण ने नव संगम की लज्जा से शक्ति प्रिया (कुब्जा) को बुलाया और उस का कंकण शोभित हाथ पकड़ कर उसे चारपाई पर बैठा लिया। अनुलेप (चंदन) अर्पण कर के थोड़ा सा पुण्य कमाने वाली कुब्जा के साथ कृष्ण ने रमण किया। कुब्जा ने अपने कामतप्त कुचों पर, हृदय पर तथा आंखों पर कृष्ण के पैर रखे तथा उन्हें सूंघ कर अपना (काम) रोग शांत किया। कुब्जा ने आनंद मूर्ति को हाथों से लपेट कर दोनों स्तनों के बीच में आलिंगन कर के चिर संचित दुख दूर कर लिया। इस प्रकार उस ने केवल अंगराग अर्पण कर के मोक्ष के उस स्वामी, प्राप्त होने में कठिन कृष्ण को पा लिया। वह अभागिनी इस प्रकार याचना करने लगी, "हे प्रिय! कुछ दिन मेरे साथ निवास कीजिए तथा रमण करिए, हे कमलनयन! मैं आप का साथ नहीं छोड़ना चाहती।" सब का सम्मान करने वाले कृष्ण ने कुब्जा को अभीष्ट वर दिया (वहां कुछ दिन रहने और रमण करने की बात मान ली।) और उस का सम्मान किया। फिर कृष्ण उद्भव सहित अपने घर चले आए।

उद्भव बेचारे सीधेसादे ज्ञानी आदमी। वे क्या जाने कि कृष्ण कुब्जा के यहां किस लिए आए हैं? उन का स्वागत हो गया, इसी से उन्होंने समझ लिया कि घर किसी भले आदमी का है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि कुब्जा के ठाट किसी रानी से कम नहीं थे। उस का अपना ठाठदार सुशोभित महल था। बहुत सी सखियां थीं।

अतः स्पष्ट है कुब्जा या तो वेश्या थी जिस के पास लोग अपने मन का दुख भुलाने जाते थे, या कृष्ण ने योगमाया

से कह कर उस का महल बनवा दिया होगा। या फिर कंस के राज्य में दासियों तक के ऐसे ठाट होंगे!

कुब्जा इस जन्म में वेश्या रही हो या न रही हो, पर पूर्व जन्म में अवश्य पिंगला नाम की वेश्या थी। कृष्ण राम के रूप में एक पत्नीव्रत की विवशता के कारण उस की इच्छा पूर्ण नहीं कर पाए थे:

एकदा पिंगला नाम्नी वेश्या रात्रौ विनिद्रितम्,

सीतया दिव्य पर्यंके ययौ सा राघवं रहः। 48।

विहाय नूपुरादीनि स्वनवंति पदैः शनैः, इतस्ततो निरीक्षन्ती दिव्य वस्त्रादि भूषिता। 49।

सीताभयात् प्रकंपन्ती कामवाण प्रमीडिता, मंडिता पुष्पमालाद्यैर्भूषणैरति शोभिता। 50।

अज्ञाता द्वारपालैः सा निद्रितैर्मंचकं ययौ, स्वकरेण पदस्पर्शं कृत्वा रामं प्रबोधयत्। 51।

तदा प्रबुद्धः श्रीरामस्तां ददशं पुरः स्थिताम्,

सा धृत्वा तत्पदे गाढं प्रार्थयामास राघवम्। 52।

रामराजीवपद्माक्ष! भयातेऽद्यापराधितम्, त्वं क्षमस्व कृपां कृत्वा मयि चानुगृहं कुरु। 53।

तत्तस्या वचनं श्रुत्वा ज्ञात्वा काम प्रपीडिताम्,

तां समाश्वासितुं प्राह राघवः कंजलोचनाम्। 54।

एक पत्नी व्रतमेऽस्मिन् भवेत्वं वेत्ति पिंगले,

अतस्त्वत्कामं पूत्यर्थं वदामि तच्छृणुष्व हि। 55।

यदाहं मथुरामग्रे ब्रजाच्छ्री कृष्णरूपधृक्, यास्यामि मातुलं कंसं हत्वा स्थास्यामि तत्पुरीम्। 56।

तदा भजिष्यसि त्वं मां कुब्जा रूपेण

पिंगले,

गच्छ दासीस्वरूपेण तिष्ठ त्वं कंस वेद-
मनि 157।

आयुः क्षये त्विमं देहं विसृज्य बहुभुक्तकम्,
इत्युक्तवा पिंगलां रामो ददावाज्ञां भयात्
स्त्रियः 158।

तच्छ्रुत्वा जानकी रुद्धा त्यक्त्वा पर्यंक-
मुत्तमम्,
राघवं प्राह सक्रोधा कथं नाहं प्रबो-
धिता 160।

तदैवाद्य मया ज्ञातमेकपत्नीव्रतं मया,
भुक्त्वासादौ पिंगलां तूष्णीम् त्वयाहं बोधिता
ततः 161।

सीतोवाच तदा वेश्यां यस्मान्मेऽपरा-
धितम्
भविष्यसि त्रिवक्त्रा त्वं मथुरायां हि
कुत्सिता 197।

वेश्यया प्रार्थिता प्राह कृष्णस्त्वामुद-
रिष्यति 198।

(आनन्द रामायण, विलास कांड, अध्याय 8)

राम पर लांछन

(एक बार रात में पिंगला नाम की वेश्या सीता के साथ सुंदर पलंग पर एकांत में सोए राम के समीप गई। उस ने शब्द करने वाले नुपूर आदि गहने उतार डाले और धीरेधीरे पंर रखती हुई गई। वह सुंदर कपड़ों से सुभोशित थी और इधरउधर देखती जाती थी। वह सीता के भय से कांप रही थी और काम के बाण से दुखी थी। वह पुष्पमाला आदि से सुशोभित थी और गहनों से बहुत सजी थी। सोए हुए द्वारपालों को पता नहीं चला और वह पलंग के पास पहुँच गई। उस ने अपने हाथ से मँर छू कर राम को जगाया।

जागने पर राम ने उसे अपने सामने खड़े देखा। पिंगला ने जोर से राम के दोनों पंर पकड़ लिए और प्रार्थना करने लगी, “हे कमलनयन राम! मैं ने आज तुम्हारे प्रति अपराध किया है। तुम कृपा

कर के मुझे क्षमा करो और मुझ पर अनुग्रह करो. (मेरी वासना शांत करो).”

राम ने उस की बात सुनी और उसे कामपीड़ित जान लिया। राम उस कमलनयनी को समझाने के लिए बोले, “हे पिंगला! तुम तो जानती ही हो कि इस जन्म में मेरा एक पत्नीव्रत है। इसलिए तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए एक बात कहता हूँ। उसे सुनो। जब मैं अगले जन्म में श्री कृष्ण का रूप धारण कर के ब्रज से मथुरा आऊंगा और मामा कंस को मार कर उस नगरी में ठहरूंगा, हे पिंगला! तब तुम कुब्जा के रूप में मुझे प्राप्त करोगी। तुम जाओ और कंस के घर दासी के रूप में रहो। अवस्था समाप्त होने पर बहुत से लोगों द्वारा भोगे हुए इस शरीर को छोड़ देना।” ऐसा कह कर राम ने सीता के भय से पिंगला को जाने की आज्ञा दे दी।

इतने में ही जानकीजी उठ बैठीं। यह बात सुन कर जानकी बड़ी क्रुद्ध हुई और पलंग छोड़ कर अलग हो गईं। वह राम से नाराज हो कर बोलीं, “तुम ने मुझे पहले ही क्यों नहीं जगाया? मुझे आज पता चला कि तुम्हारा एक पत्नीव्रत झूठा है। तुम ने पहले चुपचाप पिंगला को भोगा है और बाद में मुझे जगाया है।” इस के बाद सीता वेश्या से बोली, “चूँकि आज तुम ने मेरे प्रति अपराध किया है। इसलिए तुम मथुरा में तीन जगह से देवी गंदी दासी बनोगी।” जब वेश्या ने प्रार्थना की तो सीता ने बाद में कह दिया कि कृष्ण तुम्हारा उद्धार करेंगे।

उक्त प्रसंग को पढ़ कर लेखक की बुद्धि पर तरस आता है। उस ने पाठकों को निरा बुद्ध समझ रखा था। भवत लोग धर्म के सहारे चाहे इस प्रसंग को पचा जाएं, पर प्रबुद्ध व्यक्ति इस पर कभी विश्वास नहीं करेगा। इस घटना का उद्देश्य केवल कृष्ण और कुब्जा का यौन संबंध नैतिक सिद्ध करना है। इस श्लोक में उस ने राम पर कितना बड़ा लांछन

सना दिया, इस का उसे ध्यान भी नहीं
रहा होगा. CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पिंगला यदि राम के प्रति आकृष्ट
थी तो राम के शयन कक्ष में जाने की
सूखता करने की क्या आवश्यकता थी?
वेश्या तो स्वतंत्र होती है. राम से कभी
भी अकेले में मिलती या उन तक संदेश
भिजवा देती. अच्छे पहरेदार थे राम के
महल पर जो नींद में मस्त रहते थे और
लोग बेखटके अंदर चले जाते थे! राम
ने पिंगला की बात सुन कर किस
भासमियत से विवशता प्रकट की. क्या
वह वेश्यागमन को निंदनीय बता कर
उसे फटकार नहीं सकते थे? अगले जन्म
में उस की इच्छापूर्ति की बात तो उसी
प्रकार की है जैसे कोई शराब का निमं-
ज्जण पा कर कहे, “भाई, आज तो एकादशी
है. तुम तो जानते ही हो, मैं एकादशी को
शराब छूता तक नहीं. हां कल देखा
जाएगा.” सीता को भी राम का विश्वास
नहीं था. क्या राम की शक्ति होने पर
भी उन्हें वास्तविकता का पता नहीं था?
यदि ऐसी बात थी तो उन को अवतार
खताना मिथ्या है. यदि राम को वेश्या-
गमन का शौक होता तो वह पिंगला को
सीता वाले कमरे में ही क्यों बुलाते? इस
का विचार किए बिना ही सीता शाप दे
जेंठीं. यदि सीता ने यह सोच कर शाप
दिया था कि राम पिंगला से संभोग कर
चुके हैं तो उन्हें राम को भी शाप देना
चाहिए था.

रति वर्णन

कृष्ण की आराधना करने वाले वंणव
धर्म के दूसरे पुराण ब्रह्मवैवर्त में कुब्जा
को पूर्वजन्म में रावण की बहन शूर्पखणा
माना गया है. वह उस जन्म में राम को
प्राप्त नहीं कर सकी थी. ब्रह्मवैवर्त पुराण
में कृष्ण और कुब्जा के संभोग का भी
थोड़ा विस्तृत वर्णन है:
निद्रां च लेने सा कुब्जा निद्रेशोऽपि ययौ

मुवा 1531

वैश्यागमन, कृष्णो न दासीश्चापि

निद्रिता,
तामुवाच जगन्नाथो जगन्नाथप्रियां
सतीम् 1551

त्यज निद्रां महाभागे! शृंगारं देहि
सुंदरि,

पुरा शूर्पणखा त्वं च भगिनी रावणस्य
च 1561

रामजन्मनि मद्धेतोस्त्वया कांते तपः
कृतम् 1571

अधुना सुखसंभोगं कृत्वा गच्छ समा-
लयम् 1581

इत्युक्त्वा श्रीनिवासश्च कृत्वा तामेव
वक्षसि,

नगनां चकार शृंगारं चुम्बनं चापि
कामुकीम् 1591

सा सस्मिता च श्रीकृष्णं नवसंगम लज्जिता,
चुचुम्ब गंडे क्रोडे तां चकार कमलां
यथा 1601

सुरते विरतिर्नास्ति दंपति रति पण्डितौ,
नाना प्रकारं सुरतं बभूव तत्र नारद 1611

स्तनश्रोणि युगं तस्या विक्षतं च चकारह,
भगवान् नखैस्तीक्ष्णैर्दशनैरधनं वरम् 1621

निशावसान समये वीर्याधारं चकार सः,
सुखसम्भोग भोगेन मूर्छामाप च सुंदरी 1631

तत्राजगाम तां तन्द्रा कृष्ण वक्षःस्थलस्थि-
ताम् 1641

भगवानपि तत्रैव क्षणं स्थित्वा स्वमंदिरम्,
जगाम एव नंदश्च सानंदो नंदनंदनः 1691

(ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय 72)

(कुब्जा (अपने घर में) सो गई-

श्रीकृष्ण आनंदपूर्वक वहां पहुंच गए. कृष्ण
ने उस कुब्जा को जगाया, उस की सोती
हुई दासियों को नहीं. विष्णु की प्रिया उस
साध्वी कुब्जा से कृष्ण बोले, “हे भाग्य-
शालिनी! नींद छोड़ दे. मुझे शृंगारदान
कर. पूर्वजन्म में तू रावण की बहन शूर्प-
णखा थी. हे प्रिये! जब मैंने रामजन्म
लिया था तो तू ने मेरे कारण तपस्या की
थी. अब सुखदायक संभोग कर के मेरे
धाम (मोक्ष) को जाओ.”

ऐसा कह कर कृष्ण ने उसे झुकी पर डाल लिया। उन्होंने कुब्जा को नंगा कर के संभोग किया तथा उस कामुकी का चुंबन किया। उस कुब्जा ने मुस्कराते हुए और नव संगम में लज्जित होते हुए कृष्ण का गाल चूमा और लक्ष्मी के समान उन्हें भुजाओं में भर लिया। कुब्जा तथा कृष्ण दोनों ही संभोग में कुशल थे। अतः उन का सुरत समाप्त नहीं हो रहा था। वहां अनेक प्रकार का सुरत हुआ। भगवान कृष्ण ने अपने तीखे नाखूनों से उस के दोनों स्तनों तथा दोनों नितंबों को घायल कर दिया एवं दांतों से सुंदर होंठों को काट लिया। उन्होंने रात्रि की समाप्ति पर कुब्जा में वीर्याधान किया। सुखदायक संभोग भोगने के कारण वह सुंदरी बेहोश हो गई और कृष्ण की छाती पर पड़ेपड़े ही उसे तंद्रा आ गई। भगवान कृष्ण भी वहां थोड़ी देर ठहर कर अपने घर आ गए, जहां नंद ठहरे हुए थे।)

व्यभिचार को प्रोत्साहन

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार भी कुब्जा साधारण नारी नहीं थी। उस के यहां बहुत सी दासियां थीं। राम को पाने के लिए शूर्पणखा ने जो तप किया था, उसे कौन नहीं जानता? नाक, कान कटवा लेना क्या साधारण तपस्या है और वह भी एक नारी के लिए? तपस्या का फल अवश्य मिलना चाहिए। यदि ईश्वर अपने भक्तों को तपस्या का फल न दे तो फिर तपस्या कौन करे? बिना लाभ का धंधा कम से कम सांसारिक लोग तो कर नहीं सकते। लेखक ने कुब्जा और कृष्ण के लिए 'वंपति' शब्द का प्रयोग किया है जो विचित्र लगता है। 'वंपति' शब्द पतिपत्नी के जोड़े के लिए आता है।

कुब्जा और कृष्ण के विवाह का किसी पुराण में उल्लेख नहीं है। नंद बाबा भी बड़ी गजब की नींद सोते थे कि कृष्ण कुब्जा का कोठा आबाद कर के रात के

अंत में घर पहुंचे और उन्हें पता तक नहीं चला। हो सकता है, कृष्ण ने योगमाया को आदेश दे कर उन्हें सुलाए रखा हो। साधारण मनुष्य की अपेक्षा ईश्वर को अधिक सुविधाएं होती हैं।

एक धार्मिक ग्रंथ कुब्जा को पूर्व जन्म की पिंगला वेष्ट्या मानता है और दूसरा शूर्पणखा। अपनीअपनी कल्पना और अपनाअपना अनुमान है। दोनों के मन में जो आया, वह कह मारा। उक्त मान्यताओं में तथ्य हो या नहीं, पर इतना स्पष्ट है कि कृष्ण और कुब्जा का प्रेम इन लेखकों को भी बुरा लगा था। साधारण जनता की श्रद्धा स्थिर करने के लिए इन्होंने इस संबंध को पूर्व जन्म के वादे का निभाना बताया। राम जो वादा कर चुके थे या एक पत्नीव्रत की विवशता के कारण राम जो काम नहीं कर पाए थे उसे पूरा करने के अतिरिक्त कृष्ण के पास चारा ही क्या था? वादा पूरा न करें, भक्त की इच्छा पूर्ण न करें या तपस्या का फल न दें तो ईश्वर का कौन विश्वास करे?

भक्त लोगों का समाधान कुब्जा के पूर्व जन्म की बात जान कर हो जाता होगा, पर थोड़ी बुद्धि रखने वाला भी इस पाखंड को ताड़ लेगा। इस सब का तात्पर्य कृष्ण कुब्जा प्रेमलीला को निर्दोष सिद्ध करना ही है, जिसे धार्मिक कथाओं में सुनाया जा सके।

कथाओं में स्त्रियों की संख्या अधिक रहती थी। इस के दो कारण हैं। एक तो नारियां स्वभाव से ही धर्मभोर होती हैं, दूसरे वेद पढ़नेसुनने की अनधिकारिणी होने के कारण पुराण उन्हीं के लिए बनाए गए थे। खुलेआम बारबार इस प्रकार की अनैतिक बातें सुनने वाला उन्हें बुरा नहीं मानेगा। जिन धर्मगुरुओं, पंडितों, साधुओं के प्रति नारियों में ईश्वर बुद्धि उत्पन्न हो जाए उन के यौन प्रस्ताव को वे बुरा समझ कर कभी नहीं ठुकराएंगी। पुराण लिखने, पढ़ने और सुनने वाले लोगों

को इस उद्देश्य में जारी किया गया है। श्रद्धापूर्वक अवस्था के धर्म के नाम पर होता आया व्यापक इतने अंतर को देखते हुए यह संबंध और भी गंभीर हो जाता है।

कृष्ण और कुब्जा का संबंध किसी प्रकार भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। श्रीमद्भागवत में कुब्जा को युवती बताया गया है, पर ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार कुब्जा वृद्धा थी:

त्वया कुब्जा च सुभक्ता वृद्धा क्षत्रिय-
मानिनी,
अपुत्रिणी चाधिकांगी मूलास्पृश्या च
प्राक्तनात्.

(कृष्ण जन्म खंड, उत्तरार्ध अध्याय 124)

(हे कृष्ण, तुम ने कुब्जा के साथ संभोग किया जो वृद्धा, स्वयं को क्षत्रिय मानने वाली, पुत्ररहित, अधिक अंग वाली मूला तथा पहले से ही अछूत थी.)

अस्पृश्या और क्षत्रियमानिनी में विरोधी नहीं है। क्षत्रियमानिनी का अर्थ है, जो क्षत्रिया न होने पर भी स्वयं को

श्रद्धापूर्वक अवस्था के इतने अंतर को देखते हुए यह संबंध और भी गंभीर हो जाता है।
वैसे कृष्ण का अपनी अवस्था से बड़ी नारियों से संभोग करना नई बात नहीं है। आनंद रामायण के अनुसार वह अपनी माता के समान अवस्था वाली नारियों को ब्रज में भोग चूके थे:
स तासां कामपूत्यर्थं निशिनिद्रा विवर्जितः
बंधुभ्यां गोपिका भुक्त्वा मातृ तुल्या
वयोधिकाः । (राज्य सर्ग 3)

(कृष्ण ने अपने साथियों सहित रात-रात भर जाग कर उमर में बड़ी और अपनी माता के समान गोपियों से संभोग किया.)

कुब्जाकृष्ण प्रेम के विषय में साधारण लोगों की सम्मति निम्न लोकगीत से मिल सकती है:

घर की नारी छोड़ि, कृष्ण, तोहि कुब्जा
मन भाई!



